

An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

SATRAACHEE

ISSN 2348-8425

सत्राची

A UGC-CARE Enlisted
Peer Reviewed Research Journal

वर्ष 10, अंक 37, नं. 1
अक्टूबर-दिसम्बर, 2022



संपादक
आनन्द बिहारी

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

ISSN : 2348-8425

सत्राजी

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 10, अंक 37, नं. 1, अक्टूबर-दिसम्बर, 2022

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

संपादक
आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक
आशुतोष पार्थेश्वर, सुचिता वर्मा,
प्रवीण कुमार यादव

सह-संपादक
अर्चना गुप्ता, जयप्रकाश सिंह,
हुशन आरा

संहायक संपादक
भावना मिश्रा

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल

अनीता राकेश, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, जे.पी.विश्वविद्यालय, छपरा।
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्राध्यापक, शांति निकेतन, प.बंगाल।
ब्रज बिहारी पांडेय, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी।
राजू रंजन प्रसाद, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास, मुजफ्फरपुर।
नीरा चौधुरी, प्राध्यापक, संगीत, पटना।
अरविन्द कुमार, एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत, पटना।



SATRAACHEE

Peer Reviewed and Refereed Research Journal

A UGC-CARE Enlisted Journal

मूल्य : ₹ 250

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक	: 4,000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 10,000 रुपए (संस्थागत)
आजीवन	: 10,000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 20,000 रुपए (संस्थागत)

बैंक खाते का विवरण :

SATRAACHEE FOUNDATION,
A/c No. 40034072172, IFSC : SBIN0006551,
State Bank of India, Boring Canal Rd.-Rajapool,
East Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अखिल भारतीय/अखिल भारतीय

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना

आवरण चित्र : अंतरिक्ष

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी

कला कुंज, दूसरा तल्ला

बाजार समिति रोड, बहादुरपुर, पटना, पिन : 800016

Website : <http://satraachee.org.in>

E-mail : satraachee@gmail.com

Mob. : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.)
: 9415256226 (Kamlesh Verma.)



SATRAACHEE

इस अंक में...

संपादकीय

05 :: लेखकीय वैविध्य का संरक्षण

कमलेश वर्मा

रपट

07 :: 'खत्री स्मृति सम्मान' 2022

वीरेन नंदा

आलेख

09 :: समय के सफरनामे से होता दस्तावेजीकरण

प्रमोद मीणा

19 :: जनपदीय भाषाएँ और मीडिया का बदलता रूप

जिन्दर सिंह मुण्डा

25 :: भोजपुरी और मातृभाषाओं के बारे में राहुल सांकृत्यायन के विचार

जितेन्द्र कुमार यादव

29 :: उदय प्रकाश की कहानियों में 'सत्ता' और 'सिस्टम' की संवेदनहीनता का यथार्थ

हरे राम सिंह

36 :: उदय प्रकाश की कहानियों में वृद्ध विमर्श

मृत्युंजय कोईरी

41 :: परसाई के व्यंग्य निबंध 'प्रेमचंद के फटे जूते' की समीक्षा

प्रवीन कुमार यादव

45 :: स्वयं प्रकाश के उपन्यासों में यथार्थ बोध की भावना

अमृता

52 :: शिव कुमार यादव की कहानियाँ : भारतीय समाज की समस्याओं का दस्तावेज़

ऋषि कुमार

62 :: केदारनाथ सिंह का काव्य संसार : एक पुनर्विचार

विकास कुमार यादव

71 :: बेटियों की दुनिया की शिनाख़्त : हिंदी कविता की नज़र से

शशि शर्मा

75 :: हिंदी दलित कविता : एक विचार

गाजुला राजू

81 :: आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उनका काव्य

मधूलिका तिवारी

86 :: नंदकिशोर नवल की आलोचना दृष्टि

सुशांत कुमार

91 :: स्त्री मुक्ति की चेतना और प्रेमचंद

सिंधु सुमन

99 :: दिव्या में स्त्री चेतना की अनुगूँज

जगमोहन सिंह

108 :: रंगमंचीय रूप संरचना का स्त्री पक्ष

अपर्णा वेणु

115 :: स्त्री अस्मिता

ज्योति वर्मा

अमृता

120 :: स्त्री की प्रगति में परिवार का योगदान : 'छूटे पन्नों की उड़ान' के संदर्भ में

अंजली

125 :: लघु पत्रिका 'उत्तरार्द्ध' में साहित्य विमर्श

सुरेश चन्द्र

विशेष प्रस्तुति

133 :: देवेन्द्र आर्य की कविताएँ

देवेन्द्र आर्य

पाठालोचन

144 :: 'शतरंज के खिलाड़ी' का हिंदी-उर्दू पाठ

आशुतोष पार्थेश्वर

शोधालेख

161 :: मार्क्सवादी इतिहास लेखन व सबाल्टर्न इतिहास लेखन : एक तुलनात्मक विश्लेषण

रीता सिंह

166 :: दीनदयाल उपाध्याय का 'एकात्म मानववाद' : एक पुनरावलोकन

रवीन्द्र कुमार वर्मा

171 :: आदिवासी संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन : एक विमर्श

धनंजय शर्मा

178 :: विवाह संस्कार के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण : संताल जनजाति	आशीष कुमार ठाकुर
181 :: आधुनिक जीवन-शैली एवं मोटापा	आशा
189 :: भारतीय भोज्य समूह एवं संतुलित आहार	वालेन्तिना प्रिया
194 :: आर्थिक विकास एवं हरित अर्थव्यवस्था का भारतीय समाज पर प्रभाव	कमलेश कुमार सिंह
200 :: औद्योगीकरण, नदियाँ एवं पेयजल : एक विश्लेषण	महेन्द्र यादव
	राजेश कुमार यादव
204 :: पंचायती राज व्यवस्था एवं ग्रामीण विकास	सर्वेश कुमार सिंह
207 :: लैंगिक भेदभाव को खत्म करने में अहम भूमिका निभा सकते हैं खेल	सौरभ सिंह
211 :: महिला अधिकार आंदोलन और महिलाओं की स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन	विजय लक्ष्मी यादव
पुस्तक समीक्षा	
219 :: हाशिफ के साहित्य का संग्रहणीय दस्तावेजी अंक	अरुण नारायण
222 :: मधुकर गंगाधर का समग्र मूल्यांकन	श्रीधर करुणानिधि



लेखकीय वैविध्य का संरक्षण

शोध-पत्रिका के रूप में 'सत्राची' का सम्पादन-संचालन धीरे-धीरे व्यस्तताओं को बढ़ा रहा है। आनेवाले लेखों की संख्या बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में लेखकों से अनुरोध है कि उन्हें धैर्य रखना चाहिए। आपके आए हुए लेखों को पढ़ने और व्यवस्थित करने में सम्पादकीय मंडल को समय की जरूरत होती है। 'सत्राची' कोई व्यावसायिक पत्रिका नहीं है। आपके सदस्यता शुल्क से इसका संचालन किया जाता है। हमारी स्थिति ऐसी नहीं है कि हम भुगतान करते हुए पत्रिका के संयोजन के लिए कोई सहयोगी रख सकें। संपादक-मंडल अवैतनिक रूप से काम करता रहा है। पत्रिका में आज तक कोई विज्ञापन नहीं छपा है। इसलिए हमारे पास आय का कोई अन्य स्रोत है भी नहीं!

'सत्राची' का दायरा मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान से जुड़ा है। हमारा प्रयास रहता है कि प्रत्येक अंक में साहित्य, समाज, इतिहास, अर्थशास्त्र तथा अन्य विषयों से जुड़े शोध-आलेख प्रकाशित हों। इसके कारण पत्रिका की विविधता बनी रहती है। ऐसी स्थिति में कुछ लेखकों को प्रकाशन के लिए थोड़ा इंतजार करना पड़ सकता है। सामान्य रूप से मानकर चलना चाहिए कि एक या दो अंकों के बाद आपके लेख को शामिल करने की स्थिति में हम होते हैं।

यह पद्धति भी अपनायी गयी है कि पत्रिका की मुद्रित प्रति लाने से पहले प्रत्येक लेखक को लेख की पी.डी.एफ. प्रति भेज दी जाए ताकि लेखक स्वयं देख सकें कि उनका लिखा हुआ त्रुटिरहित है।

इस 37 वें अंक में भी लेखों के वैविध्य को बरकार रखा गया है। अयोध्याप्रसाद खत्री सम्मान समारोह की रिपोर्टिंग के अलावा प्रमोद मीणा का सम्बंधित वक्तव्य प्रकाशित किया गया है। यह सम्मान अपनी विश्वसनीयता को लम्बे समय से बनाए हुए है। स्त्री, दलित और आदिवासी जीवन को ध्यान में रखकर लिखे गए लेखों की संख्या इस अंक में लगभग 10 है। आज की सामाजिक वैचारिकी के ये तीनों महत्वपूर्ण पक्ष हैं।

रामचंद्र शुक्ल की कविता पर और नंदकिशोर नवल की आलोचना पर शामिल लेखों को आप इस निगाह से पढ़ सकते हैं कि इन दोनों श्रेष्ठ आलोचकों पर विचार की जरूरत अभी बनी हुई है। अद्भुत कथाकार उदय प्रकाश पर दो लेख हैं। उदय प्रकाश को चमत्कारिक ढंग से ही प्रायः देखा गया है। उनकी कहानियों का संसार अभी भी आलोचना की दृष्टि से अधखुला ही कहा जाएगा। परसाई, केदारनाथ सिंह और स्वयं प्रकाश पर लेख क्रमशः व्यंग्य, कविता और उपन्यास

पर हैं।

सामाजिक विज्ञान के विषयों पर जो लेख शामिल किए गए हैं उनका सम्बन्ध इतिहास, पर्यावरण, गृह विज्ञान, समाजशास्त्र, शारीरिक शिक्षा, अर्थशास्त्र आदि विषयों से है। ये लेख मानविकी और सामाजिक विज्ञान के दायरे से इस अंक को समृद्ध कर रहे हैं।

प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' के हिन्दी-उर्दू पाठ-भेद पर एक बार फिर आशुतोष पार्थेश्वर अपने प्रामाणिक काम के साथ उपस्थित हैं। इसके पहले के अंकों में भी पाठ-भेद पर पार्थेश्वर जी के कई लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

'सत्राची' के कुछ अंकों में विशेष प्रस्तुति के रूप में किसी एक कवि की कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। इस बार गोरखपुर-निवासी श्री देवेन्द्र आर्य की कुछ कविताएँ 'मौत सहोदर' शीर्षक से प्रकाशित की गयी हैं। इन कविताओं की विशिष्टता पर मेरी तरफ से एक संक्षिप्त टिप्पणी भी लगायी गयी है। अगले अंक में विवेक निराला के उद्धव-सीरीज के 21 पद सम्पादकीय टिप्पणी के साथ प्रकाशित किए जाएँगे। हमारी कोशिश है कि हिन्दी कविता में अपने ढंग के हो रहे प्रयोगों को टिप्पणी-सहित प्रकाशित किया जाए।

सादर

कमलेश वर्मा

‘खत्री स्मृति सम्मान’ 2022

13 नवंबर, मुजफ्फरपुर के एक सभागार में कहानीकार, लेखक और फिल्मकार सुरेन्द्र मनन को 13वाँ अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति-सम्मान उनकी किताब “अहमद अल - हलो, कहां हो?”, “हो-चि का कु-चि” और ‘हिल्लोल’ के लिए प्रदान किया गया। उन्हें शाल, प्रशस्ति-पत्र के साथ स्मृति-चिन्ह और ग्यारह हजार एक सौ ग्यारह रुपए की राशि प्रदान की गई। प्रशस्ति-पत्र का पाठ पटना से आए ‘सत्राची’ पत्रिका के संपादक आनंद बिहारी ने किया।

कार्यक्रम का आरंभ उनकी महत्वपूर्ण और चर्चित फिल्म ‘काली बेई’(द ब्लैक रिवर) के प्रदर्शन से हुआ। मुख्य वक्ता के रूप में कहानीकार और ‘मगध’ पत्रिका के संपादक प्रेमकुमार मणि ने वक्तव्य देते कहा कि हम आजादी की 75वीं सालगिरह मना रहे हैं, लेकिन बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि रॉयल इंडियन नेवी में 1946 में कैसी बगावत हुई थी और उसका हमारी आजादी से क्या रिश्ता था। यह बात सुरेन्द्र मनन ने अपनी किताब ‘हिल्लोल’ के माध्यम से हमारे सामने रखा, जो इतिहास के पन्नों से गायब है। प्रचलित



अर्थ में यह किताब न कहानी है, न उपन्यास। इतिहास भी नहीं कह सकते किन्तु यह एक इतिहास भी है और औपन्यासिक वितान पर रची गई कथा-शृंखला भी; जो हमें पढ़ने के बाद बेचैन और सोचने को विवश करती है। इतिहास के पन्नों से गायब और सेना के रिकॉर्ड से मिटा दिए गए इन विस्मृत नायकों को सुरेन्द्र मनन ने खोज निकाला और इस खोज की जो प्रक्रिया है वह इतिहास और साहित्य की हैरान कर देने वाली जुगलबंदी है। नाविक विद्रोह के मुख्य नायक बी. सी. दत्त उर्फ बिलाई मास्टर को ढूंढने में सुरेन्द्र मनन को जो झेलना पड़ा, वह लोक कथाओं के जादुई चमत्कार जैसी है।

19 से 23 फरवरी तक कुल 5 रोज चले इस विद्रोह ने वह किया, जो 1857 के विद्रोह ने नहीं किया। विद्रोह तो दबा दिया गया लेकिन 26 फरवरी को ही ब्रिटिश प्रधानमंत्री को आजादी का बंदोबस्त करने हेतु कैबिनेट मिशन भेजने की घोषणा करनी पड़ी। उसी विद्रोह पर सुरेन्द्र मनन की यह दिलचस्प और शोधपरक पुस्तक हमें इतिहास के अनछुए और ओझल रहे परिदृश्यों से रूबरू कराती है। बी.सी. दत्त, मिस्टर रेड्डी, एडमिरल चैटर्जी से लेकर अभिनेता ए.के. हंगल और कम्युनिस्ट नेता फारुकी जैसे चश्मदीदों की मुलाकातें और उनके

रहस्योद्घाटन इस किताब को मूल्यवान बनाते हैं।

दूसरी और तीसरी किताब 'अहमद अल- हलो, कहाँ हो ?' और 'हो-चि का कु-चि' संस्मरणों और यात्रा अनुभवों की बेजोड़ दास्ताँ हैं जिसे पढ़ने के लिए साहस और समझने के लिए थोड़ा इत्मीनान चाहिए। यह निर्मल वर्मा की 'चीड़ों पर चांदनी' नहीं, जो हमें इंद्रधनुषी सौंदर्यबोध में डुबोये, बल्कि यह दुनिया में हो रही नाइंसाफियों को उद्घाटित करती हमें झकझोरती है। अहमद अल हलो एक फिलिस्तीनी शरणार्थी है जो दलालों के जरिए भारत पहुँच जाता है और छुप कर रहता है। इस तरह का निर्वासित जीवन जीने वाले न नागरिक होते हैं, न जीवन जी पाते हैं, न उन्हें रोजगार ही मिल पाता है। ये अवैध संतान की तरह अवैध नागरिक होते हैं, जिन्हें हर समय पुलिस तंग करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के दफ्तर के सामने लगातार अपनी फरियाद करने वाले इस व्यक्ति से लेखक का परिचय है। एक रोज उन्हें खबर मिलती है कि अहमद अल हलो मर गया। लेखक की वाणी है- "मैं एकटक कब्र को देखता रहा। मिट्टी के नीचे दबा मुझे वह बेचैन, बेसब्र अहमद दिखाई दे रहा था, जो किसी भी सूरत में जल्द-से-जल्द अपने वतन लौटना चाहता था। वह इतनी जल्दी में था कि अपने शरीर को भी साथ न ले जा पाया।

सम्मानित लेखक सुरेन्द्र मनन ने कहा कि वे अपने लेखन के खुद आलोचक हैं। 84 के दंगों के समय दिल्ली में था और उस दंगे में जो खून-खराबा हुआ, उसे देख मुझे भाईचारे शब्द का खोखलापन समझ में आया। उसके बाद शब्द की ताकत से मोहभंग हुआ और अभिव्यक्ति की सशक्त माध्यम तलाश करता फिल्म विधा की ओर मुड़ा। 84 के दंगों पर वृत्तचित्र बनाई और फिर विदेश यात्राओं से जो अनुभव का विपुल भंडार मिला उसी की परिधि में लेखन की पुनः शुरुआत की। सुरेन्द्र मनन ने कहा कि उनकी ये किताबें न कहानी है, न संस्मरण, और न ही आत्मकथा। यह तीनों का मिलाजुला रूप है। 'हिल्लोल' डेढ़ वर्ष की खोजी यात्रा का परिणाम है। 1946 के नौसेना विद्रोह की चर्चा आजादी आंदोलन के इतिहास में कहीं नहीं मिलती। यह उसी खोज पर आधारित है। 'अहमद अल हलो, कहाँ हो ?' दुनिया के शरणार्थियों की करुण गाथा है तो 'हो-चि का कु-चि' अमरीकी फौज से वर्षों युद्ध कर उसे धूल चटाने वाली साहसिक वियतनामी जनता की वीरता और अपनी मातृभूमि के प्रति भक्ति की गाथा है।

अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में प्रो. वीर भारत तलवार ने कहा कि सुरेन्द्र मनन के संबोधन के बाद अब इस पर कुछ कहने को शेष नहीं रह गया है। लेखक ने हिन्दी कथा साहित्य की परिधि से बाहर निकलकर एक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य स्थापित किया है। उनकी ये तीनों किताब मनुष्यता पर सवाल खड़ा करती है। अल्पसंख्यक, फिलिस्तीन, ईसाई, आर्मेनियाई पर जो अत्याचार हो रहे हैं, वो शर्मनाक है।

कार्यक्रम का संचालन अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति-समिति के संयोजक वीरेन नंदा एवं धन्यवाद ज्ञापन कामेश्वर प्रसाद ने किया। समारोह में साहित्य, कला, नाटक और भिन्न क्षेत्र के लोगों की उपस्थिति रही, जिनमें ब्रह्मानंद ठाकुर, अरविंद कुमार डे, डॉ. इबेशात दाऊदी, अल्लमस दाऊदी, कमर आलम खां, संजय पंकज, पूनम सिंह, पुष्पा गुप्ता, अजय कुमार, शैल केजड़ीवाल, डॉ. अरविंद कुमार, नदीम खान, चितरंजन कुमार, कुमार राहुल, कुमारी अनु, शिवरानी, मंजू साहू, स्वाधीन दास, कुंदन कुमार, मुकेश कुमार, ब्रजमोहन, डी.के.नंदा, सुनील कुमार इत्यादि नाम प्रमुख हैं। □

- वीरेन नंदा, संयोजक, अ.प्र. खत्री स्मृति समिति, मुजफ्फरपुर, बिहार

समय के सफरनामे से होता दस्तावेजीकरण

○ प्रमोद मीणा

[13 नवंबर, 2022 को मुजफ्फरपुर, बिहार में आयोजित 'खत्री स्मृति सम्मान समारोह' में इस आलेख के कुछ अंशों का वाचन किया गया।]

सुरेंद्र मनन बहुमुखी प्रतिभा के धनी कलाकार-लेखक हैं। उनकी प्रतिभा किसी एक अभिव्यक्ति माध्यम तक सीमित नहीं है। एक ओर मानवाधिकारों और पर्यावरण विषयक मुद्दों पर वे दस्तावेजी सिनेमा बनाने के कारण वैश्विक स्तर पर सम्मानित हैं, तो वहीं फिल्मों के निर्माण के दौरान प्राप्त विविध अनुभवों और महत्वपूर्ण तथ्यों को सम्प्रेषित करने की उनकी रचनात्मक भूख उन्हें कलम उठाने के लिए भी समय-समय पर विवश करती रहती है और इसी का परिणाम है कि एक संवेदनशील लेखक के रूप में भी आप जाना-पहचाना नाम हैं। जिस तरह आप के अंदर का सृजक किसी एक माध्यम की सीमा में नहीं बंधा हुआ है, वैसे ही लेखक के रूप में आपकी लेखनी किसी विधा विशेष के अनुशासन से आबद्ध नहीं रहती। अपने कथ्य और संवेदना के अनुसार आपकी कलम बड़ी सहजता से एक विधा से दूसरी विधा में कुलांचे भरती रहती है और बहुधा विधाओं का फ्यूजन भी आपके यहाँ हो जाता है।

'कैद में किताब' आपकी कहानियों का संकलन है। इस संकलन का नामकरण इसी शीर्षक वाली एक कहानी पर हुआ है। यह कहानी हमारे समय के एक बड़े ही महत्वपूर्ण मसले को उठाती है। कहने को हमारे यहाँ लोकतंत्र है किंतु व्यवस्था द्वारा जिस तरह आज हर असहमति को राष्ट्रद्रोह के नाम पर कुचला जा रहा है और असहमति के स्वरो को दंडित किया जा रहा है, उसने इस लोकतंत्र की बुनियाद को ही हिलाकर रख दिया है। असहमति के खतरों और मिस्टेकन आइडेंटिटी के नाम पर अर्थ का अनर्थ लगाए जाने के भय ने एक किस्म की संवादहीनता की स्थिति पैदा कर दी है। यह कहानी इन्हीं स्थितियों के इर्द-गिर्द केंद्रित है। कहानी दिखाती है कि संवादहीनता और अभिव्यक्ति का अभाव व्यक्ति को आत्मालाप की ओर ले जाने वाला होता है। आत्मभिव्यक्ति के अभाव में अंदर ही अंदर घुटते व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के लिए पुस्तक संस्कृति को, कला को बचाए रखना कितना जरूरी है, इसका संकेत कहानीकार कर देता है। कहानीकार व्यक्ति को ऐसी किताब के रूप में देखता है जो अपने पढ़े जाने को लेकर प्रतीक्षारत है।

कहानी में लेखन विषयक कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं पर भी प्रकारांतर में विचार किया गया है, जैसे प्रथम पुरुष और अन्य पुरुष में कहानी कहने के नफे-नुकसान पर विचार करना। व्यवस्था द्वारा संज्ञा विहीन किए जाते व्यक्ति की व्यथा को भी कहानी उठाती है और इस संदर्भ में कथ्य और शिल्प के अंतर्संबंध को भी रेखांकित किया जाता है। चूँकि व्यवस्था व्यक्ति की पहचान मिटाकर उसे संख्या में तब्दील करने पर आमादा है अतः

लेखक भी कहानी में पात्रों के नामों और व्यक्तिगत विवरणों में न पड़कर उन्हें संख्याओं से संबोधित करने पर बल देता है। यह स्थिति इस निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि पात्र विशेष से ज्यादा परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण होती हैं।

बलात्कार जिस समय की संस्कृति बन चुका हो और बलात्कारियों का सार्वजनिक अभिनंदन जहाँ किया जाता हो, जहाँ बलात्कार के बाद पुलिस थानों, अस्पतालों और अदालतों में बलात्कृता को बलात्कार के उन्हीं अमानवीय क्षणों से बारंबार गुजरना पड़ता हो, उस समाज को अपराधबोध का अनुभव कराने के लिए जरूरी है कि बलात्कार को कला-साहित्य का विषय बनाया जाए और स्त्री की नजर से इस अपराध के विविध आयामों को सामने लाया जाए। इस संकलन में 'काया-परकाया' कहानी के माध्यम से सुरेंद्र मनन दिखाते हैं कि बलात्कार के अपराध में जो पीड़िता है, उसे ही कदम-कदम पर निरपराध होने पर भी दंडित होना पड़ता है। स्कूल की उन्मुक्त खिलखिलाहट भरी जिंदगी उससे छिन जाती है। अपना स्कूल जाना बंद हो जाने से यह चुलबुली खिलखिलाती शरारती लड़की काया जिंदा लाश बन जाती है। बलात्कार के कारण ठहर गए गर्भ से वह मुक्त होना चाहती है किंतु पुलिस और अदालत के चक्रव्यूह में अपनी ही काया पर उसका नियंत्रण नहीं रह जाता। कानूनी दांवपेच में उलझकर अनचाहे गर्भ से छुटकारे का अधिकार भी काया को नहीं मिल पाता है। बलात्कार की शिकार लड़की के माँ-बाप को सामाजिक अपयश से जिस तरह गुजरना पड़ता है, वह समाज की पुंसवादी सड़न को सूचित करने वाला है। बलात्कार के मामलों के अंबार के नीचे महिला पुलिस अधिकारियों की संवेदना का सूख जाना और बलात्कार की शिकार बच्चियों का फाइलों में रूपांतरण कचोटने वाला है। पुंसवादी सामाजिक मान्यताओं के बोझ तले बिना अपराध ही अपराध बोध से गुजरने को विवश काया का अंततः अनचाहे बच्चे का बोझ उठाने से इनकार कर देना मातृत्व के महिमामंडन के कथित आदर्श को स्वीकारने से भी इनकार कर देना है। काया तो आत्महत्या की असफल कोशिश के बाद जमाने का सामना करने को तैयार हो जाती है किंतु पाठक पाता है कि जमाने में काया से नजरें मिलाने की हिम्मत नहीं है। कहानी का अंत चौंकाने वाला तो है किंतु काया द्वारा पेश इस अप्रत्याशित चुनौति से समाज बचकर भाग नहीं सकता।

व्यवस्था की उबाऊ और नीरस दुनिया कलाकार की सृजनात्मकता को कैसे खत्म करती जाती है, 'बाँसुरी' कहानी पाठक को इस अनुभव से दो-चार करने वाली है। यहाँ व्यवस्था का उबाऊपन, नीरसता और सफल होने की तिकड़मबाजी का धिनौनापन कीड़ों की शक्ल ले देह पर रेंगने लगता है। शुरू में यह धिनौनापन खटकता भी है किंतु भौतिक सुख-सुविधाओं और पदोन्नति की महत्वाकांक्षा में व्यवस्था का अंग बन चुका व्यक्ति इस सबको धीरे-धीरे सहजता में लेने लगता है। अंततः वह सृजनात्मक आनंद और उल्लास से दूर होता चला जाता है। दुनियावी नियमों में उलझा व्यक्ति अपने जीवन की सार्थकता पर कभी विचार नहीं कर पाता और जीवन भर इन दुनियावी उसूलों और अपेक्षाओं का बोझ ही ढोता रहता है। 'गठरी' शीर्षक कहानी इसी पर केंद्रित है।

शासन सत्ता का पर्याय बन चुके एक व्यक्ति विशेष की विविध छवियों का जो प्रसार 24 x 7 मीडिया चैनलों और तमाम प्रचार माध्यमों से किया जाता है और इन छवियों का व्यक्ति के स्वतंत्र व्यक्तित्व पर जो नकारात्मक असर पड़ता है, उसकी पड़ताल करती कहानी है - 'मुखौटे में मैं'। इन प्रचार माध्यमों के द्वारा व्यक्ति नागरिक की सोच पर तालाबंदी लगा दी जाती है। इस व्यक्ति नागरिक के चेतन-अवचेतन पर आज आतंक का साया साफ देखा जा सकता है कि वह कुछ और न सोचे। व्यवस्थित ढंग से कैसे उसे मानसिक असंतुलन में धकेला जाता है, यह कहानी में अनुभव किया जा सकता है। देह दंड समर्थित मीडिया की सॉफ्ट पॉवर का इस्तेमाल प्रत्यक्ष दृष्टव्य है। चारों ओर के परिवेश में व्याप्त सत्ता के दबाव के सामने नाक रगड़कर मन और परिवेश में संतुलन बैठाने को आज व्यक्ति बाध्य है ताकि इस एकीकरण से मानसिक तनाव और क्लेश से बचा जा सके किंतु कहानीकार दिखाता है कि अस्वीकृति के कीड़ों को निकालकर परिवेश से संगति बैठाने के क्रम

में व्यक्ति व्यक्तित्वहीन होता जाता है। कहानी इस क्रम में एक फैंटेसी की निर्मिति करती है जिसमें व्यक्ति की पहचान से जुड़े सारे चिह्न चेहरे से गायब हो जाते हैं और व्यक्ति चेहरा विहीन भीड़ का हिस्सा बनकर रह जाता है। कहानी के अंत में चेहराविहीन लोगों की भीड़ के चेहरों पर शासक के मुखौटे आरोपित करके उन्हें एक कृत्रिम पहचान दे दी जाती है किवां एक नकली पहचान उन पर थोप दी जाती है। इस प्रकार कहानीकार आज के समय की इस क्रूर सच्चाई पर से पर्दा उठाता है कि पहले प्रचार के माध्यम से व्यवस्था द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का अपहरण किया जाता है और फिर व्यक्ति को प्रचारतंत्र का ही हिस्सा बना दिया जाता है। व्यक्तित्वहीन कर दिया गया व्यक्ति इस कृत्रिम पहचान वाले मुखौटे को लगाकर मिथ्या संतुष्टि भी महसूस करते देखा जा सकता है।

‘ऑपरेशन ब्लैक बर्ड्स’ कहानी में सुरेंद्र मनन बंगलादेशी घुसपैठियों को राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर बोझ के रूप में न देखकर भूख और गरीबी के चश्मे से देखते हैं। वे सरहदों पर होने वाली घुसपैठ को कानून की नजर से जायज-नाजायज के खाँचों में रखकर नहीं देखते अपितु वे इन घुसपैठियों को वर्चित, तिरस्कृत, पददलित, जर्जर और पस्त इंसानों के रूप में देखने के पक्षधर हैं जिन्हें सरहदों के कभी इस तरफ तो कभी उस तरफ लतिया करके फेंक दिया जाता है।

बेशिनाख्त लड़कियों की लाशों में अपनी गुमशुदा बेटियों को तलाशते बापों की अनकही पीड़ा को बयां करती कहानी ‘लाश - बेशिनाख्त नंबर - 9’ लेखकीय संवेदनशीलता के एक और आयाम को हमारे सामने लाती है। पूँजीवाद और बाजार ने तंग-अंधेरे बंद कमरे से बाहर देखने की एक खिड़की आज की लड़की के सामने खोल दी है लेकिन बाहर की रंगीली दुनिया आज भी उसकी पहुँच से दूर है। उस दुनिया तक पहुँचने की मृगमरीचिका उसे घर से इतना दूर कर देती है कि फिर वह कई बार वापस नहीं लौट पाती। सामाजिक अपयश की तलवार का डर बूढ़े असहाय बाप को बेटी की गुमशुदा की रिपोर्ट तक पुलिस में नहीं करने देता।

‘पुल के आर-पार’ कहानी में लेखक हमारा साक्षात्कार उस रहस्यमयी मुस्कान से कराता है जो आधुनिक सभ्यता के छल-छद्म से दूर मेहनकश पहाड़ी लोगों के चेहरों पर सदैव बनी रहती है। शहरी लोगों की स्वार्थ संबंधों पर टिकी दुनिया के लिए इस मुस्कान का अबोधगम्य बने रहना एक अबूझ पहेली सदृश्य है। जो शहरी लोग बात-बात पर तयारियाँ और भृकुटियाँ चढ़ा लेते हैं, जिनकी आँखों से सदैव क्रूरता टपकती रहती है, नथुने फड़फड़ाते रहते हैं, दाँत किटकिटाते रहते हैं और जुबान जहर उगलती रहती है, वे इस मुस्कान के सामने अपने टुच्चेपन से नजर नहीं मिला पाते। इस कहानी में एक अच्छी बात यह है कि लेखक इस मुस्कान के पीछे की गरीबी और मजबूरी को कहीं नहीं छिपाता। वह बस अड्डे और शराब के ठेके के बीच के रास्ते को दूरी से न नापकर उस दुविधा और द्वंद्व की गहराई से नापता है, जिससे होकर बहुधा पहाड़ी व्यक्ति की श्रमशीलता और मुस्कान को गुजरना पड़ता है।

गरीबी और भूख किसी कलाकार की संवेदना को किस प्रकार रूप-आकार प्रदान करती है, किस प्रकार उसकी कला का स्वरूप तय करती है, यह दिखाती है कहानी ‘भूख’। घोर मुफलिसी में जी रहे चित्रकार की हर कलाकृति रोटी का रूपाकार ग्रहण कर लेती है। मानवीय संवेदना से दूर होती जा रही दुनिया को इसी कलाकार द्वारा आईना भी दिखा दिया जाता है। वह मानव देह के विविध अंगों के आकार की ब्रेड और केक बनाकर ग्राहकों के सामने बिक्री के लिए रख देता है। ‘शाम तक का सफर’ कहानी में लेखक दिखाता है कि जीवन में हम सचेतन रूप से प्रायः कुछ नहीं करते और व्यवस्था जब हमसे विकल्प छीनती जाती है, तो हम बहुधा परिस्थितियों से समझौता करते जाते हैं। हमें यह भी ध्यान नहीं रहता कि जिस दिशा में हमें धकेला जा रहा है, वह हमारी मंजिल है ही नहीं। मनुष्य के समझौतावादी स्वभाव की ओर ‘अभिमुख’ कहानी के अंतर्गत भी प्रकाश डाला गया है। उम्र गुजरने के साथ-साथ बहुधा लोग व्यवस्था के प्रति समझौतावादी हो मोटी खाल

के हो जाते हैं। कहानी खुद को खत्म करके जिंदगी से जोंक की तरह चिपट जाने वाले लोगों को रेखांकित करती है।

स्वच्छ भारत अभियान के परिप्रेक्ष्य में लिखी गई कहानी 'पहाड़' उस मानसिकता पर चोट करती है, जो घर की गंदगी बाहर एक कोने में फेंककर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती है। आधुनिक सभ्यता उपभोगवाद के पीछे भागते-भागते इतनी स्वकेंद्रित हो चुकी है कि उसे गंदगी के उत्पादन से अब कोई समस्या ही नहीं रही है। उपभोगवाद और उससे उत्सर्जित गंदगी किस तरह आधुनिकता का पर्याय बन चुके हैं, किस तरह कचरे के ढेर हमारे संगी-साथी बन चुके हैं, इसे कहानी सामने लाती है। कहानीकार गंदगी के उत्पादन को एक आधुनिक मूल्य मान चुके मानव को उसके अस्तित्व पर छाए संकट से सावधान करके वैकल्पिक जीवन पद्धति की आवश्यकता को अगर और रेखांकित कर पाते तो बेहतर होता ...

दिल्ली जैसे महानगर के कोलाहल और भागदौड़ में मजदूरी की तलाश में दूर-दराज के इलाकों से आए भोले-भाले लोग दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते हैं और जो बच जाते हैं, वे पराए महानगरीय परिवेश में तालमेल न बैठ पाए के कारण हतबुद्धि और अवसादग्रस्त हो जाते हैं। संकलन की अंतिम कहानी 'शहर में गोल्डू' इस त्रासदी को उजागर करती है। कहानी के अबोध बालक गोल्डू का बाप जहाँ दिल्ली आते ही एक बस दुर्घटना में मारा जाता है, वहीं गोल्डू की माँ शहर की भूखी आँखों की वासना से डरी-सहमी और संवादहीनता से उपजी हताशा में अंततः आत्महत्या कर लेती है। माता-पिता के साये से वंचित हो चुके गोल्डू को अपनाए के लिए आगे आकर शहर के कुछ लोग अपनी इंसानियत स्थापित करना चाहते हैं, लेकिन लेखक गोल्डू को लेकर इन लोगों की जो आपसी खींचतान है, उसके पीछे के खेल की नंगई सामने लाकर दिखा देता है कि इंसानियत के आवरण में गर्हित स्वार्थों की पूर्ति ही शहरी सभ्यता में ज्यादा नजर आती है।

सुरेंद्र मनन की एक महत्वपूर्ण कृति है 'हिल्लोल' जो हमारे देश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतिम दिनों में उसके खिलाफ रॉयल इंडिया नेवी में हुई बगावत पर केंद्रित है। इन बागी हिंदुस्तानी सेलर्स को जहाँ ब्रिटिश भारत में सजा के रूप में कोर्ट मार्शल और जेल की यंत्रणा से गुजरना पड़ा, वहीं आजाद हिंदुस्तान में भी आजादी की जंग में अपने योगदान और अपनी पहचान की स्वीकृति से वंचित रहना पड़ा। भारतीय इतिहास के एक महत्वपूर्ण कालखंड के निर्माता रहे इन नायकों को बेकद्री, अपमान और प्रताड़ना से बाहर निकालकर सामने लाने के लिए लेखक ने किताबों में पढ़ाए जाने वाले प्रायोजित इतिहास के रिक्त पन्नों की ओर हमारा ध्यान खींचने की कोशिश की है। आजादी के हमारे इतिहास से जिस प्रकार रॉयल इंडियन नेवी की बगावत को मिटाने की साजिश की गई है, वह साबित करता है कि शासक वर्ग द्वारा पाठ्य पुस्तकों के रूप में जो इतिहास सामने रखा जाता है, वह काट-छाँटकर लिखा-लिखवाया गया तरफदार इतिहास होता है। इस प्रायोजित इतिहास से अलग एक इतिहास वह भी होता है, जो गुमनाम कर दिए गए उन लोगों की जुबान पर होता है, जिन्होंने उस इतिहास की खुद रचना की होती है। लेखक ने इसीलिए रॉयल इंडियन नेवी की उस बगावत में स्वयं कर्ताधर्ता रहे, साझेदार रहे और प्रत्यक्षदर्शी रहे विविध लोगों के मौखिक इतिहासों को शब्दबद्ध करके वर्तमान और विगत के बीच की लंबी दूरी को पाटने की कोशिश की है। इतिहास की अंधेरी सुरंग की अपनी इस यात्रा में लेखक ने उन कुछ एक इंडियन नेवी के भारतीय अफसरों का भी पक्ष रखा है जिन्होंने इस बगावत को निभाने में किसी न किसी प्रकार की भूमिका निभाई थी।

सुरेंद्र मनन पेशे से दस्तावेजी फिल्म निर्माता हैं। अपनी फिल्मों के निर्माण के दौरान या फिल्मों की प्रस्तुति आदि के सिलसिले में वे जिन यात्राओं से गुजरे हैं, जिन अनुभवों से समृद्ध होते रहे हैं, उन्हें संस्मरणों, यात्रा वृत्तांतों और कहानी आदि के रूप में शब्दबद्ध भी करते रहे हैं। हिल्लोल शीर्षक केंद्रित यह पुस्तक भी उस डॉक्युड्रामा सिरीज का ही उपउत्पाद है जो आपने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास की खोजबीन करते

हुए रॉयल इंडियन नेवी में हुए विद्रोह पर बनाई थी। बगावत किस पैमाने पर हुई और आजादी की लड़ाई में उसका क्या योगदान था, इन प्रश्नों की तलाश करती इस किताब में बगावत के सरगना बी.सी. दत्त और उनके साथियों के माध्यम से इतिहास के रिक्त स्थानों को भरने की कोशिश की गई है। पुस्तक स्थापित करती है कि 19-24 फरवरी 1946 के दौरान भारतीय नेवी में हुई बगावत सिर्फ नेवी तक सीमित नहीं रही, बल्कि उसने ब्रिटिश राज के खिलाफ आम जनता की बगावत का रूप भी ले लिया था। 'क्लासिफाइड' और 'टॉप सीक्रेट' संदेशों के हवाले से इस बगावत की व्यापकता और दूरगामी परिणामों को भी स्पष्ट कर दिया गया है। पुस्तक दिखलाती है कि यह बगावत देश की आजादी का लक्ष्य लेकर की गई एक राजनीतिक कार्यवाही थी, न कि बेहतर कार्य दशाओं और भत्तों की माँग तक सीमित हड़ताल मात्र थी। इस बगावत की पृष्ठभूमि के रूप में द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण हिंदुस्तानी सैनिकों की सोच में आए बदलाव और आजाद हिंद फौज के बंदियों के पक्ष में उठ खड़े हुए जबरदस्त जन आंदोलन का महत्व भी रेखांकित किया गया है।

बगावत के कारणों में दो और कारण रेखांकित किए गए हैं। एक तो ब्रिटिश अफसरों और उनके अधीन काम करने वाले हिंदुस्तानी सेलर्स के बीच कोई निकट संबंध न होना। दूसरा, द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति उपरांत बड़ी संख्या में सेलर्स को नेवी की सेवा से बिना किसी आश्वासन के हटाया जाना। अंग्रेज अफसरों और सेलर्स की तुलना में अपने प्रति होने वाला भेदभाव उन्हें खटकता था। पहले से विद्यमान इस असंतोष और अपने भविष्य की चिंता ने निश्चय ही बगावत के लिए तात्कालिक रूप से उकसाया होगा।

लेखक बारंबार इस सवाल से टकराता है कि आजादी की लड़ाई में अपनी देशभक्ति साबित करने के लिए अपना सब कुछ दाव पर लगाकर जिन हिंदुस्तानी सेलर्स ने बगावत की, राष्ट्रीय नेताओं ने उनका पक्ष क्यों नहीं लिया ? इनकी बगावत के पीछे जो आजादी का सपना था, उस पर बेहतर खाने की माँग कर रहे रेंटिंग्स के संघर्ष का ठप्पा लगाकर शुरुआती समर्थन के बाद क्यों उसका महत्व कमतर किया गया ? बगावती रेंटिंग्स के प्रति हिंदुस्तानी नेताओं की चुप्पी को लेखक बगावत के नायक बी.सी.दत्त के शब्दों में 'पार्ट ऑफ द गेम' बताता है। पुस्तक विस्तार से स्थापित करती है कि यह बगावत असल में हिंदुस्तानी नेताओं और ब्रिटिशों के बीच सत्ता हस्तांतरण को लेकर जो मोल-भाव चल रहा था, उसमें एक बाधा खड़ी कर चुकी थी। कटु सच्चाई यही है कि रेंटिंग्स की बगावत का इन नेताओं ने दबाव की राजनीति में एक औजार की तरह इस्तेमाल किया। बाद में इसे अनुशासनहीनता के बट्टे खाते डाल दिया गया।

पुस्तक में हिंदू-मुसलिम एकता की दृष्टि से भी इस बगावत का महत्व रेखांकित किया गया है। आजादी की पूर्व संध्या पर जब हिंदुस्तानी नेता हिंदू-मुस्लिम की बात करने लगे थे, तब यह बात सुकून देती है कि विद्रोही रेंटिंग्स के लिए हिंदू-मुसलिम की बात बड़ी बेतुकी थी। हिंदू-मुस्लिम एकता के साथ-साथ इस बगावत के वामपंथी स्वरूप को भी पुस्तक सामने लाती है। बगावती रेंटिंग्स ने कांग्रेस और मुसलिम लीग के झंडों के साथ-साथ जिस तीसरे झंडे का इस्तेमाल बगावत के दौरान किया था, वह वामपंथी लाल झंडा था। वामपंथी रुझान वाले कांग्रेसी नेताओं के समर्थन और और मार्गदर्शन का उल्लेख करने के साथ-साथ बगावती रेंटिंग्स के समर्थन में कराची और मुंबई में वामपंथियों द्वारा की गई सभा-हड़ताल आदि का जिक्र भी किया गया है। कम्युनिस्ट पार्टी की अगुवाई में विद्रोही सेलर्स के समर्थन में मुंबई में मजदूर हड़ताल हुई थी। रॉयल इंडियन नेवी के रेंटिंग्स की बगावत का असर दूसरी सेनाओं के हिंदुस्तानी सैनिकों पर भी हुआ था। पुस्तक इस असर की गहराई को भी विभिन्न घटनाक्रमों के आधार पर आंकती है।

एच.एम.आई.एस. तलवार सिग्नल स्कूल था और यहीं से बगावत की शुरुआत हुई थी। सिग्नल स्कूल के बागियों के पास यह सुविधा थी कि वे रॉयल इंडियन नेवी के सभी जहाजों आदि तक बगावत का संदेश प्रेषित कर सकते थे। तलवार की इस केंद्रीय भूमिका को पुस्तक में एकाधिक बार रेखांकित किया गया है। नेवी के

तत्कालीन भारतीय अफसरों के हवाले से इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि इस बगावत ने अंग्रेजों के सामने यह खुलकर स्पष्ट कर दिया कि वे अब सेना के बल पर भारतीय जनता को और गुलाम नहीं रख पायेंगे। लेखक का आग्रह रॉयल नेवी की इस बगावत को उन संघर्षों की एक कड़ी के रूप में देखने का है, जो हिंदुस्तान की जनता ब्रिटिश राज से मुक्ति के लिए कर रही थी।

पारंपरिक विधाओं की सीमाओं से और शिल्प-शैली की रूढ़ियों से ऊपर उठकर रची गई कृतियाँ – ‘अहमद अल-हलो, कहाँ हो?’ और ‘हो-चि का कु-चि’ यात्रा वृत्तांत और संस्मरण के मिले-जुले रूप कही जा सकती हैं। वैसे यत्र-तत्र प्रसंगों की ऐतिहासिक पड़ताल ने दस्तावेजी शक्ल भी ले ली है। सुरेंद्र मनन स्वीकारते भी हैं कि “रचना प्रक्रिया के दौरान विभिन्न विधाएँ अपनी स्वतंत्रता का हठ छोड़कर स्वतः ही गले आ मिलीं।” ‘हो-चि का कु-चि’ शीर्षक रचना का एक बड़ा हिस्सा अमेरिकी साम्राज्यवाद के खिलाफ वियतनामी जनता के सफल प्रतिरोध पर केंद्रित है। लेखक दिखाता है कि कैसे कमजोर, दरिद्र और पिछड़े होने पर भी वियतनामी गुरिल्लाओं ने धरती से एक रागात्मक निकट संबंध स्थापित करके जमीन के नीचे बनाई गई सुरंगों का इस्तेमाल सुरक्षा कवच और लड़ाई के मोर्चों के रूप में करके विश्व की महाशक्ति अमेरिका को भी घुटने टेकने को विवश कर दिया। जमीन के नीचे विकसित की गई समानांतर गुरिल्ला जिंदगी से एकाकार होते हुए लेखक दिखाने में सफल रहा है कि जो सुरंगें अमेरिकी सेना के लिए बेहद खतरनाक थीं, वे कैसे वियतनामियों के लिए माँ की आँतों सदृश्य थीं।

अमेरिकी विमानों द्वारा गिराए गए हाई-एक्सप्लोसिव बमों से हुई तबाही और वियतनामी विद्रोहियों के संगठन वियतकॉन के बेस को नेस्तनाबूद करके अमेरिका द्वारा कु-चि में 25 इन्फैंट्री डिविजन की तैनातगी कर दिये जाने के बावजूद वियतनाम के आदिम पिछड़े समाज द्वारा हार न मानना और अपना प्रतिरोध जारी रखना अमेरिका के लिए किस प्रकार अबूझ पहेली बन चुका था, यह पुस्तक इस पर रोशनी डालने का काम करती है। अपनी धरती माँ की आँतों में छिपकर अमेरिकी सेना के प्रशिक्षित, अनुभवी और जाबाज सैनिकों पर जिस प्रकार दुबले-पतले, निरीह से लगने वाले वियतनामी गुरिल्ला भारी पड़ते थे, वह सब जानना रोमांचकारी है। हवा, रोशनी और पानी को जीवन के तराजू में रखकर तोलना जिस प्रकार सुरंगों में रहने वाले वियतनामियों की दिनचर्या और जीवन का हिस्सा दिखाया गया है, वह प्रकृति की इन नेमतों की अहमीयत चिह्नित करने वाला है।

आक्रमणकारी अमेरिकी घुसपैठियों से वियतनाम को मुक्त कराने और उत्तरी-दक्षिणी वियतनाम के एकीकरण के संघर्ष में वियतनामी महिलाओं की भूमिका की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। रोजमर्रा के जीवन में काम आने वाली और हर जगह आसानी से उपलब्ध साधारण सी चीजों के साथ-साथ शत्रु द्वारा फेंकी गई और बेकार-सी चीजों का इस्तेमाल करके घातक और आश्चर्यचकित कर देने वाले युद्ध उपकरणों के निर्माण में इन महिलाओं ने बढ़-चढ़कर भाग लिया था। सुरंगों के अंदर बने इन भूमिगत आयुध कारखानों तक भी लेखक अपने साथ पाठकों को ले जाता है।

दशकों तक चले इस दुर्धर्ष संघर्ष में अंततः अमेरिका को पीछे हटना पड़ा और वियतनामी मुक्ति संघर्ष को अपनी मंजिल हासिल हुई लेकिन इस युद्ध को एक विश्व शक्ति विशेष द्वारा एक विरोधी विचारधारा में यकीन रखने वाले देश विशेष पर किए गए हमले के रूप में नहीं देखा जा सकता। वियतनाम का मुक्ति संघर्ष सत्ता के मद में चूर विश्वशक्तियों द्वारा मानवता के खिलाफ थोपे गए जघन्य युद्ध अपराधों की श्रेणी में रखकर देखा जाना चाहिए। लेखक एजेंट आरेंज के दुष्परिणामों की दिल दहला देने वाली विकृतियों को सामने लाकर दिखलाता है कि दशकों तक चले इस युद्ध के परिणामों को दशकों बाद आज भी वियतनाम की निरपराध नई पीढ़ियाँ भोगने को अभिशप्त हैं। वीरता और क्रूरता के बीच के अंतर को भी यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है।

पुस्तक में आगे हम लेखक के साथ-साथ वियतनाम से बाहर निकलकर ओलिम्पस पहाड़ पर स्थित

एक्रोपोलिस के खंडहरों में पहुँच जाते हैं जहाँ हमारा साक्षात्कार एकांत और शून्य के बीच विद्यमान अंतराल से होता है। जब लेखक आर्मीनिया की राजधानी येरवन में आयोजित 'सनचाइल्ड फिल्म समारोह' में शिरकत करने जाता है तो पाठक उसके साथ-साथ आर्मीनी जातिसंहार के आहत कर देने वाले दुःस्वप्न से गुजरता है। जब कोई कट्टरपंथी शासक अपने राष्ट्र को एक विशुद्ध धार्मिक राष्ट्र का रूप देने पर आमादा हो जाता है, तो उसके लिए दूसरे धर्म के लोग अधर्मी, नास्तिक और घृणित बन जाते हैं। ईसाई आर्मीनियों को जिस प्रकार लाखों की संख्या में कट्टरपंथी ऑटोमन साम्राज्य अंतर्गत तुर्की को विशुद्ध इस्लामी राष्ट्र बना देने के लिए सामूहिक रूप से मौत के घात उतारा गया, उसे व्याख्यायित करने वाले शब्द 'जाति संहार' का तीखापन पाठक को गहराई तक उद्बलित करके रख देने वाला है।

नाथु-ला दर्रे की अपनी यात्रा में एक ओर लेखक के साथ पाठक इस दर्रे की भौगोलिक यात्रा करता है, वहीं बीच-बीच में उस कालखंड में भी पहुँच जाता है जब यह दर्रा ऐतिहासिक सिल्क रूट का हिस्सा हुआ करता था और ल्हासा को बंगाल के मैदानी इलाकों से जोड़ने वाली कड़ी था। नाथु-ला पहुँचकर जब लेखक नौ मैन्स लैंड के बीच खड़ा हो इधर और उधर को तोलता है, तो उसे कई हजार फीट पर हजारों की संख्या में सैनिकों की तैनातगी की व्यर्थता पर और राष्ट्रवादी राजनीति पर कुछ ठहरकर सोचने को बाध्य होना पड़ता है। स्लोवानिया के बास्का शहर की यात्रा हमें सिखाती है कि जब तक हम किसी देश को, किसी शहर को म्युजियम की तरह देखते हैं, तब तक उसे महसूस नहीं कर पाते। किसी स्थान को अपने अंतरंग का अनुभव बनाने के लिए हमें उस स्थान के साथ खुद को एकीकृत करना होता है।

किसी स्थान की नैसर्गिक शांति, सहजता और सरलता के पीछे कितनी असहजता, अशांति और विकरालता छिपी हो सकती है, इस द्वंद्व से हमें रूबरू कराने के लिए लेखक हमें दिग्शाई की सुरम्य घाटी में स्थित ब्रिटानी जेल की अधेरी कोठरियों में ले जाता है। 'फायरिंग स्क्वॉड' के रूप में हत्या के एकाकी कृत्य को सामूहिक कृत्य में बदलकर हत्याओं को अपराध बोध से मुक्त कर देने वाली मानव मशीन के ईजाद के पीछे निहित शासकों की अमानवीयता को भी चिह्नित किया गया है। बड़ोग साहब और बाबा भलकू के ऊपर संस्मरणनुमा जो विवरण 'बड़ोम सुरंग नं. 33' शीर्षक से लिखा गया है, वह कालका-शिमला रेलमार्ग के निर्माण में अंग्रेजी इंजीनियरिंग के साथ स्थानीय देशी बाबा के ज्ञान और अनुभव के तालमेल पर प्रकाश डालता है। किसी चमत्कारी बाबा भलकू के मार्गदर्शन में अंग्रेज इंजीनियर द्वारा बड़ोग सुरंग पूरी करने को लेकर जो रहस्यमयी लोक आस्था प्रचलित है, उसे सुलझाने की एक कोशिश भी यहाँ की गई है।

बुद्धम शरणम् से डॉलर और पोंड की तलाश में पथगामी बन चुके थाईलैंड की आधुनिक चमक-दमक और भागदौड़ के बीच निहित चुप्पी और बौद्ध धर्म के प्रति गहन आस्था के सूत्र तलाशने के लिए लेखक हमें जहाँ इसके बौद्ध इतिहास की ओर ले जाता है, वहीं औद्योगिक और यांत्रिक जीवन पद्धति के कारण अपनी जमीन से उखड़ने से उपजी रिक्तता और सांस्कृतिक आघात से भी हमें परिचित कराता है। थाई समाज के भारतीयकरण की प्रक्रिया पर रोशनी डालते हुए वह इस संदर्भ में रामायण की भूमिका भी रेखांकित करता है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख हुआ है, सुरेंद्र मनन की एक और महत्वपूर्ण रचना है 'अहमद अल-हलो, कहाँ हो तुम ?'। इसकी रचना और प्रकाशन 'हो-चि का कु-चि' से पहले हुआ था। इस पुस्तक में ही नहीं अपितु अन्य पुस्तकों में भी सुरेंद्र मनन दृश्य से शब्द और शब्द से दृश्य के बीच झूलते रहते हैं। जब-तब उनकी कलम कैमरा बन जाती है और जब दृश्य की हदबंदी उन्हें खलने लगती है, तब वे फिर से शब्द के दायरे में चले जाते हैं। मूलतः फिल्मकार होने के कारण इनके लेखन में दृश्यात्मक चित्रण आना स्वाभाविक है। सिनेमा की एक और प्रविधि का भी कई जगह इन्होंने इस्तेमाल किया है, वह है - पूर्वदीप्ति (फ्लैश बैक)। सुरेंद्र मनन अपने अंदर के फिल्मकार का परिचित दृश्य-श्रव्य माध्यम छोड़कर क्यों बार-बार शब्दों की दुनिया में लौट आते

हैं, इसका कारण उन्हीं के शब्दों में देखिए – “फिल्म के फलक में जो समेटा जा सका वह अंजुरी भर था, बहुत कुछ ऐसा था जो चारों तरफ छलछला रहा था। कैमरे से जो छवियाँ बटोरी गईं, वे झलकियाँ मात्र थीं, हजारों-हजार चलचित्र अभी भी उठते-बैठते इर्द-गिर्द परिक्रमा कर रहे थे।” जो पात्र, प्रसंग, परिवेश और मानवीय त्रासदी कैमरे की जद में अपने विविध आयामों के साथ नहीं आ पाये थे, या नहीं आ सकते थे, उन्हें भी सामने लाने का दबाव इन्हें कलम की शरण लेने के लिए बारंबार विवश करता रहा है।

शरणार्थियों और कानूनी-गैर कानूनी ढंग से दूसरे देशों में रह रहे भारतीयों के मानवाधिकारों को लेकर सुरेंद्र मनन संवेदनशीलता के साथ फिल्में बनाते आ रहे हैं। ‘अहमद अल-हलो’ में भी वे वैश्विक स्तर पर जटिल बनती शरणार्थियों की समस्या को उठाते हैं और साथ ही भारतीय डायसफोरा के ज्वलंत मुद्दों को सामने लाते हैं। इस पुस्तक में संकलित पहली रचना जिस पर इस पुस्तक का शीर्षक भी आधारित है, में लेखक बेशिनाख़्त कर दिये गये इंसानों के संकट और त्रासदी को दिल्ली में चोरी-छिपे छिपकर रहने को मजबूर फिलिस्तीनी शरणार्थियों के माध्यम से समझने-समझाने का प्रयास करता है। फिलिस्तीनी शरणार्थियों की संख्या दुनिया में अन्य शरणार्थियों की तुलना में चाहे सबसे ज्यादा हो, लेकिन आंकड़ों के माध्यम से किसी समस्या की गहनता को नहीं जाना जा सकता और इसीलिए दिल्ली में रहकर इराक वापिस लौटने की प्रतीक्षा में तिल-तिलकर मर रहे अहमद अल-हलो जैसे फिलिस्तीनी शरणार्थियों से लेखक प्रत्यक्ष मिलता है और लेखक के साथ पाठक भी जब उनके करीब जाता है, तो उसे उनकी वास्तविक त्रासदी समझ आ पाती है। क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और डिप्लोमेसी के खेल में शतरंज के मोहरे मात्र बना दिये गये ये शरणार्थी अपनी जमीन, अपने चिर-परिचित परिवेश से विस्थापित होकर कैसे न सिर्फ दूसरों के लिए बल्कि खुद के लिए भी अजनबी बनने को अभिशप्त हैं, इसे पुस्तक के अन्य संस्मरणों-यात्रा वृत्तांतों में भी देखा-समझा जा सकता है।

एक तानाशाह का गहरा डर और असुरक्षा की भावना कितनी आक्रामकता और क्रूरता के साथ अपने ही देशवासियों की लाखों की संख्या में सामूहिक हत्या करवा सकती है, ‘ओह, कम्बोडिया’ में इससे गुजरने के बाद कोई भी संवेदनशील पाठक मानव जाति के आदर्शों-मूल्यों और आस्थाओं को लेकर प्रश्नाकुल हो सकता है। नरककालों और खोपड़ियों से भरा कम्बोडिया लेखक को एक चेतावनी सदृश्य नजर आता है कि कोई भी निरंकुश शासक कभी भी पोल पॉट का रूप धारण कर सकता है। बुदापेस्ट के बुदा में बुतों को लेकर लेखक को बुतों का जो अनुभव हुआ, वह बुतों की राजनीति में आकंट डूबे हमारे देश के लिए आँखें खोल देने वाला है। साम्यवादी हंगरी में जो बुत राष्ट्र की आकांक्षाओं के प्रतीक थे, शासन व्यवस्था बदलने पर वे ही मोहभंग की प्रतिमाओं में तब्दील हों रोष और आक्रोश का निशाना बनते हैं। हंगरी से हमें यह भी सीखने की जरूरत है कि चाहे शासन व्यवस्था और आदर्श बदल जाएँ लेकिन ऐतिहासिक इमारतों और बुतों का संरक्षण किसी भी राष्ट्र के लिए अपेक्षित है।

हवा, पानी और जमीन को निजी मिल्कियत बना देने को आमादा वर्तमान पूँजीवादी दौर में मानव के अस्तित्व के लिए चुनौति बन चुके पर्यावरण संकट के बीच धर्म और धार्मिक यात्रा को लोकवादी-पर्यावरण हितैषी अर्थ देते हुए एक मृत नदी को जीवित कर दिखाने वाले पंजाबी संत सीचेवाल पर केंद्रित ‘पवन गुरु पानी पिता माता धरत महत्व’ शीर्षक यात्रा वृत्तांत-संस्मरण धर्म का वास्तविक अर्थ दिखलाने वाला है। रूसी क्रांति के प्रतीक लेनिन की मृत देह के दर्शन के लिए की गई यात्रा में लेखक इस मृत देह को लेकर होने वाली राजनीति के विविध पक्षों से परिचय कराने के साथ-साथ क्रांति के ऐसे प्रतीकों के पण्थीकरण को लेकर भी सवाल खड़े करता है।

यूरोप की सांस्कृतिक राजधानी कहे जाने वाले विएना के काले पहलू के रूप में अवैध आप्रवासन से पैदा शरणार्थी समस्या के पंजाबी पहलू को उजागर किया गया है। एक ओर विएना में गैर कानूनी ढंग से रह रहे

इन लोगों को बराबर यह याद दिलाया जाता है कि वे तुच्छ, अवांक्षित, कुपात्र और घुसपैठिये हैं, वहीं परदेस में अपने को स्थापित करके भौतिक दृष्टि से सफल जिंदगी जीने के बाद भी देस-परदेस के बीच लटकते ये प्रवासी बेरौनक, थके और ऊबे भी प्रायः दिखाए गए हैं। लेखक विएना के ऐसे कुछ प्रवासियों के माध्यम से शरणार्थी समस्या को मानवीय नजरिए से देखता है।

साम्राज्यवादी ताकतें हर जगह शोषित-शासित लोगों के बीच विभेद और वैमनस्य के बीज बोकर अपना स्वार्थ सिद्ध करती हैं, इसी का साक्षात्कार पाठकों को 'नगेमा का नगमा' में होता है। जिस गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में गोरों की रंगभेद नीति और दमनकारी कानूनों का विरोध किया, आज उसी के देशवासियों को अश्वेत अफ्रीकियों के गुस्से और आक्रोश का शिकार क्योंकि बनना पड़ रहा है, इस रहस्य पर से पर्दा उठाने का काम करते हुए लेखक ने द. अफ्रीका में पीढ़ियों से रह रहे भारतीयों के मानवाधिकार हनन का सवाल उठाया है।

मलेशिया की अपनी यात्रा में लेखक मलय से मक्का होते हुए आज के अति आधुनिक मलेशिया तक हमें विभिन्न संस्कृतियों के सफर पर ले जाता है। विभिन्न जातियों और नस्लों के आपसी सम्पर्क और तालमेल से निर्मित मलेशिया का बहुसांस्कृतिक समाज इसकी मिसाल नजर आता है कि कैसे कोई बहुजातीय बहुनस्लीय समाज बिना किसी तनाव और कटुता के उन्नति की ऊँचाइयों को छू सकता है।

पंजाब से मानव तस्करी (डौंकी) के माध्यम से अपना जीवन दांव पर लगाकर और मोटी रकम खर्च करके ब्रिटेन पहुँचने वाले गैर कानूनी आप्रवासियों की त्रासदी को भी दिखाया गया है। इन आप्रवासियों की दुश्वारियाँ ब्रिटेन पहुँचकर भी खत्म नहीं होती। पाठक यह जानकर चकित रह जाता है कि एक ओर फर्जी दस्तावेजों के आधार पर इन्हें बहुत कम मजदूरी पर काम करना पड़ता है, वहीं दूसरी ओर पकड़े जाने पर इन घुसपैठियों को हवाई जहाजों में बैठाकर वैसे ही वापस अपने देश भेज दिया जाता है, जैसे शहर से कचड़े को ट्रकों में भरकर दूर फेंक दिया जाता है। लेकिन लेखक इन घुसपैठियों को कचरा मानने को तैयार नहीं है। इन गैर कानूनी कामगारों पर ही ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के टिका होने और इन्हें इनका वाजिब हक दिलवाने के लिए स्वयं जागरूक ब्रिटिश नागरिकों के आंदोलन का भी जिक्र किया गया है।

'स्मृति में सफर बराह मॉरिशस' के अंतर्गत लेखक की यात्रा में सीताराम जी के रूप में मॉरिशस का जीवित इतिहास भी हमारे सामने आता है। इतिहास के निर्माता रहे ऐसे व्यक्तियों के अनुभव इतिहास के अधूरेपन को सामने ला देते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, रॉयल इंडियन नेवी के रेंटिग्स की बगावत पर केंद्रित 'हिल्लोल' में भी इसी प्रकार के मौखिक इतिहास का दस्तावेजीकरण किया गया है। लाखों लोगों को गिरमिटिया बनाकर मॉरिशस लाया गया जिन पर यूरोपीय बागान मालिकों ने बहुत जुल्म किये किंतु अपनी मेहनत और संघर्ष के बल पर इन्होंने अंततः अपने दुर्भाग्य को भाग्य में बदल डाला। आधुनिक मॉरिशस के निर्माण में इनके योगदान को याद करते हुए किसी भी राष्ट्र के निर्माण में वहाँ के उस तलछट समाज के महत्व को स्थापित किया गया है जो बेलौस और बे-बनावट का होता है। लेखक यह भी विशेष तौर पर जोर देकर कहता है कि खांटी मॉरिशसी बन चुकी इन गिरमिटियों की नई पीढ़ी डेढ़-दो सदी पीछे छूट गए अपने देस के प्रति आज भी देस का भाव रखती है।

'अहमद अल-हलो, कहाँ हो' को लेखक ने समय का सफरनामा कहा है। जिस प्रकार सिनेमा में स्थान के माध्यम से समय को गुजरते दिखाया जाता है, कदाचित किसी देश, किसी शहर के नए-पुराने स्थलों के माध्यम से उस देश, उस शहर के वर्तमान और अतीत के बीच वैसे ही लेखक चहलकदमी करता है और इसीलिए वह अपनी यात्राओं को 'समय का सफरनामा' की संज्ञा देता है। अपने इस सफर में स्थान विशेष की नामसूचक संज्ञाओं का सहारा वह लेता है और प्रकृति के साथ मनुष्य के संघर्ष द्वारा तय परिवेश विशेष की भूमिका को भी रेखांकित करता है।

इसप्रकार अपनी रचनाओं के माध्यम से सुरेंद्र मनन एक ओर जहाँ कलाओं और विधाओं की दीवारों को तोड़कर मुक्त रूप से विषयानुकूल कलाओं और विधाओं के बीच चहलकदमी करते हुए चलते हैं, वहीं भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक सीमाओं को लांघते हुए हिंदी साहित्य का देश-काल भी व्यापक बनाते चलते हैं। उनका पूरा लेखन मनुष्य की मुक्ति से संचालित है। अपने लेखन के द्वारा विगत तानाशाही ताकतों के अमानवीय कुकृत्यों को सामने लाकर वर्तमान के खतरों से भी वे हमें सावधान करते चलते हैं। विस्थापितों और प्रवासियों को कानून और सुरक्षा व्यवस्था के लिए खतरे के रूप में देखने वाली संकीर्ण राष्ट्रवादी दृष्टि से ऊपर उठकर वे मानवीय सहानुभूति और व्यापक परिप्रेक्ष्य में इन्हें देखने का आग्रह करते हैं। इतिहास में जिन्हें उनका वाजिब हक नहीं दिया गया, उनके पक्ष में भी आवाज उठाते हुए इन्हें सुना जा सकता है। विकास के नाम पर प्रकृति के साथ बलात्कार पर आमादा आधुनिक मानव सभ्यता को धर्म का वास्तविक निहितार्थ बताते हुए पर्यावरण संरक्षण को लेकर भी आप चिंतनशील हैं।



जनपदीय भाषाएँ और मीडिया का बदलता रूप

○ जिन्दर सिंह मुण्डा

जिस तरह अगोचर आलौकिक परम और एकमेव सत्य ईश्वर की सत्ता और महिमा को गूंगे का गुड़ कहा जाता है तथा उसके 'सेहि जानई जेहि देई जनाई' की बात प्रत्येक आस्तिक मन स्वीकार करता है। उसी तरह भाषा की सत्ता और महिमा अकाट्य सत्य है। चाहे कोई भी भाषा हो, संबंधित भाषा-भाषी उससे अपनी अस्मिता का प्रश्न मानता है। बांग्लादेश का अभ्युदय इसका ज्वलंत दृष्टांत है- समान धर्मावलंबियों ने एकमत होकर वृहत्तर भारत से पृथक पहचान की आवाज उठायी और वे आज पृथक राष्ट्र के रूप में पहचाने जाते हैं। किंतु जब चतुर्विध उस इस्लामिक नवराष्ट्र में पंजाबी भाषा, पदाधिकारियों की यानी पंजाबियत हावी दिखी। पाकिस्तान का एक टुकड़ा सारे देश पर बलात् हुकूमत पर काबिज हो गया तो सारे जोर जुल्म बर्दाश्त कर भी बांग्ला देशवासियों ने अपने बंगालीपन को आगे रखा और वे सर्वथा अलग पहचान वाले 'आमार सोनार बांग्ला' से शूच्याग्र कम कुछ पर भी तैयार नहीं। इस तरह आज एक भाषा आधारित राष्ट्र बांग्लादेश पूरे वजूद के साथ खड़ा है। ऐसे अन्य भी उदाहरण हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा प्रेम व्यक्ति की तबीयत का अनिवार्य अविच्छेद सहज गुण है। ऐसे कहने को तो इस वृहत्तर हिंदी पट्टी के अंतर्गत आज राजस्थानी, बुंदेली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, खड़ी बोली, भोजपुरी, मराठी, नागपुरी, गुजराती, मैथिली प्रभृत बोलियाँ हिंदी भाषा के अंतर्गत रहते हुए भी अपनी थोड़ी सी अलग पहचान के लिए व्याकुल हैं और उद्यमशील भी।

'खींचो न कमानों को न तलवार निकालो/ जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।' अकबर इलाहाबादी की ये पंक्तियाँ मीडिया की सार्थकता को बखूबी बयाँ करती हैं। परंतु क्या ये आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं? यह बड़ा प्रश्न है! लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहे जाने वाले मीडिया की जड़ों में आज कितनी मजबूती है? यह विचारणीय है! नारद मुनि से लेकर 21वीं शताब्दी तक मीडिया की मौखिक एवं लिखित यात्रा के दौरान कई उतार-चढ़ाव आए, परंतु वर्तमान में इसकी भूमिका को लेकर कहीं न कहीं संशय की स्थिति बनी हुई है। इसमें कोई दो राय नहीं कि पुराणों में वर्णित देवर्षि नारद तीनों लोकों में संवादक के रूप में अग्रणी थे। उन्हें जनसंचार का आदि आचार्य माना जाता है। 'बुद्धिमतांवरिष्ठम्' हनुमान जनसंचार के नायक थे। महाभारत में 18 दिनों के महायुद्ध का आंखों देखा हाल (रनिंग कमेंट्री) सुनाने वाले संजय संचार माध्यम के पुरोधा माने जाते हैं। भारतीय साहित्य में मेघ, हंस, तोता, कबूतर, कुत्ता एवं वायु, आकाश संचार के माध्यम के रूप में वर्णित हैं। कबूतरों द्वारा संवाद-प्रेषण की प्रक्रिया तो सर्वदा सत्यापित है। प्रसिद्ध फिल्मी गीत- कबूतर जा जा... जा... पहली प्यार की, पहली चिट्ठी, साजन को दे आ....। आज भी लोगों की जुबान पर हैं। "प्राचीन काल में पठन-पाठन, मुद्रण के साधन के अभाव में जनसंचार के माध्यम गुरु या पूर्वज थे जो मौखिक रूप से सूचनाओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाते थे। लेखन के प्रचलन के बाद भोजपत्रों पर संदेश लिखे जाते थे। गुप्त काल में

शिलालेखों द्वारा धार्मिक एवं राजनीतिक सूचनाएँ जन सामान्य तक पहुँचायी जाती थी। उसी समय वाकयानवीस (संवाददाता), खुफियानवीस (गुप्त समाचार लेखक) सवानहनवीस (जीवनी लेखक) तथा हरकारा (संदेशवाहक) संचार संप्रेषण के क्षेत्र में कार्यरत थे।”¹ बहरहाल मीडिया आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था में सूचना क्रांति का रूप ले चुका है। आज औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बड़ी मात्रा में हो रही है जिनके विपणन हेतु विज्ञापन ही एकमात्र सहारा है। फिल्म, रेडियो, टेलीविजन, पोस्टर्स, हैंडबिल, साइन बोर्ड, सिनेमा, स्लाइड और बैलून आदि अनेक माध्यमों से विज्ञापन का खेल चलता है परंतु समाचार पत्र ही सर्वाधिक सक्षम एवं उपयोगी सिद्ध हो पाया है। पन्नों में छपे विज्ञापनों की आंखों पर प्रतिक्रिया होती है। जिधर मन आकर्षित होता है और वस्तु विशेष के प्रति ध्यान केंद्रित हो जाता है। “बाजारवाद ने मीडिया को वह दुकान बना दिया है, जहाँ खबर उसके लिए प्रोडक्ट है और पाठक व श्रोता उसके उपभोक्ता। आज मीडिया का ध्यान समाज को शिक्षित करने से ज्यादा व्यावसायिक हितों को संरक्षित करने पर है।”²

पत्रकारिता अब कोई मिशन नहीं रहा। अब यह शुद्ध प्रोफेशन है। अब यह पूरी तरह से बाजारवाद की गिरफ्त में आ चुकी है। ऐसे में पत्रकारिता की दशा एवं दिशा उसके मुनाफे व घाटे से तय हो रही है। “जन सरोकार और जनोन्मुखी पत्रकारिता आज सिर्फ कहने के लिए है। आज की पत्रकारिता को उपभोक्ता संस्कृति ने अपनी आगोश में ले लिया है।”³ आज की पत्रकारिता यानी सत्ता की चाटुकारिता ! वर्तमान पत्रकारिता का अर्थ राजनेताओं, शासन-प्रशासन एवं आला अधिकारियों से लेकर समाज के संपन्न-समृद्ध जमात की चापलूसी। एक समय था जब पत्रकारिता को धर्म और साधना के रूप में माना जाता था। लोकतंत्र का चौथा स्तंभ अपनी मजबूती के साथ उपस्थित था। मीडिया में बड़ा बदलाव इधर 15-20 वर्षों में आया है। अखबार पहले खबरों के लिए एवं सूचना तथा ज्ञान के प्रसार के लिए भी मनुष्य के लिए अभिन्न हिस्सा के रूप में था, परंतु मार्केटिंग के इस दौर में अखबार फ्री-कूपन और मुफ्त लोटा-बाल्टी के आधार पर निर्धारित किए जाने लगे हैं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि आज भी अखबार खबरों का सबसे प्रमाणिक स्रोत है। वर्तमान समय में अखबार निकालना एक शुद्ध व्यवसाय बन चुका है, पाठक उसके ग्राहक। जहाँ प्रसार बढ़ाने के लिए अब हर हथकंडा अपनाया जाने लगा है; जिसने इस तरीके को नहीं समझा, वह बाजार से बाहर। अखबार, चैनल सारे माध्यम बंद।

वर्तमान पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य में इलाहाबादी ने कुछ यूँ बयां किया – ‘मुर्ग लड़ाये जाएंगे, बोटी के वास्ते/ अखबार निकाले जाएंगे, रोटी के वास्ते।’ महात्मा गांधी ने भी बाजारवाद को पत्रकारिता के लिए खतरनाक बताया था। उन्होंने कहा था कि इससे अखबारों की विश्वसनीयता खतरे में पड़ जायेंगे। 4 सितंबर 1912 ईस्वी को उन्होंने इंडियन ओपिनियन में लिखा था कि, ‘मैं समझता हूँ कि अखबारों में विज्ञापन का प्रकाशन बंद कर देना चाहिए। मेरा विश्वास है कि विज्ञापन उपयोगी अवश्य है। लेकिन विज्ञापन के माध्यम से कोई उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।’ “हिंदी पत्रकारिता के क्षरण में उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण की बड़ी भूमिका रही। इसी दौर में बाबरी मस्जिद, राम जन्मभूमि विवाद, मंडलवादी राजनीति उफान पर पहुँची। इसने पत्रकारिता को साफ तौर पर खेमों में बांटने का काम किया। उपभोक्तावादी पत्रकारिता और इसके धंधेकरण की शुरुआत भी यहीं से होती है।”⁴ आज की पत्रकारिता में ग्रामीण भारत, लोक-संसार एवं जमीनी यथार्थ नगण्य हैं। विश्व में बहुत कम ऐसे देश हैं जिनकी अधिकतम आबादी गांवों अथवा कस्बों में निवास करती है। ‘भारतमाता ग्रामवासिनी’ पंत की यह कविता प्रमुख उदाहरण है। यदि भारत का सच्चा स्वरूप देखना है तो गांवों में जाना होगा। यहाँ की जनभाषा, लोक संस्कृति एवं लोक साहित्य से जुड़कर जन भावनाओं के अनुरूप मीडिया में आई रिक्तता को भरा जा सकता है। भारत की आधी आबादी की मूल अर्थव्यवस्था कृषि तथा कृषि जन्य उद्योगों पर आधारित है, लेकिन अधिकतर समाचार-पत्रों एवं मीडिया के विभिन्न माध्यमों में कृषि से संबंधित कोई सामग्री नहीं रहती। न ही आज की पत्रकारिता में गरीबी, अशिक्षा, शोषित, मजदूर, दलित एवं समाज में पीड़ित, वंचित तबकों के लिए

कोई जगह है। साहित्य के नाम से तो जैसे उन्हें बू आती हो। मीडिया की जो वर्तमान संस्कृति है वह 'पेड न्यूज' प्रभावी है। जो ज्यादा पैसा देगा, उसी की ख़बर छपेगी। उसकी ही चलेगी, उसका ही गुणगान होगा। पत्रकारिता के इलेक्ट्रॉनिक अवतार न्यूज चैनल्स के पास मोदी आउटफिट, करीना का बेटा, विक्की-कैटरीना की शादी, वामीका, बिग-बॉस की खबरें, राहुल गांधी का मुकुट अथवा सनसनाती सेक्स-गन-गाली एवं अपराध से जुड़ी खबरों में ज्यादा दिलचस्पी रहती है। क्योंकि इस बाजार में लोकप्रियता का आधार टीआरपी है। टीआरपी तेज करने के लिए ये प्रमुख साधन हैं, जिससे आज का दर्शक हाथों-हाथ लेते हुए रोमांचित हो उठते हैं। गरीब, किसान, दलितों के लिए इनके पास स्पेस ही नहीं है। वर्तमान दौर की पत्रकारिता को लेकर ऐसे आरोपों की एक लंबी सूची तैयार है। खास बात यह है कि आज की पत्रकारिता को कटघरे में खड़ा करने में समाज का कोई तबका पीछे नहीं रहता। "हम जानते हैं कि आज का समय पूंजी के कौतुकों, अचरजों तथा मुद्रा बाजारों का है। हमें समय को पूंजी तथा शेयर व मुद्रा बाजार के संदर्भ में देखना चाहिए, हम बाजार तथा उपभोक्ता की तमाम बातें करते हैं- पर उसके करतबों के बारे में कोई प्रामाणिक कृति नहीं दे पा रहे हैं। हमें इस बाबत गंभीरता से गुनना होगा।"⁵

भारत बहुभाषिक, बहुसांस्कृतिक एवं जातीय विविधता वाला देश है। इसके मीडिया की संरचनागत एवं उपभोग की प्रवृत्तियाँ भी उतनी ही विविधताओं से भरी है। यह कहना उचित होगा कि भारत में एक राष्ट्रीय मीडिया है, जो अपने मुख्य हिंदी हॉट लैंड और अंग्रेजी मीडिया के साथ कुछ हिंदी बोलने वाले राज्यों को कवर करता है और भौगोलिक पहुंच के संदर्भ में इसकी व्यापक उपस्थिति है। खासकर हिंदी सिनेमा का प्रभाव न केवल हिंदीतर भारत में है बल्कि वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी इसके महत्व को समझा जाने लगा है। इसकी तुलना में क्षेत्रीय मीडिया स्वयं के भूगोल में सीमित है। राष्ट्रीय समाचार और स्थानीय/क्षेत्रीय समाचार के बीच एक निश्चित अंतर है। वह समाचार जो बड़े शहरों के करीब होता है, जहाँ दिल्ली, राजनीति तंत्रिका केंद्र में हो अथवा केंद्र का ध्यान आकर्षित करता हो, दूसरी ओर राज्य की राजधानियाँ या दूसरे राज्य में राजनीतिक गर्माहट अथवा हलचल का बयान हो, वह स्थानीय समाचार के अंतर्गत आ ही जाता है। राष्ट्रीय बनाम क्षेत्रीय विभाजन में चैनलों की संख्या भी एक कहानी कहती है, जबकि मुख्यधारा के चैनल जो कि प्रमुखतः हिंदी भाषी क्षेत्रों में देखे जाते हैं, वह सीमित संख्या में है। जबकि क्षेत्रीय समाचार चैनलों की संख्या नाटकीय रूप से वृद्धि हुई है। खासकर अहिंदी भाषी क्षेत्र जिनको दक्षिण भारत के रूप में हम सभी भली-भाँति जानते हैं। वहाँ तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भाषा आधारित मीडिया की अपनी दुनिया है। वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में बॉलीवुड के मुकाबले दक्षिण का सिनेमा संसार भी कई मायनों में बराबरी का टक्कर दे रही है। इस प्रकार तमाम क्षेत्रीय भाषाएँ चाहे वह हिंदी पट्टी के अंतर्गत आते हों अथवा अहिंदी भाषी क्षेत्र, उनकी उपस्थिति भविष्य के लिए अच्छा संकेत है। खासकर आज तमाम हिंदी चैनलों की भाषिक पड़ताल करें तो भाभी जी घर पर है (बुंदेली), अगले जनम मोहे बिटिया ही कीजो (भोजपुरी), मन की आवाज 'प्रतिज्ञा' (राजस्थानी), उत्तरन, आना नहीं इस देश में लाडो जैसे कई टी.वी. धारावाहिकों को परिगणित किया जा सकता है जिसमें कई क्षेत्रीय भाषाओं के पुट मिलते हैं और बड़े मीठे लगते हैं। भोजपुरी भाषा का तो एक पृथक संसार है। भोजपुरी सिनेमा और संगीत काफी चर्चित हैं। इसके अपने चैनल से हैं जो काफी सशक्त हैं। इनकी अपनी अलग-अलग स्वीकृति है। इसके साथ अपने दर्शक मंडल हैं; यानी भाषायी प्रेम सर चढ़कर बोलता है। आज हिंदी के मुकाबले अंग्रेजी भाषा के बढ़ते प्रभाव के कारण भारत की जनपदीय भाषाएँ कमजोर हुई हैं। इंटरनेट की दुनिया के बढ़ते प्रभावों से लघु-पत्रिकाएँ बंद हो रही हैं। यह सब भाषाई अस्मिता की दृष्टि से खतरे का सूचक है। "बहुभाषी समाज में भाषायी समस्या अपनी अस्मिता के रेखांकन का परिणाम भी होती है। अपनी भाषाई अस्मिता के बल लोकतांत्रिक आकांक्षा से भी पनपती है। आधुनिकता, शहरीकरण, बढ़ते मध्यवर्ग और मीडिया के प्रसार इसके लिए जमीन

तैयार करते हैं।”⁶ हिंदी को जब राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास जब देश में शुरू हुआ तो हिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी को लेकर बगावती तेवर सुनाई देने लगे। भाषायी वाद-विवाद कोई नई बात नहीं है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भाषाओं के बीच तनाव भरा-रिश्ता हिंदी-उर्दू और ब्रजभाषा-खड़ीबोली के बीच भी बना था। यह सही है कि भाषा के स्तर पर राष्ट्रीय एकता में हिंदी केंद्रीय भूमिका में रही है। इस हिंदी को स्थापित और उसके विकास में जनपदीय बोलियों और भाषाओं ने अपनी महती भूमिका निभाई है। ऐसे में यह नहीं कह सकते कि ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मागधी, नागपुरी, पंचपरगनिया, खोरठा, कुरमाली, मैथिली, राजस्थानी, बंगाली, असमिया, बुंदेली, बघेली, छत्तीसगढ़ी, मराठी, पंजाबी, गुजराती अथवा तमिल, तेलुगू, कन्नड़ एवं मलयालम एवं अन्य क्षेत्रीय बोलियों का कोई वजूद नहीं। आज भी भारत के गांवों का जन-गण-मन इन्हीं बोलियों में रचता बसता है। फिर भी हिंदी भाषा को स्थापित करने में बहुत-सी बोलियों को अपनी कुर्बानी भी देनी पड़ी है। आज वे बोलियाँ वजूद में ही नहीं हैं। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का अंतर्द्वंद्व तो सर्वविदित है लेकिन हैरानी की बात यह है कि हिंदी पट्टी में ही उसकी अनेक जनपदीय बोलियों और हिंदी के बीच आत्मसंघर्ष बना रहा। “कुछ लोग यह भी कहते हैं कि देश एक हिंदू संयुक्त परिवार की तरह है, जहाँ घर का बूढ़ा सब पर शासन करता है। भाई अलग हो जाए तो ज्यादा प्रेम रहता है। कहने का मतलब यह है कि यहाँ भी विभिन्न जातियों को केंद्रीय शासन में दबा कर रखा गया है। यदि ये प्रदेश अलग-अलग हो जाएँ तो इनमें अधिक प्रेम होगा। जनपदीय भाषाओं को हिंदी के अंतर्गत रखा जाए तो उनकी स्वाधीनता खत्म हो जाएगी, आपस में कलह उत्पन्न होंगी; दूसरी भाषा वाले हिंदी से डरने लगेंगे, इसलिए हिंदी जाति की एकता की बात करना गलत होगा।”⁷

यदि जनपदीय भाषाओं का अस्तित्व स्वतंत्र है तो प्रत्येक जनपद का एकीकरण जरूरी है। एक जनपद एक से अधिक प्रांतों में विभाजित हो उसके पीछे कोई तर्क नहीं है। यदि लोग जनपदीय भाषाओं को स्वतंत्र भाषाएँ मानते हैं तो उन्हें किसी एक जनपद की एकता का समर्थन भी करना चाहिए। लेकिन वे किसी जनपद की एकता की बात नहीं करते। वास्तव में जनपदों को विभाजित करना और उनके साथ जातीय प्रदेशों को विभाजित करना साम्राज्यवाद की नपी-तुली नीति थी। “अपनी भाषा, जाति, प्रदेश उसकी संस्कृति आदि पर गर्व करना बुरी बात नहीं है। इन अनेक जातियों से ही भारत राष्ट्र की रचना हुई है। इन प्रदेशों की विभिन्न संस्कृतियों से मिलकर ही भारतीय संस्कृति का निर्माण होता है। इसलिए अपने प्रदेश और उसकी संस्कृति को भुलाकर राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति की बात करना संभव नहीं है।”⁸ मीडिया में आई पतनशीलता के लिए तथाकथित मुख्यधारा के अखबार और महानगरों से निकलने वाले अखबार ज्यादा हैं। इन अखबारों ने एक तो क्षेत्रीय सूचनाओं को केंद्र तक पहुंचाने से रोका, दूसरे राजनीति और व्यवसाय की सूचना को ही अखबार के मुख्य सरोकार बनाते रहे। बेशक आज का दौर चुनौती से सामना करते हुए आगे बढ़ना एक सामान्य प्रकृति बन चुका है। पत्रकार अभय कुमार दुबे जी के अनुसार – “21वीं सदी में भी मीडिया की वास्तविक चुनौती वही है, जो 20 वीं सदी में थी। वह लोकतंत्र, नागरिकत्व, सामाजिक और सामुदायिक सहिष्णुता, मानवाधिकारों की जमीन उत्तरोत्तर मजबूत करने में कैसे योगदान करें, यह एक बड़ी चुनौती है उसके सामने। इसका हल उसे करना ही होगा। वरना उसका वजूद खतरे में पड़ जाएगा। यह लोकतंत्र और उसके नागरिक ही हैं जिनके लिए मीडिया खुद को बनाता है। अपराधियों, दलालों, पुराने सामंतों और ऐयाश लोगों को मीडिया की जरूरत नहीं होती। मीडिया का होना और नागरिक का होना एक-दूसरे का पर्याय है। यह परस्पर पूरकता बनी रहे; इसी में मीडिया का भविष्य सुरक्षित है।”⁹ पत्रकारिता की व्यापकता होने के बावजूद भाषायी अस्मिता, खासकर हिंदी पत्रकारिता अभी भी अनुवाद पत्रकारिता के लबादे से खुद को अलग नहीं कर सकी है। अभी भी अंग्रेजी में लिखी गई खबरों का अनुवाद हर संस्थान में होता है। इसकी उल्टी धारा कब बहेगी; इसकी रोशनी दूर-दूर तक दिखाई नहीं देती। इतना ही नहीं, अंग्रेजीदां लोग आज भी हर मीडिया संस्थान में सत्तासीन हैं और उनके द्वारा लिए गए

निर्णय ही दोयम दर्जे माने जाने वाले हिंदी पत्रकारों पर लागू होती है। दरअसल पत्रकारिता की सार्थकता सामाजिक जीवन को मूल्यगत प्रगति एवं समृद्धि प्रदान करने में है। यह सामाजिक जनमत को प्रतिबिंबित करती है, समाज को नीतिगत निर्देश देती है और समाज को मूल्यपरक मनोरंजक सामग्री प्रदान करती है। टिप्पणी, लेख, संपादकीय, अग्रलेख इत्यादि के द्वारा सामाजिक विचारों तथा भावनाओं को निजी दृष्टि, मूल्य और अनुभूतियों से युक्त कर प्रकट करती है। डॉ. शिवनारायण के अनुसार, “पत्रकारिता समाज की मान्यताएँ, रीति-नीति, समस्याएँ, आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों, धार्मिक शैक्षिक क्रांति को बिंबित, प्रतिबिंबित करती है।”¹⁰ समाज में मीडिया की भूमिका को लेकर कभी भी संदिग्ध की स्थिति नहीं बनी। खासकर स्थानीयता अथवा क्षेत्रीय मसले पर इस संदर्भ में काफी कम विचार हुआ है। क्योंकि यह दौर विमर्शों का है, तो क्षेत्रीय पत्रकारिता पर विचारना एक आवश्यक कर्म बन चुका है। इस संबंध में पत्रकार अजीत कुमार झा का महत्व स्पष्ट है- “स्थानीय अखबारों की समाज पर पकड़ मुख्यधारा के अखबारों की बनिस्पत ज्यादा है। ये अखबार स्थानीय स्तर पर घटित हो रही घटनाओं को प्रमुखता से छपते हैं; जबकि मुख्यधारा के अखबार स्थानीय खबरों को इग्नोर करते हैं। यह बात देखी गई है कि अपने यहाँ प्रायः अंग्रेजी अखबार का न्यूज कंटेंट हिंदी अखबारों की अपेक्षा बहुत कमजोर होता है। क्षेत्रीय अखबारों की समाज पर तो पकड़ अच्छी बात है, लेकिन विडंबना यह है कि इन अखबारों का स्वर कभी-कभी जातीय और धर्माधता को बल देने वाला हो जाता है।”¹¹

भाषा की स्थिति का वर्तमान दौर बड़ा ही निराशाजनक है। सूचना तकनीक के वर्चस्व ने आज चंद भाषाओं का ही दबदबा बढ़ाया है, जिसके नतीजे में तीसरी दुनिया की क्षेत्रीय भाषाएँ मरती जा रही हैं। बड़े पैमाने पर विस्थापन का दर्द झेल रहे हमारे गाँव की मौलिक बोलियाँ भी खत्म हो रही हैं। आगे भविष्य में उसी तरह भाषाओं और बोलियों के खोने के होने से मानव जीवन की महत्वपूर्ण कड़ियाँ विलुप्त हो जाएंगी। सुरीले गीत और धूनें, खेती की विधियाँ, चिड़ियों की बोली समझने की कला, देशज खगोल विज्ञान, पहेलियाँ और जीवन-चर्या की तमाम वैज्ञानिक जानकारीयाँ। अगर हम अपने अतीत में झाँक कर देखें तो इतिहास में जो भाषाएँ नष्ट हुई उनके अवशेष जहाँ-तहाँ पड़े शिलालेखों को अभी तक कोई नहीं पढ़ सका। कोई नहीं जानता कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में मिले अवशेषों में कौन सी भाषा थी। भविष्य में हिंदी को बचाने/बढ़ाने के लिए सर्वप्रथम उसकी उपभाषाओं, राज्य की जनपदीय/ क्षेत्रीय/ मातृभाषा/बोलियों को बचाना/ बढ़ाना होगा। वास्तव में इनकी प्रगति में ही हिंदी की प्रगति सन्निहित है। पत्रकारिता का धर्म भी यही है। जहाँ तक हिंदी की बात है तो उसके लिए सबसे बड़ी सुविधा यह है कि उसके पास जनपदीय भाषाओं का अपार भंडार है जिसका प्रयोग करके वह समावेशी, रचनात्मक और जीवंत हो सकती है। खासकर मीडिया की खिसकती जमीन को और मजबूत किया जा सकता है।

संदर्भ :

1. जनसंचार और हिंदी पत्रकारिता डॉ अर्जुन तिवारी, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 23
2. मीडिया का दिख रहा आचरण, संपादकीय विशेषांक, प्रभात खबर, 14 अगस्त 2017, पृ. 6
3. मीडिया विशेषांक, प्रभात खबर, 14 अगस्त 2017, पृ. 6
4. बेखबर बेखबर, डॉ मिथिलेश, दिशा इंटरनेशनल दिल्ली, पृ. 52
5. कथा क्रम- संपादक -शैलेंद्र सागर, वर्ष 18, अंक 68, अप्रैल से जून 2016, पृष्ठ 38 से 41
6. परस्पर भाषा साहित्य आंदोलन, राजीव रंजन गिरि, भूमिका
7. हिंदी जाति प्रतिरोध ही सौंदर्य है, आलोचना 2001, सहस्राब्दी अंक, पृ. 467
8. भारत की भाषा समस्या, डॉ रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ. 138

9. क्षेत्रीय पत्रकारिता के ग्लोबल फलक, संपादक- फैसल अनुराग, प्रकाशन संस्थान दिल्ली, पृ. 363
10. हिंदी पत्रकारिता का समकालीन विमर्श, डॉ .शिवनारायण, नटराज प्रकाशन दिल्ली, पृ. 98
11. क्षेत्रीय पत्रकारिता के ग्लोबल-फलक, संपादक- फैसल अनुराग, प्रकाशन संस्थान दिल्ली, पृ. 329



भोजपुरी और मातृभाषाओं के बारे में राहुल सांकृत्यायन के विचार

○ जितेन्द्र कुमार यादव

भोजपुरी को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की मांग लगातार उठ रही है। राजधानी दिल्ली में भी इसके लिए समय-समय पर आंदोलन और प्रदर्शन हुए हैं। प्रवासी लोगों में भोजपुरी अस्मिता अपनी जगह बनाती जा रही है। लेकिन क्या आप जानते हैं कि भोजपुरी समाज की संकल्पना को सबसे पहले राहुल सांकृत्यायन ने आधार दिया। हालांकि राहुल जी को पैंतीस से अधिक भाषाओं का ज्ञान था। वे देश दुनिया के प्राचीन और अर्वाचीन सभी ज्ञान परंपराओं से परिचित थे। उनका जीवन एकरैखीय न हो कर बहुआयामी रहा है। एक मठ के बाल संन्यासी से, नास्तिक और बौद्ध दर्शन की विराटता तक की यात्रा उन्होंने तय की। लेकिन इस सब के बावजूद सबसे उल्लेखनीय बात है कि उन्होंने कभी भी अपनी मातृभाषा भोजपुरी को नहीं भुलाया। न केवल वैचारिक रूप में बल्कि सर्जनात्मक रूप में भी उन्होंने भोजपुरी को समृद्ध किया। 'तीन नाटक' और 'पांच नाटक' नाम से उन्होंने आठ नाटक भोजपुरी में लिखे। अपने वैचारिक निबंध 'राहुल निबंधावली' में उन्होंने हिंदी की बोलियों में फैले ज्ञान परंपराओं को प्रमुखता से उजागर किया है। सार्वजनिक मंचों से भी राहुल जी ने भोजपुरी व अन्य मातृभाषाओं के लिए आवाज उठाई।

राहुल सांकृत्यायन भोजपुरी को हिन्दी की 'बोली' नहीं मानते थे। वे उत्तर भारत की सभी बोलियों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते थे। 'हिन्दी लोक-साहित्य' नामक निबंध में राहुल जी ने लिखा, "हमारे अहिन्दी भाषी भाई समझते हैं कि उत्तर में एक ही हिन्दी भाषा है, बाकी उसी की छोटी-छोटी बोलियाँ हैं। पर मैथिली, अवधी, ब्रज और मारवाड़ी को कौन बोली कह सकता है, जिनका काव्य साहित्य हमारी हिन्दी से कहीं अधिक पुराना और गुण तथा परिमाण में अधिक नहीं तो कम समृद्ध नहीं है। वस्तुतः वह बोलियाँ नहीं, साहित्यिक भाषाएँ हैं।" साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि, 'किसी भाषा को केवल इसीलिए बोली नहीं कहा जा सकता कि उसका साहित्य लिपिबद्ध नहीं हुआ।' आज भी इन भाषाओं (भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि) के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। अकादमिक जगत में भी यही पढाया जाता है कि हिन्दी ही एक भाषा है और भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि 16 उसकी बोलियाँ हैं। आधुनिक काल से पहले अवधी, ब्रज, राजस्थानी के साहित्य को हिंदी भाषा के अंतर्गत महत्वपूर्ण स्थान है, लेकिन उन्हें आधुनिक काल में बोली नाम देकर हाशिये पर ढकेल दिया जाता है। दरअसल, भाषा और बोली एक राजनैतिक अवधारणा है। भाषा विज्ञान के अनुसार भाषा-बोली में कोई मूलभूत अंतर नहीं होता। 'हिंदी शब्दानुशासन' लिखते हुए किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा, 'पहले मैं भी अवधी, राजस्थानी, कूर्माचली आदि भाषाओं को स्वतंत्र न मानकर 'हिंदी की बोलियाँ' मानता था। परंतु 'भारतीय भाषा विज्ञान' लिखते समय जब भाषा की परिभाषा की तो मत बदल गया और निश्चय हुआ

कि अवधी, पांचाली, राजस्थानी आदि स्वतंत्र भाषाएँ हैं। इन सबके अपने-अपने स्वतंत्र नियम और विधि विधान हैं।”¹²

रामविलास शर्मा की जातीयता की अवधारणा का उद्धरण देकर बताया जाता है कि हिन्दी जातीय भाषा है। यह जातीयता क्या चीज है और यह इस हिन्दी प्रदेश में कैसे लागू होती है, यह बताने की जरूरत न रामविलास जी ने समझी, न उनके अनुयाइयों ने। अगर गौर से देखें तो यह ‘जातीय’ शब्द बहुत भ्रामक है। इस शब्द से ऐसा आभास होता है कि हिन्दी सम्प्रेषण की भाषा के साथ-साथ संस्कृति की भी भाषा है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हिन्दी मुख्यतः संपर्क भाषा है। संस्कृति की वास्तविक वाहक हमारी मातृभाषाएँ हैं, जिन्हें दोयम दर्जे पर रखा गया। आज जिसे हिन्दी भाषा के नाम से अभिहित किया जाता है दरअसल वह पढ़े-लिखे मध्यवर्ग और महानगरों की भाषा है। हिन्दी ‘जरूरत’ की भाषा है, संस्कृति की वास्तविक वाहक हिन्दी की क्षेत्रीय भाषाएँ ही हैं। हिन्दी जाति की अवधारणा में ‘जातीय भाषा’ और ‘जातीय संस्कृति’ को हवाई कल्पना ही की गई। राहुल जी मातृभाषाओं और संस्कृतियों के संबंध को समझते थे। 1947 में अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन (बम्बई) के मंच से बोलते हुए राहुल जी ने कहा, “इन भाषाओं (मातृभाषाएँ) के साथ भाषा क्षेत्रों की संस्कृति का भी घनिष्ठ संबंध है। वैसे सारे भारतवर्ष की एक संस्कृति है, लेकिन प्रांतों के अनुसार उसमें अवांतर भेद भी है। वैसे ही हमारे हिन्दी के मातृभाषा क्षेत्र में भी संस्कृतियों के कुछ अवांतर भेद हैं। जन-कविता कला, लोकोक्ति आदि के रूप में बहुत भारी निधि इन मातृभाषाओं के भीतर सुरक्षित है, जिसकी भी रक्षा हमें करनी चाहिए और उसके लिए हमें उन्हें उनका उचित स्थान प्रदान करना चाहिए।”¹³

राहुल जी का मानना था कि जिस व्यवस्था में शासन की भाषा और जनता की भाषा में भेद होगा, उस देश में वास्तविक लोकतंत्र कभी आ ही नहीं सकता। राहुल जी भाषाई आधार पर राज्यों के बँटवारे के पक्षधर थे। उनका मत था कि सभी राज्य अपनी-अपनी मातृभाषाओं में प्राथमिक शिक्षा दें और राज्यों का समूचा काम-काज भी उसी भाषा में हो। पूरे मुल्क को कुछ ही वर्षों में शिक्षित करने की योजना थी उनकी। केवल बच्चे ही नहीं वयस्क शिक्षा के बारे में भी राहुल ने उसी समय सोचा था। उनका ही विचार था कि मातृभाषाओं के अलावा अगर हम किसी भी दूसरी भाषा में शिक्षा देते हैं तो पचासों वर्ष के बाद भी हमारी बहुत बड़ी आबादी निरक्षर और मूढ़ बनी रहेगी। 1947 में दूसरे अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन (गोपालगंज) के मंच से बोलते हुए राहुल जी ने कहा, “ई लोग के राज तबे नीमन चली, जब लोग हुसियार होई। राजनीति के बात दू चार गो पढ़ुआ जाने, अब ए से काम ना चली। जवना से लोग आपन नफा-नोकसान समझे आ उ बूझे कि दुनिया जहान में का हो रहल बा तवन उपाय करे के पड़ी। एकर मतलब ई बा कि अब लोगवा के मूढ़ रहला से काम ना चली। लोग कइसे सग्यान होई, एकर एके गो उपाय हवे कि सब लोग पढ़े-लिखे जाने। खासी लइके ना, बूढ़ो जवान के अंगुठा के निसान के बान छोड़ावे के परी। अंगरेज के राज रहल त ओकनी के फायदा एही में रहल कि समूचा हिन्दुस्तान के लोग मूढ़ बनल रहे। चोर के अजोरिया रात न लुभावे भावे। लेकिन अपना देश में केहू बेपढ़ल ना रहे। एकर कौन रहता बा। केहू भाई कही कि सबकरा के हिन्दी पढ़ावल जाव। बाकी ई बारह बरिस के रहता ह। जो हिन्दी में सिखावै-पढ़ावै के होई त पचासो बरिस में हमनी के सब लइका परानी पढ़ुआ ना बनब। आवेवे हमनी के दसे-पनरह बरिस में समूचा मुलुक के पढ़ा देवे के ह। कइसे होई ई कुलि। ... अपना भाखा में पढ़ल-लिखत कवनो मुसकिल नइखे। खाली ककहरे नू सोखे के परी।”¹⁴ दुनिया के सभी शिक्षाविद् मातृभाषाओं में शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हैं। देश की बहुत बड़ी आबादी के घोर अशिक्षा का कारण हमारी भाषानीति ही रही है। खासकर प्राथमिक शिक्षा का माध्यम कोई ‘सकेंड’ भाषा नहीं होनी चाहिए।

राहुल जी के विचार लोक और शिष्ट साहित्य की दूरी को मिटाते हैं। साहित्य और संस्कृति पर एक खास

वर्ग के एकाधिकार के विरोधी थे, राहुल जी। 'नईकी दुनिया' (नाटक) की जगरानी भी लेखकों की जमात में शामिल है। 'सारन समाचार' में उसकी लिखी कथा के साथ-साथ उसका फोटो भी प्रकाशित होता है। नाटक का पात्र बटुक पूछता है - "बोलु इयवा! पुरनकी दुनिया में लिखाड़िन में तोर नाम होइत?" जगरानी कहती है- "लिखाड़ी! जिनगी भर रमायन पढ़त रहि गइनी, अच्छर लिखहू ना सिखले रहनी। इ त नईकी दुनिया में जब अपनी बोली के केताब आ अखबार छपे लागल, तब नु हमरौ चाटक खुलल हा?" वास्तव में भाषा के बैरियर के कारण हम बहुत सारी संवेदनाओं और ज्ञान राशि से अनभिज्ञ रह जाते हैं। अगर इन लोक भाषाओं और लोक साहित्य को समुचित सम्मान मिले तो साहित्य और विचार की दुनिया के पारंपरिक प्रतिमान टूट जायेंगे। लोक में आज भी ज्ञान का भंडार भरा हुआ है। भाषाई पूर्वग्रहों के कारण ज्ञान की एक बहुत बड़ी दुनिया से ही कटे हुए हैं।

हमारी भाषा नीति के कारण अभी भी इस देश की बहुत बड़ी आबादी दायम दर्जे की नागरिक बनी हुई है। समूचे ज्ञान-विज्ञान पर अंग्रेजीदां वर्ग का कब्जा है। हमारे देश का समूचा शोध और उच्च अध्ययन अंग्रेजी में हो रहा है जो गिने-चुने लोगों के हाथ में है और उन्हीं के लिए है। बम्बई वाले भाषण में राहुल जी ने कहा - (कुछ लोग) "अब भी अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाये रखने का आग्रह करते हैं। यह भी दासता के अभिशाप का अवशेष है।" हिन्दी को सम्पर्क भाषा के रूप में राहुल जी देखते थे। उसी अधिवेशन ने उन्होंने कहा, "अपने क्षेत्र में वहाँ की भाषा ही सर्वे-सर्वा होगी। हिन्दी का काम तो वहाँ ही पड़ेगा, जहाँ एक प्रांत का दूसरे प्रान्त से सम्बंध होगा।"

राहुल जी ने इन सभी बातों को अपने व्यवहार में भी अपनाया। अपने छपरा प्रवास के राजनीतिक जीवन के बारे में बताते हुए राहुल जी ने लिखा, "मुझे याद नहीं कि अपने राजनीतिक जीवन के समय छपरा में मैंने कभी भोजपुरी छोड़कर हिन्दी में भाषण दिया हो।" दरभंगा में कौंसिल चुनाव प्रचार का जिक्र करते हुए 'मेरी जीवन यात्रा' में राहुल जी ने लिखा है कि "मैंने छपरा की बोली में भाषण शुरू किया, दो ही मिनट में किसानों के सिर हिलने लगे, फिर तो सभापति ने उज्र पेश कर हिन्दी में भाषण देने के लिए जोर दिया, कि लोग छपरा की बोली नहीं समझते। मैंने जनता से पूछा- यदि आप लोग मेरी भाषा नहीं समझते तो क्या करूँगा, उर्दू-फारसी में बोलने की कोशिश करूँगा। जनता ने एक स्वर में कहा - नहीं, हम आपकी भाषा खूब समझते हैं। जिसमें हम समझ न पावें, इसके लिए यह चालाकी चली जा रही है।"⁵

मातृभाषाओं के आग्रही राहुल की विश्वदृष्टि बहुत व्यापक थी। उन्होंने दुनिया के तमाम देशों की यात्राएँ कीं, उनके साहित्य और जनजीवन को बहुत करीब से देखा। वे दुनिया की बहुत सारी भाषाओं को जानते थे। जहाँ गये, वही की भाषा को अपना बना लिया। लेकिन मातृभाषाओं के सवाल पर बिल्कुल अडिग थे। उन्हें बताया कि मातृभाषाओं के ज्ञान के बिना व्यक्ति अपने सामाजिक परिवेश और प्रकृति के प्रति असंवेदनशील हो जाएगा। अपनी संस्कृति, परंपरा और लोक से कटा हुआ व्यक्ति बगैर जड़ का होता है, जिसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता।

आज जब सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का खतरा मँडरा रहा है। वैश्वीकरण की बाढ़ में हमारी भाषा-संस्कृति बहती चली जा रही है। बाजार अपना तर्क देकर छोटी-छोटी भाषाओं और संस्कृतियों को नष्ट करने पर तुला हुआ है। ऐसे समय में राहुल जी का याद आना लाजमी है। लोक भाषा और लोक-संस्कृति के लिए जब भी कोई आवाज उठेगी, तब राहुल जी जरूर याद आएंगे।

संदर्भ :

1. राहुल सांकृत्यायन, राहुल निबंधावली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड, 1970, पृ. 68

2. किशोरी दास वाजपेयी, हिंदी शब्दानुशासन, काशी प्रचारिणी सभा, काशी, 1958, पृ. 9
3. राहुल सांकृत्यायन, अभिनवकदम, 2008, पृ. 147
4. वही, पृ.151
5. राहुल सांकृत्यायन, मेरी जीवन यात्रा भाग-1, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014, पृ. 308



उदय प्रकाश की कहानियों में 'सत्ता' और 'सिस्टम' की संवेदनहीनता का यथार्थ

○ हरे राम सिंह

हिंदी कथा-साहित्य को कथाकार उदय प्रकाश ने एक नई ऊंचाई दी है। उनकी कहानियों में उत्तर आधुनिक काल के विभिन्न आयामों के दर्शन होते हैं। ऐसे तो उत्तर आधुनिकतावाद के पैरवीकारों ने 'विचारधारा का अंत' का नारा देकर हर विमर्श, हर विचार, हर दृष्टि को फिजूल घोषित कर दिया है पर उदय प्रकाश की कहानियाँ उत्तर-आधुनिक युग का सच होती हुई भी विमर्शों, विचारों, दृष्टियों से अलग नहीं हैं। वे एक गहरी अंतर्दृष्टि, बेचैनी, विमर्श और एक खास वातावरण की उपज हैं। उनकी कहानियों में 'वेदना' की जगह 'अंत' ने ले रखा है और उस 'अंत' में भी जीवन को एक दिशा मिल जा रही है। उनकी कहानियों को 'दिशा विमुक्त' कह कर 'आउट' नहीं की जा सकती, क्योंकि उनकी कहानियों में 'दक्षिण-पंथ' के खिलाफ मोर्चा खोला गया है। उदय प्रकाश प्रकृति और प्रेम की उदास भूमि पर कहानियों का सृजन करते हैं। 'पीली छतरी वाली लड़की' और 'मोहनदास' में उन्हें उस प्यास के लिए तड़पते हुए देखा जा सकता है जिस पर पूरी मानव जाति का संवेदनात्मक जीवन आधारित है। प्रेम के प्रति उत्कटता उनकी कहानियों का खास अभिप्राय है ताकि यह जीवन खोखला होते हुए भी, दबाव और संघर्षों के बीच भी पौधों की तरह पानी पाकर कुम्हला उठे। उत्तर-आधुनिक समय का यह सच है कि निराशा और टूटन जीवन के सौंदर्य को, स्वप्न को, अभिप्राय को अर्थहीन बनाने से नहीं चूका है। मनुष्य नाम का जीव जीवन के लिए, पेट के लिए, एक मुस्कुराहट के लिए तरस गया है कारण कि मनुष्य खिलौने में तब्दील हो गया है और उसे अहसास हो गया है कि वह जो कुछ कर रहा है दूसरों की शर्त पर कर रहा है। वह नाच रहा है और नचाने वाला इतना शक्तिशाली और आक्रामक है कि उसके आगे सारे लोग बौने बना दिए गए हैं। 'सिस्टम' उसी से नियंत्रित और निर्देशित हो रहा है। वही स्वप्न दिखा रहा है और वह इंसान की जान भी ले रहा है। आम लोगों का अपना न तो स्वप्न है, न अपनी कोई स्वतंत्रता, न कुछ शेष। उदय प्रकाश की कहानी 'पीली छतरी वाली लड़की' दलित विमर्श, इतिहास और सत्ता के खेल को, प्रेम को, दक्षिण पंथ को, राजनीति को, शिक्षा को, विश्वविद्यालय को, कवि और लेखक को, संस्थानों को, जाति को, सामाजिक ताना-बाना को, युवा को, मठाधीश को बेनकाब करने वाली कहानियों में से है। शैवाल की कहानी 'दामुल' जिस तरह सवर्णों के सोचने के तरीकों और उनके काम करने की पद्धतियों पर सवाल उठाती है, साथ ही उनके वर्गीय हितों और चाल को सामने लाकर उन्हें नंगा करने से नहीं चूकती; ठीक उसी तरह उदय प्रकाश की कहानी 'पीली छतरी वाली लड़की' आज के विमर्शों और मानिंदों के खोखलेपन को सामने लाकर खड़ा कर देती है। यह कहानी कहीं से भी ऐसी नहीं लगती, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि 'विचारधारा का अंत' का सपोर्ट कर रही हैं। हाँ, इतना जरूर है कि एक खास विचार के ताने-बाने के भीतर 'वनमानुष'

जो जी रहे हैं उन्हें तथा उनके चरित्र को उभारकर यह बताने की जरूर कोशिश करती है कि विचारधारा का अंत नहीं हुआ है।

कभी सुधि आलोचक रामविलास शर्मा ने 'जातीय-संस्कृति' की पैरवी करते हुए कम्युनिज्म को अपने यहाँ स्वीकारने की सलाह दी थी, पर उनकी सलाह कुछ साथियों व राजनीतिज्ञों को नागवार लगी, पार्टी लाइन से बाहर चलने के अपराध में उन्हें पार्टी से बाहर निकाल दिया गया। उस घटना को सुनकर ऐसा लगता है कि विचारधारा भी कुछ लोगों की गुलाम बन जाती है, जिसे वे अपनी मुट्ठी में कैद कर लेते हैं। उत्तर-आधुनिक समय का यह भी एक सच है कि विचार व संगठन इसी वजह से दम तोड़ रहे हैं, लेकिन उसका दूसरा पक्ष यह भी है कि कई लंपट-होशियार किसी विचारधारा, व्यक्ति और प्रेम को नष्ट करने के लिए ऐसे लोगों से अक्सर मिल जाते हैं जो कहीं न कहीं, आदमियत के दुश्मन हैं, जीवन के दुश्मन हैं। 'पीली छतरी वाली लड़की' का नायक राहुल ऐसे लोगों का शिकार होता है और उसे इसकी सजा मिलती है। यह कहानी राहुल जैसे पात्रों के माध्यम से यह कहती है कि प्रेम करना इन दिनों किसी खतरे से कम नहीं, जिंदगी को या कहे अपने को बचाने के लिए उसके प्रवाह में जाने के लिए कुछ समय के लिए खुद को रोकना जरूरी है। यह कहानी व्यक्तिवाद और हिन्दुत्व की चरम परिणति की गवाह भी है। इस कहानी के मार्फत उत्तर भारत की राजनीति को भी आसानी से समझा जा सकता है; जहाँ दलितों-पिछड़ों के छात्रों के बहाने पूरे सवर्णों की मानसिकता प्रकट हुई है। उदय प्रकाश ने अपनी इस लंबी कहानी में इतिहास को, और वर्तमान के ऐतिहासिक विमर्शों को भी स्पेस दिया है। उन्होंने लिखा है, "इतिहास असल में सत्ता का एक राजनीतिक दस्तावेज होता है... जो वर्ग, जाति या नस्ल सत्ता में होती है, वह अपने हितों के अनुरूप इतिहास को निर्मित करती है। इस देश और समाज का इतिहास अभी लिखा जाना बाकी है।"¹

इसका साफ मतलब है कि यहाँ का अधिकतर लिखा गया इतिहास आख्यानपरक है। या जो है वह सत्ता और वर्चस्व में रहने वाली जातियों का अपने पक्ष में छवि गढ़ने के उद्देश्य से लिखा गया इतिहास है। पिछड़े वर्गों में कुशवाहों (कछवाहे) यादवों (अहीरों), कुर्मियों, जाटों के इतिहास तो कुछ हद तक लिखे मिल जाते हैं पर औरों का मिलना मुश्किल है। मैनेजर पाण्डेय 'उपन्यास और लोकतंत्र' (2018) पुस्तक में 'इतिहास' और 'उपन्यास' पर, 'तथ्य' और 'कल्पना' पर काफी कुछ लिखा है। उन्होंने इतिहासकार ई.एच. कार की पुस्तक 'इतिहास क्या है?' से पंक्तियों को उद्धृत करते हुए उसके निष्कर्ष से परिचित कराते हैं- "इतिहास मुख्यतः व्याख्या पर निर्भर होता है।"²

क्योंकि ई.एच. कार ने लिखा था कि, "पचास वर्षों तक इतिहास के क्षेत्र में काम करने के बाद मुझे लगा कि इसे उलट देना ठीक होगा।"³

उनका उलटने का अर्थ था कि इतिहास में अब तथ्यों की जगह व्याख्या ने ले लिया है। इस कहानी के पात्र राहुल के प्रति कई तरह की अफवाहें उड़ाई गई हैं। अफवाह फैलाने में सवर्ण माहिर हैं। इसका शिकार राहुल होता है। उदय प्रकाश ने बड़ी ईमानदारी से आदिवासियों के संघर्षों को अपनी कहानी में, और कहानी को मजबूती के साथ खड़ा करने में एक टेक्निक के तौर पर अपनाया है।

इस कहानी के पात्र किन्तु दा राहुल से कहते हैं, "आदिवासियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी जरूरतें सबसे कम हैं। वे प्रकृति और पर्यावरण का कम से कम नुकसान करते हैं। सिंहभूम, झारखंड, मयूरभंज, बस्तर और उत्तर पूर्व में ऐसे आदिवासी समुदाय हैं जो अभी तक छिटवा या झूम खेती करते हैं और सिर्फ कच्ची, भुनी या उबली चीजें खाते हैं। तेल में फ्राई करना तक वे पसंद नहीं करते। वे प्रकृतिक मनुष्य हैं। अपनी स्वायत्तता और संप्रभुता के लिए उन्होंने भी ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ महान् संघर्ष किया था। लेकिन इतिहासकारों

ने उस हिस्से को भारतीय इतिहास में शामिल नहीं किया।”⁴ अंजली और राहुल का प्रेम तो बस बहाना मात्र है—असल मकसद तो विश्वविद्यालय, राजनीति, इतिहास, दलितों के साथ हो रहे अन्याय की कथा को सविस्तार देना है।

उदय प्रकाश ने इस कहानी में सवर्णों की मानसिकता की पोल खोली है। जिसमें सवर्ण अंबेडकर को अंग्रेजों का एजेंट कहा करते थे। उन्होंने कहानी में लिखा है— “ले देकर कभी-कभार डॉक्टर अम्बेदकर का नाम आता था, जो दलित थे और प्रकांड प्रतिभा के कारण उन्हें आजाद भारत का संविधान बनाने का काम सौंपा गया था, लेकिन उनके बारे में भी प्रचार कर दिया गया था कि वे अंग्रेजों के एजेंट थे और हिंदू धर्म को खत्म करके बौद्ध धर्म को स्थापित करना चाहते थे यानी नायक से ज्यादा खलनायक थे।”⁵

ऐसा अक्सर होता है कि दलित पिछड़े वर्गों को ऊंची जाति वाले इतने तवज्जो नहीं देते हैं और उनके संबंध में कई तरह की शंकाएँ पैदा करना उनके अभियान के अंग होते हैं। बिहार के लेनिन जगदेव प्रसाद को भी उन लोगों ने ‘महिषासुर’ से तुलनाकर उन्हें बदनाम करने की कोशिश की। ‘हंस’ के दिसंबर, 2000 के अंक में ‘पीली छतरी वाली लड़की’ का समापन किस्त छपा था। इस किस्त में ‘रीतिकाल कविता’ के सहारे विश्वविद्यालय के मठाधीश एवं गुरुजनों की कलई खोली गई है कि वे भी रीतिकालीन हैं यानी मध्यकालीन हैं...! इस कहानी के पात्र भूतपूर्व प्राचार्य प्रभु नारायण मिश्र, पद्मश्री डॉ. राजेंद्र तिवारी की तंगदिली और जातिवादी मानसिकता सामने आती है जो इस व्यवस्था पर काबिज हैं। उनके संबंध में कुछ व्यंग्य के साथ उदय प्रकाश ने उनका परिचय निम्नवत् दिया है, “शैलेंद्र जॉर्ज ने बताया कि उन चार कुर्सियों में से एक पर कुलपति अशोक कुमार अग्निहोत्री, तीसरी पर विभागाध्यक्ष एस.एन. मिश्रा, सबसे किनारे वाली बांयी ओर की चौथी कुर्सी पर पद्मश्री डॉ. राजेंद्र तिवारी और दाहिनी ओर की कुर्सी पर नंबर दो, यानी कुलपति और विभागाध्यक्ष के बीच पर आसीन होंगे बी.एच.यू. के भूतपूर्व प्राचार्य त्रिभुवन नारायण मिश्र, रीतिकालीन कविता के उद्भूत विद्वान और बिहारी ‘सतसई’ के तथाकथित सर्वश्रेष्ठ पाठ के संकलनकर्ता, देश के समस्त विश्वविद्यालयों और हिंदी के समस्त अखबारों में नियुक्तियों के महाबली, तिकड़मी चाणक्य। हर इंटरव्यू कमेटी के शाश्वत सदस्य। सैकड़ों हिन्दी संस्थानों के सलहकार।”⁶

उदय प्रकाश का इतना लिखना, पाठकों को समझने के लिए काफी है। आज सवर्ण जातियों को दस प्रतिशत आरक्षण अलग से है। उसे आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग का आरक्षण बता पिछड़ी जातियों को छला व भ्रमाया जा रहा है। विश्वविद्यालयों की नियुक्तियों का फिलहाल का आंकड़ा देखा जाए तो यही मिश्रा, त्रिपाठी, अग्रवाल, सिंह आदि साठ प्रतिशत पदों पर कब्जा जमाए हैं। चैतन्य महाप्रभु और महात्मा गांधी के क्रमशः फूटी हुई ढोलक व टूटे चश्मे के बगल में ‘सापाम’ की लाश की कल्पना से कहानी अपने औचित्य साबित कर दे रही है। ‘अनामदास का पोथा’ के रैक्व, ‘रोमियो जूलियट एंड डार्कनेस’ में नात्सी फौजों की बूटों से यह कहानी और गंभीर हो गई है। उदय प्रकाश ने सरकार और रावण की संततियों का गंगा यथार्थ इस कहानी में प्रकट किया है। उन्होंने उनके बारे में लिखा है कि, “वही ‘क्रिटर्स’ जिन्होंने शताब्दियों से अन्याय, अतिचार, भ्रष्ट आचरण और भोगवाद का अश्लील नरक यहाँ पैदा कर रखा है। उसी रावण की संततियाँ जिसने सीता का अपहरण करके राम का समूचा निर्वासित जीवन तबाह कर डाला था।”⁷

आज वही हर जगह डंका बजा रही है और उसके बहकावे में पूरी तरह चले जा रहे हैं। ‘देवी जागरण’ आज क्या सवर्ण, क्या अवर्ण सभी घरों में जोरों से हो रहा है। मंदिर निर्माण के नाम पर गरीबों का शोषण हिन्दुत्व के नाम पर हो रहा है। गांव इन्हीं देवस्थानों की वजह अपनी सामाजिक एकता और सौहार्द को खो रहा है। कुछ हद तक हिंदुत्व की भावना भी तालिबानियों की तरह होती जा रही है, ऐसे में जिंदगी को जीना मुश्किल भरा

हो गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसे तो मार्क्सवादी नहीं थे। किंतु उन्हें भारत को लेकर गहरी चिंता थी। उन्होंने ‘भारत को क्या करना चाहिए?’ आलेख में लिखा है, “महत्त्व के लिहाज से जिस चीज पर हमें सबसे पहले ध्यान देना चाहिए, वह है सामाजिक बुराइयों को दूर करने का काम, क्योंकि इनका असर सीधे उस सामाजिक स्रोत पर पड़ता है, जहाँ से हमें प्रत्येक क्षेत्र में काम करने के लिए कार्यकर्ता प्राप्त होते हैं यदि आप उस रचनात्मक शक्ति की उपेक्षा करेंगे तो कायदे से आप कहीं से कुछ भी उम्मीद नहीं कर सकते।”⁸

लेकिन अपने देश का दुर्भाग्य है कि अपने देश में सामाजिक बुराइयाँ आजादी के 75 वर्ष बाद भी नहीं समाप्त हुई हैं। शिक्षा के दायरे को बढ़ाकर और ज्यादा लोगों को संस्कृत बनाने की जगह हमने उस दायरे को संकुचित कर दिया है। ‘पीली छतरी वाली लड़की’ कहानी इसकी गवाह है। शायद रामचंद्र शुक्ल होते तो उन्हें दुख ही होता। उदय प्रकाश ने इस कहानी के माध्यम से एक बड़े विमर्श की भूमि तैयार की है जिसमें इस देश का भविष्य छुपा हुआ है और यह भी कि कमजोरों के लिए यह मुल्क नहीं है !

उनकी कहानी ‘मठाधीश’ (2009) में एक निरीह, कमजोर, सड़क छाप, मरियल, भुक्कड़ कुत्ते को एक चबूतरे पर बैठा आदमी ढेला मार देता है। इस कहानी का पात्र ईश्वर जब आदमी से पूछता है कि वह ऐसा क्यों किया? तो इस पर वह उत्तर देता है, “बस मार दिया। यों ही। इससे क्या फर्क पड़ता है?”⁹

आमीर धनाढ्य लोग इस लोकतंत्र में भी आम आदमी के साथ ऐसा ही व्यवहार करते हैं जैसा कि कुत्ते के साथ होता है। सामंती युग में तो यह एक आम बात थी। जमींदार के बेटे अक्सर आम जनो के साथ ऐसा ही बर्ताव करते थे। लेकिन इस कहानी का एक भाव उस वक्त उभरकर सामने आता है जब वह आदमी बताता है कि, “ईश्वर, मैं खुद नहीं जानता कि मेरे साथ क्यों ऐसा होता है। जब भी मैं किसी कमजोर, लाचार, अकेले, दीन-हीन, अहिंसक, दरिद्र को देखता हूँ, मेरे भीतर अपने आप हिंसा और पैदा हो जाती है। मैं ऐसे किसी जीव को, वह मनुष्य हो या कुत्ता, बर्दाश्त नहीं कर पाता, जो निर्बल गरीब और सत्ताहीन हो।”¹⁰

आज आम आदमी कुत्ते की जिंदगी जीने पर विवश है। उसके अधिकार कहने मात्र के हैं। जो सत्ता में नहीं है वह कुछ भी नहीं है। निरीह प्राणी के लिए यह धरती है ही नहीं, क्योंकि बर्बरता मनुष्य का सहजात गुण है जो कमजोर की को निगल जाती है। उदय प्रकाश कहीं न कहीं इस कहानी के द्वारा यह बताने की कोशिश करते हैं कि दुनिया कमजोरों, सत्ताहीनों के लिए नहीं रह गई है। जो लोग ताकतवर हैं, हिंसक हैं, जिनसे लोगों को भय है- उनके प्रति लोगों की श्रद्धा है, लोग उनकी प्रशंसा करते हैं...! और यह सच है।

‘मठाधीश’ कहानी का अंत भी बड़ा रोचक है। कुत्ते का घाव ईश्वर के हथेली स्पर्श से भर जाता है। उसकी भूख मिट जाती है। ईश्वर उससे कहता है कि तुम जैसा तय करोगे वैसा ही दंड उस व्यक्ति को मिलेगा, जिसने तुम्हें मारा है। इस पर वह उसे पिछले मानव संसाधन मंत्री से लेकर अब तक सत्ता में हुए फेरबदल के बारे में बताता है और अंत में कहता है, “ईश्वर मैं चाहता हूँ कि आप इसे कहीं का मठाधीश बना दीजिए।”¹¹

कुत्ते के इस जवाब से ईश्वर और उस आदमी की आंखें फैल जाती हैं जो कुत्ते को ढेले से मारा था। कुत्ता बताता है कि वह पिछले जन्म में मठाधीश था। यहाँ आकर उदय प्रकाश ने इस कहानी के मार्फत इशारा किया है कि मठाधीशों और कुत्ते के बीच गहरा रिश्ता है जो बहुत पुराना है। राजनीति, साहित्य, कला, आदि क्षेत्रों में ऐसे मठाधीशों की भरमार है। कुत्ते की गर्दन में किसी मालिक का पट्टा नहीं है। आज हर कोई चाहता है कि उस पर किसी मजबूत का छत्रछाया हो। जिसके पास यह छत्रछाया नहीं, वह निश्चित ही कमजोर है। वह कब और कहाँ मार दिया जाएगा कहना कठिन है। ‘पीली छतरी वाली लड़की’ कहानी में भी हैं और उदय प्रकाश की ‘मोहनदास’ कहानी का विश्वनाथ सच पूछा जाए तो सांपनाथ है। उसके चरित्र को समझना, एक

घाघ, एक धूर्त, एक खतरनाक चरित्र को समझना है। वह ओरिएंटल कोल माईस में मोहनदास बनकर सुपरवाइजर का काम पिछले चार साल से कर रहा है और दस हजार महीने पगार ले रहा है। उसका बाप महेंद्रनाथ दफ्तर के बाबू को पटाकर मोहनदास विश्वकर्मा वाली नौकरी का लेटर अपने आवारा बेटे बिसनाथ को दे दिया है और मोहनदास प्रथम श्रेणी में ग्रेजुएट होने के बाद, प्रमाण पत्रों के बावजूद भी नौकरी नहीं कर पाता है और वह इस कहानी में इतना विवश, लाचार हो गया है कि वह खुद कह रहा है कि मैं मोहन दास नहीं हूँ। उदय प्रकाश ने लिखा है, “मोहनदास सामने खड़ा है और अपनी कांपती हुई कमजोर आवाज में कह रहा है, ‘काका, किसी तरह बचा लीजिए! मैं आपके हाथ जोड़ता हूँ... बाल-बच्चे हैं मेरे! उधर बाप मर रहा है टीवी से!... आप कहें तो मैं आपके साथ चल कर अदालत में हलफनामा देने के लिए तैयार हूँ कि मैं मोहनदास नहीं हूँ। मैं इस नाम के किसी आदमी को नहीं जानता ! कोई और होगा मोहनदास! बस मुझे किसी तरह बचा लीजिए!”¹²

इस पूरी कहानी में मोहन दास के पिता, माँ, पत्नी, पुत्र, पुत्री का जितना दारूण चित्र उदय प्रकाश ने खींचा है उसे देखकर प्रेमचंद की कथाएँ याद आ जा रही हैं। प्रेमचंद के ‘दूध का दाम’ कहानी में गूढ़ और भूँगी का लड़का मंगल कुत्ता टॉमी के संग जूठन खाने को बाध्य है। मोहन दास का बेटा, उम्र आठ साल, स्कूटर मोटरसाइकिल के छोटे-मोटे रिपेयर में हेल्पर का काम कर अपना पेट भरता है। और छह साल की बेटी शारदा, बिछिया टोला जो उसके घर से ढाई किलोमीटर दूर है, विश्वनाथ प्रसाद के यहाँ, एक साल के बेटे को संभालने जाती है और घर के कुछ काम भी करती है। उदय प्रकाश की कहानियों के पात्र बिडंबना के उदाहरण हैं। उनकी कहानियाँ त्रासद जीवन को उभारकर उस मूल्यहीनता से परिचित कराती हैं जिसका शिकार आज पूरा समाज है।

‘मोहनदास’ कहानी में कई बार कठिना नदी और मलइहा देवी उपस्थित होकर मोहनदास के पारिवारिक जीवन और परिदृश्य को उभारने में योग देती हैं। गांव में देवी की पूजा का अनुष्ठान रखा जाता है उसके पीछे अक्सर यह भावना कार्य कर रही होती है कि विपत्ति, अभाव, रोग और गरीबी से मुक्ति। इसका अर्थ यह हुआ कि गांव कभी भी इन से मुक्त नहीं हुआ और यही कारण है कि धार्मिक रुढ़ियाँ आज भी वहाँ जिंदा हैं। तभी तो कवि लीलाधर जगूड़ी लिखते हैं-

*“मेरी परेशानियाँ और मेरे दुख ही
ईश्वर का आधार क्यों हो?”*

आज ‘हड़काने’ और ‘टालने’ की प्रथा जोरों पर है। विश्वनाथ और विजय तिवारी आपस में मोहनदास को ‘बैंचो’ गाली देते हैं और उसका मजाक उड़ाते हैं। आज ऐसे लोगों व लंपटों की संख्या क्या गांव, क्या शहर हर जगह काफी बढ़ गई है। विजय तिवारी का बाप पंडित छत्रधारी ने विश्वनाथ को यह प्रमाण पत्र बना दिया था कि वह पुरबनरा का मोहनदास है। उदय प्रकाश ने इस कहानी में सरकारी योजनाओं में लूट और कुव्यवस्था का इतना यथार्थ चित्रण किया है कि उसे देखकर सिर्फ व सिर्फ नंगई व अन्याय का पता चलता है। वे लिखते हैं, “मोहनदास देखता कि सरकार द्वारा ग्राम पंचायत के लिए हैंडपंप स्वीकृत हो तो वे बड़े लोगों के घर के सामने लग जाते। शिक्षाकर्मी नियुक्ति होती, महिलाओं के लिए आंगनबाड़ी और शिक्षिका पद निकलता, इंदिरा आवास योजना में घर बनाने के लिए अनुदान मिलता, कुएं और खेत की मरम्मत के लिए ग्रामीण विकास विभाग से रुपये आते, नेहरू रोजगार योजना में शिक्षित बेरोजगारों के लिए कोई परियोजना आती तो वह सब उन्हीं लोगों के बीच बंट जाती। शारदा और देवदास बताते हैं कि स्कूल में दोपहर जो दलिया बंटती, उसमें भी भेदभाव होता।”¹³

पर, जब मोहनदास का बाप मरा गांव में यह अफवाह फैली कि वह टंगिया लेकर घर के सारे लोगों को

काटने-मारने के लिए दौड़ा। लेकिन सच्चाई यह थी कि मोहनदास न पागल था, न उसकी स्मृति में कोई खोट थी। बस; गरीबी, विवशता, अभाव, अव्यवस्था ने उसे पागल बना दिया था; जबकि वह पागल नहीं था। उसका केस अदालत पहुंचा; पर उसके बेटे का अपहरण कर लिया जाता है। तब बात साफ होती है। यह कहानी बताती है कि आम आदमी, कहीं से भी बचने वाला नहीं है। उसके हर रास्ते को बंद करने के लिए पहुंच, पैरवी इन अमीर लोगों के पास साधन, संसाधन, हथियार तिकड़म मौजूद हैं। मोहनदास जीत नहीं सकता। एक तरह से यह कहानी रूपक है- गाँधी जी के देश में मोहनदास की विवशता गाँधी की विवशता है। उनके सपनों को चकनाचूर करने वाले इस कहानी में गोड्से की संततियाँ हैं!

‘तिरिछ’ (1989) कहानी मानसिक सदमा, **दुस्वप्न** और तनाव के बीच बकेली गांव के भूतपूर्व मास्टर राम स्वारथ प्रसाद की कहानी है। कहानी में रामस्वरूप को पागल होकर मरते हुए दिखाया गया है। उसका लड़का पिताजी के साथ हुई घटना का डिटेल प्रस्तुत कर रहा है। वे गांव से शहर को ट्रेक्टर से गए थे, जबकि उसके पहले उन्हें ‘तिरिछ’ ने काट लिया था। उन्हें उनके साथियों और गांव वाले ने विष को समाप्त करने के लिए धतूरा पिलाया था, ताकि तिरिछ का विष समाप्त हो जाए पर ऐसा होता नहीं है। वे अदालत जाने वाले थे, तभी बीच में बैंक चले गए और कर्मचारियों ने उन पर दोषारोपण करते हुए उनके साथ बदतमीजी किए और धक्का देकर उन्हें बाहर निकाला और पीटा भी। सर्राफ वाले भी उन पर चोरी का तोहमत लगाता है और पीटता है।... लेकिन यह पूरी कहानी बिल्कुल सपाट तरीके से नहीं लिखी गई है। आम पाठक को समझ में यह परेशानी हो रही है कि ‘तिरिछ’ आखिर सचमुच उन्हें काटा था या की व्यवस्था की मार से, चिंताओं से, अर्थाभाव से, वे खुद मरे थे। इसे आज कल ‘जादुई यथार्थवाद’ कहा जा रहा है। यथार्थ तो है पर ऐसा कि जादू-सा लगे। कब और कैसे कोई घटना घट रही है, दर्शक-पाठक उसे समझ पाने में असक्षम हैं। और यह सच्चाई भी है कि आज यथार्थ इतना जटिल व विद्रूप हो गया है कि उसे पहचान करना आसान नहीं। पागल कुत्ता के काटने की दवा तो है मगर ‘तिरिछ’ के काटने की दवाई या उपचार लेखक के पास नहीं है। कहानी में तिरिछ केवल जानवर भर नहीं है बल्कि मुक्तिबोध की कविता ओरांग-ऊँटांग की तरह मनुष्य और मनुष्यता का शत्रु है जो इन दिनों मनुष्य को पागल बनाता है, अधिकपारी बनाता है और अंततः मृत्यु को वरण करने पर वह मानव को विवश कर दे रहा है। राम स्वारथ प्रसाद का बेटा भी उससे बच नहीं पा रहा है और न ही हम और आप। डॉ. ललन प्रसाद सिंह ने ‘उदय प्रकाश की कहानियों में संवेदना और चेतना का रचाव’ आलेख में लिखा है कि, “जैसे अज्ञेय की नन्ही-सी कविता ‘सांप’ बुर्जा सभ्यता की बाहरी चमक-दमक तथा भीतरी जहर को चंद शब्दों में ही बहुत कुछ कह डालती है वैसे ही उदय प्रकाश की कहानी ‘तिरिछ’ है जो महानगर में रहने वालों की अमानवीयता और संवेदनहीनता को खोफनाक तरीके से रेखांकित करती है। शहरवाले, गांववालों को हेय दृष्टि से देखते हैं, जैसे अंग्रेज भारतीयों को देखते थे। अमेरिकी शासक खाड़ी देश के नागरिकों पर नाजायज आरोप लगाकर, उन्हें अपमानित और प्रताड़ित किया करता है।”¹⁴

उदय प्रकाश की ‘दहू तिवारी: गणनाधिकारी’ कहानी भी ‘रोड-टैक्स’ और ‘गणनाधिकारी’ का विद्रूप सच सामने लाती है। इस कहानी का सवर्ण पात्र दहू तिवारी आठवीं में फेल होने के बाद भी पैरवी के आधार पर नौकरी पा जाता है। पिछड़े वर्ग का पात्र रामनाथ महतो कुंठा और निराशा का शिकार हो जाता है, जैसे उदय प्रकाश का मोहन दास विश्वकर्मा।

ऐसे उदय प्रकाश की अन्य कहानियों में ‘पॉलगोमरा का स्कूटर’ (1997), ‘दरियाई घोड़ा’ (1998), दत्तात्रेय के दुःख’ (2000) तथा ‘अरेबा-परेबा’ मुख्य है। जिसमें उन्होंने बड़ी शिद्दत के साथ समाज, व्यक्ति, सत्ता और सिस्टम को बेनकाब किया है। अमानवीयता और संवेदनहीनता की अंतहीन कथा के विराट लेखक उदय प्रकाश वर्तमान के परिदृश्य को उभारकर कहीं न कहीं जीवन जीने की नई राह तलाशने के लिए हमें

उकसा रहे हैं। अवसाद, तनाव, घूटन, ड्रामेबाजी और तिकड़म के बीच जीवन को आग की दरिया में झूलते हुए दिखाने के पीछे आमजन को और सतर्क रहने की कहीं न कहीं उनकी कहानियां प्रेरणा दे रही हैं। कहानी का ऐसा विराट रचाव खचित ही कहीं देखने को मिले।

संदर्भ:

1. हंस, सं. राजेंद्र यादव, अगस्त, 2000, पृ. 18
2. उपन्यास और लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, पृ.64
3. उपर्युक्त, पृ.64
4. हंस, अगस्त, 2000, पृ. 18
5. हंस, दिसंबर, 2000, पृ. 16
6. हंस, दिसंबर, 2000, पृ. 18
7. हंस, दिसम्बर, 2000, पृ. 32
8. हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत रामचंद्र शुक्ल: प्रतिनिधि संकलन, सं. निर्मला जैन, पृ. 3-4
9. आउटलुक, प्र.सं.विनोद मेहता, अक्टूबर, 2009, पृ.34
10. उपर्युक्त, पृ. 36
11. उपर्युक्त, पृ. 36
12. हंस, सं. राजेंद्र यादव, अगस्त, 2005, पृ. 93-94
13. हंस, अगस्त, 2005, पृ. 114
14. आलोचना: संदर्भ मार्क्सवाद, डॉ. ललन प्रसाद सिंह, जानकी प्रकाशन, पटना-4, पृ. 38



उदय प्रकाश की कहानियों में वृद्ध विमर्श

○ मृत्युंजय कोईरी

आधुनिकता के इस युग में नई पीढ़ी वृद्धों के प्रति उदासीन होती जा रही हैं। वृद्ध अपने परिवार वालों से अनेक इच्छाएँ सँजोए हुए हैं। पर उनकी इच्छाओं को युवा पीढ़ी अपनी सुख-सुविधा के सामने दरकिनार कर देते हैं। उसे वृद्धाश्रम या दर-दर ठोकर खाने पर विवश छोड़ देते हैं। युवा पीढ़ी आधुनिक सुख-सुविधाओं से इस कदर रमे हुए हैं कि वे अपने ही माता-पिता को पराया समझने लगे हैं। उदय प्रकाश 'तिरिछ', 'मौसाजी', 'छप्पन तोले का करधन', 'दरियाई घोड़ा' और 'टेपचू' आदि कहानियों में वृद्धों के प्रति किये जा रहे जुल्म और अत्याचार को उजागर करते हैं।

उदय प्रकाश 'तिरिछ' कहानी में वृद्ध पिता के साथ किये जा रहे जुल्म को उजागर करते हैं। ग्रामीण जीवन के सीधे-सादे पिता एक्स स्कूल के हेडमास्टर थे, वे संसार के लगभग सभी भाषाओं के जानकार हैं, उनके पास दुनिया के सभी प्रश्नों का उत्तर मौजूद है। उनके परकोटे पर बच्चे खेलते, दौड़ते और रात में खूब गहरी नींद में सो जाते हैं। पिता को अचानक एक दिन शाम के समय तिरिछ नामक जंतु ने काट लिया। जिसका विष काले नाग से सौ गुणा अधिक है। पिता का उपचार ग्रामीणों के द्वारा झांड-फूंक और जखम पर पोटेशियम परमैंगनेट डालकर किया गया। पिता पूरी तरह से स्वस्थ हो गये। इस संदर्भ में पुत्र का कथन देखिए- “उस रात देर तक हमारे आँगन में भीड़ रही आयी। पिताजी की झाड़फूँक चलती रही। काटे के जखम को चीर कर खून भी बाहर निकाला गया और कुँए में डालनेवाली लाल दवा (पोटेशियम परमैंगनेट) जखम में भरा गया। मैं निश्चित था।”¹

बहरहाल पिता सुबह ही अदालत में पेशी के लिए शहर चले जाते हैं। सीधे-सादे ईमानदार राहगीर बूढ़े पिता के द्वारा अदालत का पता पूछने पर व्यक्ति बिना बताए तेजी से आगे निकल जाते हैं। या हड़बड़ी में कुछ बताते भी हैं तो उनकी बात को समझना पिता के लिए दुष्कर साबित होता है। पिता का गला प्यास से सूख रहा था, उसे कोई पानी पिलाने वाला नहीं है। पिता द्वारा होटल के नौकर से पानी माँगने पर उसे पानी के बदले गाली मिलती है। पिता स्टेट बैंक ऑफ इंडिया में यह सोच कर जाते हैं कि कोई जान-पहचान का व्यक्ति मिलने पर पानी पिला देगा और अदालत जाने का रास्ता बता देगा। बैंक में पिता को पागल या शराबी समझकर बड़ी बेरहमी से पीटा जाता है। कर्मचारी के अत्याचार का प्रमाण कहानीकार बैंक के ठीक दरवाजे के सामने पान बेचने वाला बुनू के माध्यम से देते हैं; यथा, “जब साढ़े ग्यारह बजे के आस-पास पिताजी बैंक से बाहर आये तो उनके कपड़े फटे हुए थे और निचला होंठ कट गया था, जहाँ से खून निकल रहा था। आँखों के नीचे सूजन और कत्थई चकते थे।”²

एक सीधे-सादे पिता को बैंक के कर्मचारियों ने मारा ही नहीं बल्कि उनके पैसे और अदालती कागजाद भी लूट लिये। पैसों और अदालती कागजात के लिए फरियाद लेकर पुलिस थाना आये पिता को दरोगा ने पागल समझकर थाना से बाहर निकाल दिया। देश में ऐसे पुलिस अधिकारी का होना कलंक है। इस प्रसंग पर डॉ. रामेश्वर पवार लिखते हैं- “पुलिस प्रशासन के पास कोई फरियाद लेकर गये तो उसे पागल समझना प्रशासन पर धब्बा है।”³

उन्हें जंगल की पगडंडियाँ तो याद रहती थीं पर शहर की सड़कें भूल जाते थे। यही वजह था कि पिता यहाँ-वहाँ भटकते रहे। जब इतवारी कोलोनी में आये तो उनके शरीर पर पट्टेदार जाँघिया ही बचा था। वे जब भी अपना परिचय अंग्रेजी में देते, तो लोग उसे गाली समझते थे। इतवारी कोलोनी के लड़कों ने पत्थर से मारा। सिर पर इतनी गहरी चोट थी कि खून रिस-रिस कर आँखों पर आने लगा था। बच्चे तो ना समझ भी होते हैं, किंतु अरोड़ा का लड़का जो एक बीस-बाईस साल का नौजवान है। वह भी एक बेबस, बेसहारा बूढ़े पिता पर दर्दनाक अत्याचार करता है; यथा, “सड़क का ठेका लेनेवाले ठेकेदार अरोड़ा के बीस-बाईस साल के लड़के संजू ने उन्हें दो-तीन बार लोहे की रॉड से भी मारा था। सत्ते का तो कहना था कि इतनी चोटों से कोई भी आदमी मर सकता था।”⁴

इतवारी कोलोनी में रहने वाले शहर के सबसे बड़े अखबार के विशेष संवाददाता और कवि महोदय सत्येन्द्र थपलियाल को दिल्ली में स्थित अमरीकी दूतावास में संगीत सभा में जाकर संगीत का आनन्द लेना ज्यादा जरूरी है। किसी असहाय, बूढ़े, दीन-हीन के प्राणों की रक्षा करना उनके लिए कोई खास महत्त्व नहीं रखता। उनमें न कवि हृदय की संवेदनशीलता है और न वह एक पत्रकार होने का दायित्व ही निभाता है। रिटायर्ड तहसीलदार सोनी साहब बच्चों की बातों पर विश्वास कर पिता को बदमाश होने और नाटक करने का झूठा इल्जाम लगाते हैं। उन्हें झांकने तक नहीं जाता। नेशनल रेस्टोरेंट के मालिक पानी पिलाने के बजाय उनके ऊपर एक बाल्टी पानी डाल देता है और फिल्म देखने चला जाता है। शहर के निर्दय व्यक्ति के इसी रवैया के कारण ही आज पिता जैसे अनेक आम आदमी शहर जाने से कतराते हैं और न जाने के बहाने बनाते हैं। पिता की मौत जंगली तिरिछ के काटने से नहीं होती है बल्कि गाँव से अदालत जाने के क्रम में कदम-कदम पर शहरी तिरिछ के काटने से होती है। पिता की मृत्यु के संदर्भ में डॉ. रामेश्वर पवार लिखते हैं- “महानगरों में अजनबीपन इतना है कि कोई किसी के लिए कुछ करने को तैयार नहीं। तिरिछ को लोग जंगल में घेरकर मारते हैं, यहाँ महानगर में मास्टर साहब को घेरकर मारा।”⁵

‘तिरिछ’ कहानी में उदय प्रकाश लोकमानस में तिरिछ को लेकर प्रचलित अनेक विश्वासों के माध्यम से शहरी रूपी तिरिछ के आतंक को उजागर करते हैं। तिरिछ में काले नाग से सौ गुना जहर होता है। साँप तो तब काटता है जब उसके ऊपर पैर पड़ जाय या जब कोई जबरदस्ती उसे तंग करता हो। लेकिन तिरिछ तो नजर मिलते ही काटने के लिए दौड़ता है। इसलिए कहा जाता है कि तिरिछ को देखो तो कभी आँख मत मिलाना। आँख मिलते ही वह आदमी के गंध पहचान लेता है और आदमी के पीछे लग जाता है। आदमी चाहे पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा ले तिरिछ पीछा नहीं छोड़ता है। इस संदर्भ में कहानीकार लिखते हैं- “तिरिछ काटने के लिए तभी दौड़ता है, जब उससे नजर टकरा जाय। अगर तिरिछ को देखो तो उससे कभी आँख मत मिलाओ। आँख मिलते ही वह आदमी की गंध पहचान लेता है और फिर पीछे लग जाता है। फिर तो आदमी चाहे पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा ले, तिरिछ पीछे-पीछे आता है।”⁶

वर्तमान समाज में मनुष्य को तिरिछ की नजरों से नहीं बल्कि सभ्य समाज की नजरों से बचने की आवश्यकता है। आज शहरी रूपी तिरिछ कहीं से भी आकर दबोच सकता है। सभ्य समाज के पूँजीपति व

सत्ताधारी के पालतू अपराधी से नजर मिलाना अर्थात् मौत के मुँह में प्रवेश करने के बराबर है। यदि आज यह अपराधी आपको परेशान कर रहे हैं, तो उसे सुधरने का मौका देने के बजाय उसे कानून के हवाले कर देना चाहिए। जिसकी भनक भी किसी को न लगने दें। अन्यथा उनके साथी आपका शत्रु बन जाएंगे और आपकी हत्या करने के फ़िराक में रहेंगे। उदय प्रकाश शहरी जीवन के अपराधी से बचने के लिए तिरिछ पर प्रचलित मिथक के माध्यम से ग्रामीण समाज के आम जनता को एक वृद्ध के साथ हुई घटना के द्वारा सचेत करते हैं। बहरहाल तिरिछ का काटा हुआ पिता बच सकता है, किंतु शहर की संवेदनहीनता से वह बच नहीं सकता। शहर तिरिछ के जहर से भी ज्यादा खतरनाक और जानलेवा हो गया है। तिरिछ के जहर की भांति समाज में फैल रही संवेदनहीनता के कारण आज समूचा मानवीय अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। जिसका परिणाम निश्चित रूप से भयंकर होगा।

उदय प्रकाश 'मौसाजी' कहानी में एक वृद्ध पात्र मौसाजी हैं। मौसाजी पूर्व स्वतंत्रता सेनानी हैं। उनके तीनों पुत्रों में से एक भी पुत्र मौसाजी का देख-भाल नहीं करते हैं। अब वह बिल्कुल असहाय हैं, वे बूढ़े हो चुके हैं। वे कल्पना की दुनिया में प्रवेश करके जी रहे हैं। मौसाजी के तीनों बेटों में से एक भी मौसाजी के साथ नहीं रहते और न ही पैसे देते हैं। उदय प्रकाश एक ओर नयी पीढ़ी की संवेदनहीनता को प्रस्तुत करते हैं। वहीं एक भारतीय पिता के पुत्रस्नेह को उजागर करते हैं। मौसाजी समाज के सामने अपने पुत्रों को 'श्रवण कुमार' बना देते हैं; यथा, "उन्होंने बताया कि उनके तीनों लड़के 'श्रवण कुमार' हैं। बिना मौसाजी की आज्ञा के वे कोई भी काम नहीं करते। छोटी-मोटी घरेलू बात भी होती है तो जरूर चिट्ठी लिखकर उनकी राय पूछते हैं। पोता-पोती हों तो मौसाजी ही उनके नाम सुझाते हैं। उनके बेटे भी उन्हें मौसाजी कहते हैं।"

भारतीय समाज के पिता स्वयं कठिन परिश्रम करके जीवन-यापन कर लेते हैं, परंतु संतानों को सुखी देखना चाहते हैं। छोटा पुत्र नरेंद्र प्रसाद को पुलिस चोरी के जुल्म में गिरफ्तार कर लेती है। मौसाजी नरेंद्र को छुड़ाने के लिए थाना जाते हैं। एक वृद्ध मौसाजी के प्रति समाज के रक्षक पुलिस अधिकारी का दुर्व्यवहार देखिए, "यहाँ ज्यादा पगलैटी मत दिखाओ, नहीं तो ससुर, तुमको भी उठाकर अंदर कर देंगे। कल सवेरे ग्यारह बजे जमानती कागजात और कोई माल-उसूख वाला जमानतदार लेकर आना, नहीं तो तुम्हारा लड़का छह महीने के लिए फुरहरी हवा खाने अंदर चला जाएगा। दूसरी बात भी सुन लो बुढ़ऊ कि अगर ज्यादा ऊटपटाँग बकर-बकर किया तो तुम्हारी भी चूतड़ में चार-पाँच डंडे जमा देंगे, फिर सुधे हो जाओगे।"⁸

बहरहाल मौसाजी जैसे पिता आज पुलिस के अत्याचार से निराश हैं और पुत्रों से दूर अकेले जीने पर मजबूर हैं। युवा पीढ़ी अपने बूढ़े माता-पिता से मुँह मोड़ लेते हैं और उन्हें वृद्धाश्रम में छोड़ देते हैं। वे अपनी संतानों का प्यार पाने के लिए तड़प रहे हैं।

'टेपचू' कहानी में टेपचू की माँ फ़िरोजा एक असहाय विधवा स्त्री है। जो स्वयं और पुत्र की क्षुधापूर्ति के लिए घर-घर जाकर दाल-चावल फटकती, खेतों में मजदूरी करती, बगीचों की बागवानी (देखभाल) करती, तब कहीं दो वक्त की रोटी जुटा पाती। आर्थिक अभाव को झेलती मजदूरी का जीवन गुजार रही फ़िरोजा के जिस्म की लोभी उच्चवर्ग उनकी अभावग्रस्त होने का फायदा उठाने की प्रतीक्षा में रहते हैं। उन्हें उनके जीवन के अभाव, चिंता, संघर्ष, जरूरत आकर्षित नहीं करते, आकर्षित करती केवल उनकी देह। उच्चवर्ग असहाय स्त्री को 'उपभोग' की वस्तु में परिणत कर दिया है। विधवा फ़िरोजा पर कामवासना की भूख मिटाने को आतुर उच्चवर्ग की नियत देखिए, "फ़िरोजा को अकेला जानकर गाँव के कई खाते-पीते घरानों के छोकरो ने उसे पकड़ने की कोशिश की।"⁹

समाज की यह विडंबना है कि स्त्री अपने माता-पिता, भाई-बहन और सगे-संबंधी को छोड़कर पति के घर चली जाती है। अपरिचितों के साथ रहती है, उस घर को मंदिर की तरह सजा कर रखती है। ऐसी स्त्री

पर अत्याचारी पति कठोर जुल्म करता है। ‘दरियाई घोड़ा’ कहानी में बुआ पर फूफा का बेरहम जुल्म वर्तमान समाज में स्त्रियों पर किये जा रहे जुल्म का दस्तावेज है। यथा, “चिट्ठी में था कि हमारी निम्नो बुआ, दादा की सबसे चहेती बहन, ससुराल से लौट आयी है। फूफा ने उन्हें घर से निकाल दिया है। पीठ और बाँह पर सलाख और सिक्के से दागने के निशान हैं।”¹⁰

माँ जिस पुत्र के लिए चिंतित रहती हैं। आज वही पुत्र वृद्ध माँ पर निष्ठुरता से पेश आते हैं। ‘छप्पन तोले का करधन’ कहानी का केन्द्रीय पात्र दादी असहाय और विवश है। बूढ़ी और लाचार दादी माँ के दुःख-दर्द पर किसी को सहानुभूति नहीं है। परिवार के सभी सदस्यों की निगाह उस छप्पन तोले का करधन पर है। करधन पाने के लिए उन्हें तरह-तरह से प्रताड़ित किया जाता है। बदबूदार अंधेरी कोठरी में कैदियों की तरह बंद कर दिया जाता है। कभी-कभी खाना भी नहीं दिया जाता है। पतोहू सास की बूढ़ी होने पर जुल्म करती है, परंतु यहाँ माँ पर बेटी भी जुल्म करती है। दादी के प्रति चाची, अम्माँ और बुआ का अमानवीय व्यवहार देखिए— “दादी को बीमारी में भी बहुत डराया-धमकाया। छुरा चमकाती रहीं, दादी का गला दबाया और नाक और मुँह बन्द करके उनकी साँस भी देर तक रोकी। साँस रुकने से दादी का शरीर गुब्बारे की तरह फूल गया, लेकिन उन्होंने तब भी नहीं बताया कि करधन कहाँ है। एक बार एक महीने तक दादी को अन्न का एक दाना भी नहीं दिया गया।”¹¹ वहीं दादी के प्रति चाची के द्वारा की जाने वाली दुर्व्यवहार मानवता की सारी सीमाएँ लांग जाती है। यथा, “पच्चीस दिनों तक चाची ने दादी के खाने में धूल और मिट्टी डाली।”¹²

पिताजी और चाचा का घर में न रुक पाना, चाची की माँ न बन पाना, बुआ की विधवा हो जाना और घर के किसी-न-किसी सदस्य का बीमार होना। घर के सभी सदस्यों को अस्सी वर्ष की वृद्ध दुर्बल दादी की जवानी में गाँव के नाइन के साथ थोड़ा-बहुत टोना-टोटका सीखने का परिणाम लगता है। इस अंधविश्वास के संदर्भ में कहानीकार लिखते हैं— “जब दादी जवान थीं और बहुत सुन्दर थीं, उनका मेल-जोल गाँव की नाइन के साथ हो गया था। नाइन टोना जानती थी और उससे थोड़ा-बहुत दादी ने भी सीख लिया था। लेकिन किसी-किसी पर टोना उलट भी जाता है। दादी के साथ यही हुआ था। उसकी सुंदर देह, धूप में निकलते ही जिस पर फफोले पड़ जाते थे और जिससे गर्मियों की रात में बेले की गंध फूटती थी। वह शरीर टोना उलट जाने से ताँबई और फिर कत्थई हो गया था। उनके एक के बाद एक, तेरह बच्चे हुए थे जिनमें से सिर्फ पिताजी, जसीडीह वाली बुआ और चाचा जिंदा बचे थे। चाची बतलाती थीं कि दादी का अधूरा टोना ही उनके बच्चों को खा जाता था। यह दादी के टोने का ही असर था, कि पिताजी और चाचा कभी घर में नहीं टिक पाते थे।”¹³

वर्तमान समाज में गाँव के लोग किसी औरत पर जादू-टोना का झूठा इल्जाम लगा कर उनकी जिंदगी को नरक बना देते हैं। दादी का जीवन भी इसी अंधविश्वास के कारण नरक बना हुआ है। दादी को आँधियारी कोठरी के अंदर रहने दिया जाता है। आँधियारी कोठरी की ड्योढ़ी पर खाना दिन-भर में सिर्फ एक बार ही रख दिया जाता है। दादी को कभी-कभी खाना देना भी भूल जाते हैं। दादी का आँधियारी कोठरी से बाहर निकलना अशुभ मानते हैं। इसलिए दादी महीनों तक बाहर नहीं निकलती। दादी के आँधियारी कोठरी से बाहर निकलने पर घर के सदस्यों की मान्यता कहानीकार के शब्दों में उद्धृत है, “निकली है आज बुढ़िया फिर से! घर में जरूर कोई-न-कोई बीमार पड़ेगा।”¹⁴

आधुनिकता के इस युग में भी नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के बीच प्रचलित अंधविश्वास के जाल में फँस जाता है। चाची द्वारा टोने वाली औरत के बारे में बताए गए प्रचलित कथा पर विश्वास कर मुन्ना दादी को पुकारने पर उनके समीप जाने से डरता है। आज पुरानी पीढ़ी की भाँति नई पीढ़ी भी जादू-टोना पर अंधविश्वास करने लगा है; यथा, “टोनेवाली औरतें कभी-कभी बच्चों के शरीर पर अपना एक बाल चिपका देती हैं। फिर बाद में उस बाल को टोने से वापस बुलाकर जब वे उसे दूध भरे कटोरे में डालती हैं तो पूरा दूध खून हो जाता

है। यह सारा खून उसी बच्चे का होता है, जिसे टोनेवाला बाल सोखकर अपने साथ ले आता है। मैं इसलिए डरा। कहीं मेरे साथ भी ऐसा हुआ तो मेरा शरीर कागज जैसा सफेद हो जाएगा।”¹⁵

एक दिन दादी को सन्निपात होता है, वह आँधियारी कोठरी से बाहर निकलती है। वह बुखार से थर-थर काँप रही है, उनके कपड़े में दस्त लिथड़े हुए हैं। उन पर तीन-चार बाल्टी पानी डाल दिया जाता है और उन्हें पुनः आँधियारी कोठरी में धकेल दिया जाता है। अगले दिन दादी की मौत हो जाती है। जहाँ नई पीढ़ी वृद्ध दादी को तड़प-तड़पकर मरने पर विवश कर देते हैं। ये वर्तमान समाज की संवेदनहीनता को उजागर करता है।

वर्तमान समाज में मनुष्य अपने माता-पिता के प्रेम व स्नेह देने के बजाय अमानवीयता की सारी हदें पार कर जाते हैं। आज नई पीढ़ी की उदासीनता के कारण वृद्धों को अपना अंतिम जीवन वृद्धाश्रम में व्यतीत करने पर मजबूर हैं। या परिवार के जुल्म से तड़प-तड़प कर प्राण त्यागने पर विवश हैं। सभ्य समाज वृद्धों के साथ जानवारों सा पेश आते नजर आते हैं।

संदर्भ :

1. तिरिछ, उदय प्रकाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति : 2013, पृ. 28
2. वही, पृ. 36
3. नवम् दशक की कहानियों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ. रामेश्वर पवार, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण : 2008, पृ. 216
4. तिरिछ, उदय प्रकाश, पृ. 42
5. नवम् दशक की कहानियों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ. रामेश्वर पवार, पृ. 216
6. तिरिछ, उदय प्रकाश, पृ. 26
7. दरियाई घोड़ा, उदय प्रकाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति : 2010, पृ. 43
8. वही, पृ. 48
9. वही, पृ. 100
10. वही, पृ. 35
11. वही, पृ. 60
12. वही, पृ. 61
13. वही, पृ. 50
14. वही, पृ. 52
15. वही, पृ. 53



परसाई के व्यंग्य निबंध 'प्रेमचंद के फटे जूते' की समीक्षा

○ प्रवीन कुमार यादव

व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई एक प्रतिबद्ध लेखक हैं। उनकी यह प्रतिबद्धता शोषित वर्ग के प्रति गहन मानवीय संवेदना से उपजी है। परसाई जी ने स्पष्ट रूप से कहा है- “प्रतिबद्धता एक गहरी चीज है जो इस बात से तय होती है कि समाज में जो द्वन्द्व हैं, उसमें लेखक किस तरफ खड़ा है- पीड़ितों के साथ या पीड़कों के साथ।”¹ परसाई की प्रसिद्धि एक गंभीर व्यंग्यकार के रूप में है। व्यंग्य को अक्सर हँसी मजाक से जोड़कर हल्की फुल्की चीज के रूप में लिया जाता है। परसाई जी के व्यंग्य इस मान्यता को गलत सिद्ध करते हैं। उनके व्यंग्य अपनी परम्परा तथा अपने समय और समाज में व्याप्त विसंगतियों की गहरी समझ से उपजे हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध व्यंग्य संग्रह ‘तिरछी रेखाएँ’ में व्यंग्य के विषय में लिखा है- ‘व्यंग्य कम से कम मेरे लिए एक गंभीर कर्म है।’ इसी क्रम में परसाई जी आगे लिखते हैं किसी की रूपगत विकृतियों का मजाक उड़ाना या उसके लहजे की नकल करके परिहास करना एक हल्की-फुल्की चीज है। लेकिन समय और इतिहास में गहरे उतर कर उन विसंगतियों को पहचानना जो किसी व्यक्ति के जीवन या समाज व्यवस्था को दूभर बनाती हैं, बहुत अध्ययन और समझ की माँग करता है। परसाई के व्यंग्य ऐसे ही गंभीर अध्ययन और समझ से उपजे हैं।

अच्छे व्यंग्य के मूल में भी करुणा होती है। परसाई जी की बाल्यावस्था में ही प्लेग नामक महामारी से उनकी माँ की असमय मृत्यु हो गयी। माँ के मृत्यु के सदमें में उनके पिता गंभीर रूप से बीमार हो गये। उनका काम-धंधा चौपट हो गया। परिवार को गंभीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। पाँच भाई-बहनों में हरिशंकर परसाई सबसे बड़े थे। परसाई के कैरियर और उनके मानस पटल पर इन सबका बहुत गहरा असर हुआ। बहुत ही प्रसन्नचित्त और पढ़ाकू प्रवृत्ति के बावजूद परसाई को मैट्रिक पास कर छोटी नौकरी करनी पड़ी। पहली तनखाह मिली तो सोचा कि पिता का इलाज करायेंगे। लेकिन तभी पिता की मृत्यु का दुःखद समाचार भी प्राप्त हुआ। परसाई के जीवन की ये दुःखद घटनाएँ उन्हें तोड़ सकती थीं, लेकिन वह समाजवादी और मार्क्सवादी विचारधारा के लोगों के सम्पर्क में आये और जल्दी ही व्यक्तिगत दुःखों के सम्मोहन से उबर गये। उन्होंने अपने दुःख को बृहत्तर सामाजिक दुःखों से जोड़ दिया और गंभीरता से शोषण के तंत्र को समझना शुरू किया। गर्दिश के दिन में परसाई लिखते हैं: “दुःखी और भी हैं। अन्याय पीड़ित और भी हैं। अनगिनत शोषित हैं। मैं उनमें से एक हूँ। पर मेरे हाथ में कलम है और मैं चेतना सम्पन्न हूँ। यहीं कहीं लेखक का जन्म हुआ।”² जन सामान्य के शोषण और अभाव के कारणों के पहचान के क्रम में उन्होंने गंभीर अध्ययन करना शुरू किया- “मैंने तब ढंग से इतिहास, समाज, राजनीति और संस्कृति का अध्ययन शुरू किया। साथ ही औघड़ व्यक्तित्व बनाया और गंभीरता से व्यंग्य लिखना शुरू कर दिया।”³

व्यंग्य के बारे में कुछ लोगों का कहना है कि व्यंग्यकार प्रायः नकारात्मक दृष्टिकोण रखता है। उसकी नजर प्रायः व्यक्ति और समाज की दुर्बलताओं और बुराईयों पर ही रहती है। परसाई जी इस मान्यता का प्रतिवाद करते हुए अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं, “व्यंग्य एक पॉजिटिव चीज है। उसे नकारात्मक नहीं मानना चाहिए। व्यंग्य लेखक यही तो बताता है कि समाज में यह बुरा है, यह असंगत है, यह अकल्याणकारी है।”⁴ वे पूछते हैं, ‘आखिर व्यंग्य किस पर किया जायेगा, उन्हीं पर न जो समाज में झूठ, पाखण्ड, अन्याय या विसंगति पैदा करते हैं।’⁵ उनका मानना है कि व्यंग्यकार का काम एक शल्य चिकित्सक (सर्जन) का है। जिस प्रकार एक योग्य सर्जन शरीर के रोग ग्रस्त हिस्से की पहचान कर उसका ऑपरेशन करके, उसे काटकर निकाल देता है तो क्या सर्जन का काम नकारात्मक है। अगर वह रोगी के रोग को न बतलाए और बोल दे कि सब अच्छा है, तो रोगी तो मर जायेगा। अच्छा तो यही है कि वह रोग की पहचान करके, उसके प्रति रोगी को सावधान करे और आवश्यक होने पर शल्य क्रिया द्वारा रोग ग्रस्त हिस्से का उपचार करे, भले ही इसमें रोगी को थोड़ा कष्ट हो। ठीक यही काम व्यंग्यकार का भी है। व्यंग्यकार मनुष्य को उसकी स्वयं की और सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि संस्थाओं की विकृतियों को पहचान कराकर मनुष्य को सजग करते हुए व्यक्ति तथा संस्थाओं का परिष्कार करने का काम करता है। वह मनुष्य को अच्छा और न्यायी बनने के लिए प्रेरित करता है। वह मानो उससे कहता है, “तू अधिक सच्चा, न्यायी, मानवीय बन।”⁶

परसाई जी जब तक जिन्दा रहे, उनके व्यंग्य लगातार पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। उनके पाठकों का विशाल संसार रहा है। अनेक पत्रों में पाठक उनसे विभिन्न विषयों पर प्रश्न पूछते थे, और परसाई जी उनका उत्तर भी देते थे। जिन पत्र-पत्रिकाओं में परसाई के व्यंग्य प्रकाशित होते, उनकी प्रसार की संख्या बढ़ जाती थी। उनके स्तम्भ पढ़ने के लिए लोग उत्साहित रहते थे। अब भी उनकी पठनीयता कम नहीं हुई है। उनकी व्यंग्य की किताबें अब भी बहुत पढ़ी जाती हैं। उन्होंने सैकड़ों व्यंग्य कथाएँ, निबन्ध, रेखाचित्र, संस्मरण आदि लिखे हैं। यहाँ हम परसाई के एक अत्यन्त चर्चित निबन्ध ‘प्रेमचन्द के फटे जूते’ का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

‘प्रेमचन्द के फटे जूते’ परसाई जी का बहुत महत्वपूर्ण और बहुपठित निबन्ध है। इसमें परसाई बहुत आत्मीय और अनौपचारिक ढंग से प्रेमचन्द की एक फोटो की चर्चा से इस व्यंग्य निबन्ध की शुरुआत करते हैं। शुरू में यह निबन्ध रेखाचित्र का आभास देता है। परसाई जी के निबन्धों में अनेक साहित्यिक विधाएँ परस्पर घुल-मिल सी गयी हैं। कमला प्रसाद जी ने परसाई रचनावली, खण्ड-3 में परसाई के निबन्ध कला की इन विशेषताओं को लक्षित करते हुए लिखा है- “निबन्ध के भीतर कहानी और कहानी के भीतर निबन्ध होना आम बात है। वे किसी चरित्र को उकरे रहे होते हैं कि इसी बीच अपनी ओर से उसके टाइप का आकलन भी करते चलते हैं। इस तरह रेखाचित्र के भीतर निबन्ध घुस जाता है। कहानी की रचना में निबन्ध की जरूरत आ पड़ती है। अनुभव और विचारों की परिणति प्रायः बिम्बों में हो जाने से निबन्ध कविता की तरह ढल जाते हैं।”⁷

बहुत आत्मपरक ढंग से यह निबन्ध आगे बढ़ता है। परसाई अपने पुरखे रचनाकार प्रेमचन्द की तस्वीर में लक्षित करते हैं कि उनके बायें पैर के जूते में छेद है, और उसमें से अँगुली बाहर झाँक रही है। व्यंग्यकार परसाई पहले तो प्रेमचन्द का रेखाचित्र खींचते हुए लिखते हैं कि वह एक मामुली सी धोती और वह भी थोड़ा ऊँची पहने हुए हैं। उनका जूता आगे से थोड़ा सा कटा-फटा हुआ है, और उसमें से उनकी अँगुली बाहर दिखलायी पड़ रही है। यानी प्रेमचन्द जैसा प्रसिद्ध लेखक फोटो खिंचवाने के वक्त भी अपनी पोशाक के प्रति/फटे जूते के प्रति बेपरवाह है। इसके बवजूद उनके चेहरे पर मुस्कुराहट है। अब परसाई का व्यंग्यकार जागता है, और प्रेमचन्द के बहाने अपने समय और समाज की शल्य क्रिया शुरू करता है: “यह कैसा आदमी है, जो खुद फटे जूते पहिने फोटो खिंचा रहा है, पर किसी पर हँस भी रहा है।”

परसाई के मन में पहले तो महान लेखक प्रेमचन्द की आर्थिक दशा पर करुणा उपजती है, पर शीघ्र ही वह लेखक की रचनाशक्ति को उसके रेखाचित्र से तादात्म्य बिठाते हुए मौलिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं- “मगर यह कितनी बड़ी ट्रेजडी है कि आदमी के पास फोटो खिंचाने को भी जूता न हो। मैं तुम्हारी यह फोटो देखते-देखते तुम्हाने कलेश को अपने भीतर महसूस करके जैसे रो पड़ना चाहता हूँ, मगर तुम्हारी आँखों का यह तीखा दर्द भरा व्यंग्य मुझे एकदम रोक देता है।”

परसाई यह लिखकर उस व्यवस्था को कोसते हैं, जिसमें एक बड़े लेखक की ऐसी विपन्न दशा हो। लेकिन कोरी भावुकता तक लाकर ही पाठकों को छोड़ देना परसाई का उद्देश्य नहीं है। वह सजग होकर प्रेमचन्द की फोटो में इस साधारण से पहनावे और फटे जूते के निहितार्थ को उनकी रचनाओं में व्याप्त रूढ़िविरोधी संघर्षशील जनचेतना से जोड़ते हुए लिखते हैं- “मुझे लगता है, तुम किसी सख्त चीज को ठोकर मारते रहे हो। कोई चीज जो परत दर परत सदियों से जमती गयी है, उसे शायद तुमने ठोकर मार-मार कर अपना जूता फाड़ लिया है।” अपनी जन पक्षधरता के लिए शोषण के तंत्र पर तेज प्रहार करने के प्रतिफल में प्रतिबद्ध लेखकों को कितनी क्षति उठानी पड़ती है, इसे लक्षित करते हुए परसाई आत्मव्यंग्य शैली में साहित्यकारों की दो कोटियाँ भी स्पष्ट करते चलते हैं- “मेरा जूता भी कोई अच्छा नहीं है। यों ऊपर से अच्छा दिखता है। अँगुली बाहर नहीं निकलती, पर अँगूठे के नीचे तला फट गया है। अँगूठा जमीन से घिसता है और पैनी मिट्टी पर कभी रगड़ खाकर लहलुहान भी हो जाता है। पूरा तला गिर जायेगा, पूरा पंजा छिल जायेगा, मगर अँगुली बाहर नहीं दिखेगी। तुम्हारी अँगुली दिखती है, पर पाँव सुरक्षित है। मेरी अँगुली ढकी है, पर पंजा नीचे घिस रहा है। तुम पर्दे का महत्व नहीं जानते, हम पर्दे पर कुर्बान हो रहे हैं।”

X

X

X

X

“सोचता हूँ, फोटो खिंचाने की अगर यह पोशाक है, तो पहिनने की कैसी होगी ? नहीं, इस आदमी की अलग-अलग पोशाकें नहीं होंगी इसमें पोशाकें बदलने का गुण नहीं है।”

परसाई प्रेमचन्द के जूते से झाँक रही अँगुली का विशिष्ट निहितार्थ परिलक्षित करते हुए लिखते हैं- “तुम्हारी यह पाँव की अँगुली उसे संकेत करती हुई लगती है, जिसे तुम घृणित समझते हो, उसकी तरफ हाथ की नही, पाँव की अँगुली से इशारा करते हो”

कमला प्रसाद जी व्यंग्य को विजेता-भावना कहते हैं। व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने इस निबन्ध के अंत में प्रेमचन्द की हँसी को विजेता भावना में रूपान्तरित करते हुए लिखा है- “तुम मुझ पर या हम सब पर हँस रहे हो, उन पर जो अँगुली छिपाये और तलुवा घिसायें चल रहे हैं, उन पर जो टीले का बरकाकर बाजू से निकल रहे है।” दूसरे शब्दों में कहे तो यह उस मानसिकता पर व्यंग्य है कि मुट्ठी तनी भी रहे और काँख भी दबी रहे। परसाई का मानना है कि बिना वर्ग दृष्टि के समाजोपयोगी व्यंग्य लेखन नहीं हो सकता। बिना खतरा उठाये प्रतिबद्ध लेखन संभव नहीं है।

इस निबन्ध में कई स्तरों पर व्यंग्य मौजूद है। यह अपने पुरखे को श्रद्धापूर्वक याद करने, भारतीय समाज में लेखकों की दयनीय आर्थिक दशा को पहचानने, जनपक्षधर लेखक की वैचारिकता की पहचान करने, युग की विसंगतियों पर चोट करने तथा सुविधाजीवी, अवसरवादी व गैर प्रतिबद्ध लेखकों के चाल चरित्र और चेहरे की पहचान कराने में समर्थ एक सशक्त व्यंग्य रचना है। प्रोफेसर कान्ति कुमार जैन ने लिखा है कि परसाई के व्यंग्य पढ़ने के बाद हम (पाठक) वही नहीं रहते, जो पढ़ने के पहले होते हैं। उनकी ज्यादातर व्यंग्य रचनाएँ अपने पाठकों की चेतना को झकझोर कर रख देती हैं, और उनकी दृष्टि को परिष्कृत भी करती हैं। यह व्यंग्य निबन्ध भी अपने पाठकों की दृष्टि परिष्कृत करने में समर्थ है।

सन्दर्भ :

1. आँखन देखी : आत्मकथ्य, सम्पादक कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 31
2. आँखन देखी : गर्दिश के दिन, कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 28
3. वही : 28
4. आँखन देखी : साक्षात्कार, पृ. 34
5. आँखन देखी : एक अन्तरंग बातचीत, पृ. 44
6. परसाई रचनावली : भाग-6, सम्पादक कमला प्रसाद व अन्य राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 243
7. परसाई रचनावली: भाग-3, सम्पादक कमला प्रसाद व अन्य राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ 02



स्वयं प्रकाश के उपन्यासों में यथार्थ बोध की भावना

○ अमृता

आधुनिक युग की सबसे सशक्त साहित्यिक विधा के रूप में जिस विधा ने अपनी अलग पहचान बनाई है, वह उपन्यास साहित्य है। उपन्यास शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'उप' (समीप) और 'न्यास' (रखना) जिसका अर्थ है जीवन के समीप रखना। लेखक जीवन तथा जगत को समीपता से देखकर ही उपन्यास लिखता है। पाश्चात्य जगत में इसे नॉवेल नाम से जाना जाता है। उपन्यास इसी नॉवेल का रूपांतरण है। फ्रांस में इसके लिए नोवास शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है यथार्थ चित्रण।

'उपन्यास अपने आधुनिक रूप में पश्चिम से आया तथा वहीं उसका विकास भी हुआ। पाश्चात्य उपन्यास साहित्य से प्रभावित हिंदी उपन्यास साहित्य का जन्म भारत के सांस्कृतिक जागरण के साथ हुआ है।'

हिंदी साहित्य में उपन्यास विधा ने आधुनिक काल में पदार्पण किया। इसका कारण मध्ययुगीन साहित्य में गद्य का सर्वथा अभाव होना रहा है। परंतु भारतीय वाङ्मय में इसका एकदम अभाव नहीं था, संस्कृत ग्रंथों में उपन्यास शब्द का प्रयोग मिलता है। उपन्यास अपनी व्यापकता के दायरे में जीवन तथा जगत के उन जीवन्त पहलुओं को स्पर्श करता है, जो इसके सिवाय शायद अन्य किसी साहित्यिक विधा के बस की बात नहीं है। यह मानव जीवन से जुड़े यथार्थ को अभिव्यक्ति इस ढंग से करता है कि वह खुले पन्ने की भांति, बिना कुछ छुपाए प्रत्येक स्थिति को स्वतः उद्घाटित करने वाला दस्तावेज बन जाता है।

उपन्यास साहित्य ने अपने व्यापक कलेवर में जीवन यथार्थ का चित्रण कर इसकी विशिष्टता स्वीकार की है। यह वास्तविकता तथा काल्पनिकता से युक्त होकर मानव चरित्र का चित्र उकेरता है। इसमें चैतन्यता, प्रयोगधर्मिता, उत्कृष्टता, यथार्थता एवं संबद्धता के गुण विद्यमान होते हैं। जिस कारण उसने जीवन वैविध्य को आत्मसात किया हुआ है। मानवीय संबद्धता ने ही इस विधा को जीवन्तता प्रदान की है। यह विधा जीवन यथार्थ के छुए-अनछुए पहलुओं को उजागर कर देती है। यह वर्तमान, भूत तथा भविष्य से जुड़कर अपनी सजीवता बनाए रखती है। यही कारण है कि इसने दीर्घायु तथा चतुर्दिक विकासशील साहित्यिक विधा होने का गौरव प्राप्त किया है। इसकी व्यापकता ने इसे जीवन तथा जगत के करीब लाकर रख दिया है। यह जीवन के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण रखने का पक्षधर है जो इसे उत्कृष्ट बनाता है।

उपन्यास साहित्य का यथार्थ से अक्षुण्ण संबंध है। उसका जन्म ही इसलिए हुआ है कि वह हमारे यथार्थ की अभिव्यक्ति कर सके। उपन्यास मानव जीवन को यथार्थ मानता है। मानव जीवन वास्तव में यथार्थता का सूचक है।

इस प्रकार मानवीय संबद्धता यथार्थ के साथ निष्क्रिय न होकर सक्रिय रूप से जुड़ी रहती है। इस संबद्धता

ने यथार्थ को नई दिशा प्रदान की। यही कारण है कि उपन्यास में वर्णित यथार्थ परिवर्तन शील तथा गतिशील रूप में आए। उसमें मानवीय सुख-दुख, आशा, आकांक्षाएं, मुक्तभाव से अभिव्यक्त होते रहते हैं।²

उपन्यास तथा उसका यथार्थ से संबंध जान लेने के पश्चात् अब उपन्यास में निहित अंतर्वस्तु से परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है। अंतर्वस्तु के साथ जो तत्व स्वतः जुड़ा रहता है वह रूप है। रूप के बारे में मान्यता है कि वह आंतरिक और बाह्य एकता के योग से बना होता है। यह अंतर्वस्तु के अनेक तत्वों को संगठित करने का काम करता है।

यथार्थ बोध जीवन तथा जगत की वास्तविकता को खुलकर हमारे सामने रखता है। यथार्थ सहानुभूति से प्रेरित होता है। यह बहुविध मानव अनुभवों से पूर्ण चित्रण पर बल देता है। यथार्थ बोध रचनाकार की रचना में नहीं बल्कि उसके प्रस्तुतीकरण की शैली में विद्यमान रहता है तथा विकसित होता चलता है।

वास्तविक यथार्थ बोध मानव तथा समाज की बेहतरी और समृद्धि की कामना करता है। यह एक ऐसे मार्ग का अनुगमन करता है जो विकासशील हो और सृजनशील भी हो। यह मानव तथा समाज के खंडित रूप नहीं बल्कि पूर्ण रूप पर आस्था प्रकट करता है। यह चतुर्मुखी भाव है जो मानवीय संबंधों से घनिष्ठ रूप में जुड़ा रहता है। यथार्थ बोध की सीमा के अंदर मानवीय आवृत्ति, कुंठा, असंतोषप्रद स्थितियाँ भी समाहित हैं तथा ऐतिहासिक छवियाँ भी। वह मानवीय दुर्बलताओं एवं सबलताओं से भलीभाँति परिचित रहता है क्योंकि मनुष्य जीवन कुरूपताओं एवं विशेषताओं का समन्वित रूप होता है। यथार्थ इन्हीं स्थितियों का चित्रण करता है।³

यह ज्वलंत समस्याओं को चुनता है तथा समकालीन मानवीय बोधों के यथार्थ रूप का चित्रण करता है। यथार्थ बोध से युक्त रचनाकार बिना किसी डर, भय, संकोच, पक्षपात आदि के ईमानदारी पूर्वक यथार्थ स्थितियों का उद्घाटन करता है। उसकी दृष्टि में उच्च निम्न के बीच कोई पार्थक्य नहीं होता। वह व्यक्ति तथा समाज के बीच यथार्थ स्थितियों से अभिन्न रूप से जुड़ा रहता है।

स्वयं प्रकाश ने जो कुछ कहा है बिल्कुल साफ-साफ कहा है। उनके विचार और दृष्टिकोण में कहीं उलझन नहीं है। स्वयं प्रकाश सार्वभौमिक यथार्थ के लेखक हैं, उनके लिए इस यथार्थ का निश्चित देश काल है। इस देश काल की मौजूदगी उनके पात्रों में ठोस रूपरेखाओं में तो है ही, इन पात्रों की भौगोलिक स्थिति भी ठोस है, इनके पात्रों को ज्यादातर लघु शहराती वातावरण में पाया जा सकता है। वैसे तो उनके अनेक पात्र देहाती भी हैं लेकिन जिन पात्रों की मनोदशा और वातावरण पर उनका अधिकार है, वे छोटे शहरों के निम्न-मध्यमवर्गीय नौकरीपेशा लोग हैं।

मनुष्य की पहचान उसके चरित्र के माध्यम से होती है। यही कारण है कि उपन्यास में आने वाले मनुष्य के लिए चरित्र सृष्टि अनिवार्य शर्त हुआ करती है। इन चित्रों के माध्यम से ही उपन्यासकार अपने मंतव्य को प्रकट करता है। उपन्यास के पात्र कल्पना प्रसूत हो या यथार्थ जगत से लिए गए हों, उनको यथार्थ बोध के माध्यम से रचनाकार हमें वास्तविक जगत से जोड़े रखता है।

स्वयं प्रकाश जी ने अपने उपन्यासों में जीवन की वास्तविकता का बोध कराया है। स्वयं प्रकाश जी का उपन्यास 'ज्योतिरथ के सारथी' का पहला संस्करण 1987 में निकला था। यह उपन्यास किसान विद्रोह समाज के चेतस तत्वों की संभावित भूमिका और राजनीतिबाजी के वर्तमान से उभरते क्रांति धर्म भविष्य की एक फेंटेसी है। इसका एक छोर तो खंडित वामवाले आज से और दूसरा समर्पित क्रांतिकर्म वाले कल से जोड़ते हैं। लेखक का यह प्रथम उपन्यास होते हुए भी यह भाषा, शैली, पात्र, निर्माण आदि की दृष्टि से सशक्त रचना है। इस उपन्यास में चारूदा, नागसेन, सुधीश और ज्योति जैसे चरित्रों के निर्माण किये हैं।

“बाबा कोर्ट जा चुके थे और सुधीश ज्योति को अपनी कहानी सुना रहा था। सुनाना ही होगा क्योंकि 'ज्योति

जानना चाहती है कि वह इस आंदोलन में शामिल हो गया या नहीं। यह सोचता है क्या चाहती है ज्योति?"⁴

पिता को सुधीर 'बा' कहता था। चार लोगों का उनका सुखी परिवार था। गांधी टोपी यानी विद्रोह। भगत सिंह की पार्टी के लोग कभी-कभी गांव जाते थे। गोपनीयता का सारा जिम्मा 'बा' पर था। एक बार किसी ने मुखबरी कर दी, पुलिस गांव में पहुंच गई। क्रांतिकारियों को किसी तरह बचा लिया गया। पर सत्य की आंच पर ठाकुर का सारा दबदबा मोम की तरह पिघल गया। 'बा' का काम हो गया उस गाँव और आस-पास के सभी गांवों के किसानों के मनो में क्रांति बीज बोना। "आक्रोश की यह फसल सब्र और सहनशीलता का सीना फोड़कर ऐसी उठी कि ठाकुर का सांस लेना मुश्किल हो गया। ठाकुर ने दो डाकुओं को पाल रखा था जिसने बा को मार कर उनकी क्षत-विक्षत लाश को ठाकुर की ऊंची हवेली के कंगूरो पर रख दी थी।"⁵

"अत्याचार की इस आबोहवा में सुधीश विद्रोह की घुट्टी पीकर पड़ा हुआ था। उसके बाबा उसे शहर ले आए। कॉलेज में जब वह नया-नया गया था उसे बहुत सारे क्रांतिकारी मिल गए, किरीट, कर्णिक, अन्तो, मेहता। कर्णिक ऊपर से नीचे तक फक्कड़ था। वह लाइब्रेरियाँ चलाते हैं। उसका एक निश्चित उद्देश्य था। लड़कों को चरित्रवान बनाना, उन्हें देशभक्ति की भावना से भर देना, उनका चिंतन।".....⁶

एक बार कर्णिक उन्हें प्रखर तेजोमयी व्यक्ति नागसेन से मिलवाने ले गया, उनकी उम्र 40 वर्ष थी। उन्होंने सुधीश को बोलने के लिए कहा तो सुधीश ने कहा मेरी कोई महत्वाकांक्षा नहीं है। कोई छोटी-मोटी नौकरी कर लूंगा। गांव की थोड़ी सी जमीन और वकालत बाबा के लिए बहुत है। मुझे विवेकानंद बहुत अच्छे लगते हैं। गांधी की कूटनीति बहुत पसंद है।

"शस्त्र क्रांति में कोई आस्था नहीं।... इकोनॉमिक्स नहीं समझता, मुख्य चीज है राष्ट्रभक्ति की भावना, राष्ट्रीय चरित्र, जापान को, जर्मनी को देखिए भ्रष्टाचार मुख्य कारण अज्ञान मुख्य आवश्यकता..... दर्शन नया जीवन दर्शन..."⁷

"इधर कॉलेज में एक घटना हो गई। संघर्ष समिति बनती है। हड़ताल का आहवान किया जाता है। प्रिंसिपल छात्र प्रतिनिधियों को बातचीत के लिए बुलाते हैं। ब्रह्मा उन्हें उनके चैम्बर में चांटा मारता है। पुलिस आती है आंदोलन शुरू हो जाता है और कौन जाने अंतिम विजय इसी रास्ते वरण करें। तो हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा है। अंग्रेजी का अत्याचार नहीं चलेगा पोत दो पोत दो। इनमें डामर पोत दो एबीसीडी हाय, हाय।"⁸

दो शक्तिशाली गुटों की छीना झपटी में एक तीसरे सीधे दबू और अपेक्षाकृत निरापद बूढ़े को मुख्यमंत्री बना दिया गया। खाद्य मंत्री रीवां क्षेत्र का बहुत समृद्ध जमींदार था और पुलिस मंत्री मध्य भारत क्षेत्र का पुराना सामंत।

"मंत्रिमंडल बनने के चौथे दिन ही खाद्य मंत्री के क्षेत्र में किसानों और खेती मजदूरों ने विद्रोह कर दिया। प्रदर्शन और हड़तालें हुई, अनाज के गोदाम लूट लिए गए और घास की गंजिया जला दी गई। पुलिस लगभग तमाशा देखती रही। अखबारों ने कयास आराइयां की। नक्सलवादियों से लेकर चंबल के डाकुओं तक को दोषी ठहराया गया।"⁹

इंदौर में बुरी तरह आग भड़क उठी आजू-बाजू के किसानों ने मुंबई-आगरा रोड बंद करा दिया। मुख्यमंत्री बाल नोचने लगे मौका देखकर वामपंथी, राजनीतिक पार्टियां मैदान में कूद गई। सारे आंदोलन का चरित्र बदल गया।

किरीट सुधीश को अपनी जीप में बैठाकर सुधीश के घर लाया, उसे शक था कि नागसेन वही छुपे हुए हैं लेकिन ताम्रध्वज उन्हें लेकर फरार हो जाता है।

"इधर किसानों की मांग पीछे चली जाती है, शहरियों और विद्यार्थियों की मांगे आगे आ जाती हैं। चारू

दा शहीद हो जाते हैं। ज्योति के पैर में गोली लग जाती है। सुधीश के पैरों के नीचे से जमीन खिसक जाती है।”¹⁰ सुधीश ने अपना जीवन दांव पर लगाकर, सारे साथियों को बचा लेता है। इसलिए सुधीश की आंखों से खुशी के आंसू निकले।

स्वयं प्रकाश के ‘जलते जहाज पर’ उपन्यास की कथावस्तु श्रमिक जीवन पर आधारित है। इसमें लेखक स्वयं एक श्रमिक की भूमिका में उपस्थित है और एक जहाज पर कुली के रूप में कार्य करता है। वहां दुर्घटनाग्रस्त होता है। अपने दोस्त मदन के साथ झोपड़ पट्टी में रहकर स्वस्थ होता है। घर लौटने के लिए टिकट के पैसे जमा करने हेतु अनेक प्रकार के कार्य करता है। जिस दिन वह ट्रेन में बैठकर घर जा रहा था, उस दिन मदन की जेब में पान खाने तक का पैसा नहीं था। तब वह लेखक को एक कहानी सुनाता है कि बीच समुद्र में एक जहाज में भयानक आग लग गई है, उसमें दो बच्चे हैं, उसमें से एक उसी जहाज में खड़ा रहता है और दूसरा समुद्र में कूदकर दूसरे जहाज की दिशा में भागता है, सोचता है कि वह रेस्क्यू पार्टी लाएगा और जहाज में बचे अपने सारे साथियों को बचाएगा, पर ऐसा नहीं हो पाता। ‘जलते’ और ‘जहाज’ शब्दों के कई अर्थ निकाले जा सकते हैं, जैसे गरीबी, बेकारी की समस्या, मुंबई की कलह और अव्यवस्थित जिंदगी, कुछ नया करने की सोच, मुंबई की झुग्गी झोपड़ियों के नारकीय जीवन से मुक्ति के उपाय ढूँढना। दीपक अर्थात् लेखक का यह मंतव्य है कि इस उपन्यास से मानव जीवन को अपनी पहचान का संज्ञान लेना, जिसे यह ज्ञान हो जाता है वह अपनी मंजिल पा लेता है।

‘उत्तर जीवन कथा’ उपन्यास में स्वयं प्रकाश ने अपनी मृत्यु की कल्पना करके, उसके आधार पर जीवन के बाद घटने वाली घटनाएँ, चाहे परिवार से संबंधित हो या साहित्य जगत से, सबका संवेदना पूर्ण चित्रण किया है। इस उपन्यास का कथा नायक कोई व्यक्ति नहीं परन्तु एक आत्मा है। कथाकार स्वयं प्रकाश की आत्मा मृत्यु के बाद स्वयं एक रिपोर्टर की तरह हर स्थिति, हर स्थान का जायजा लेकर घटनाओं के बारे में बताती है। स्वर्ग से लेकर मृत्यु लोक तक की सभी घटनाओं का वर्णन किया गया है। मृत्यु लोक में लेखक का एक परिवार होता है। जिस समस्या को लेखक ने उठाया है वह अत्यधिक दयनीय है। उसको पढ़कर सबका मन द्रवित हो जाता है। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि एक तो खुद की मौत और दूसरी परिवार पर आने वाली विपत्ति और प्रतिकूल परिस्थितियाँ, रचनाकार इसी का बहुत मार्मिक और करुणा पूर्ण दृश्य उत्पन्न करता है। लेकिन स्वयं प्रकाश की बिखरने की जो प्रक्रिया है उसकी सबसे बड़ी विशेषता है, वह है संवेदनशीलता, जिसे उन्होंने चुहल और व्यंग्य के बीच भी गायब नहीं होने दिया है। मानव और मानव के अस्तित्व की चिंता उन्हें पग पग पर सताती है। इसीलिए मौत की कहानी के भीतर से भी एक जीवन दर्शन दिखाई देता है। यह दर्शन मनुष्य को जीवन जीने का तरीका सिखाता है। यही कारण है कि मृत्यु के बाद भी लेखक की काल्पनिक आत्मा निरंतर धरती का भ्रमण करती रहती है, उसे स्वर्ग उतना अच्छा नहीं लगता जितना मृत्युलोक अच्छा लगता है। मतलब यह दुनिया, क्योंकि यहां पर उनकी पत्नी और बच्चे हैं, जहां उसकी आत्मा भटकती रहती है, वह स्वर्ग लोक में भी धरती की बातें करते रहते हैं, और कहते हैं, “ऐसी की तैसी स्वर्ग की, नरक की, भूतों की मैं कहता हूँ तुम लोग ख्याति खाकर मस्त रहो, मुझे नहीं चाहिए ऐसी एंड हकीकत। आने दो साले ईश्वर को मैं कहूंगा मुझे पूर्वजन्म के चक्कर में डाल दे, चाहे फिर छिपकली या मेंढक क्यों न बना दे... और या फिर मेरा ट्रांसफर नर्क में कर दे।”¹¹

स्वयं प्रकाश जी ने इस उपन्यास में जीवन और मृत्यु दोनों की वास्तविकता यानी यथार्थ बोध को दर्शाने की कोशिश की है। क्योंकि कोई भी मनुष्य इस संसार को छोड़कर जाना नहीं चाहता है लेकिन जाना सबको पड़ता है। वास्तविकता जीवन की यही है, कोई चाहे या न चाहे। उस इंसान की उस घर में कितनी भी जरूरत हो, और समय आने पर कितना भी उपाय कर लें, जाना तो निश्चित है।

‘बीच में विनय’ उपन्यास स्वयं प्रकाश जी की उपन्यासों की कड़ी में अहम स्थान रखता है। ‘बीच में विनय’ समय और समाज की एक विशिष्ट महागाथा है। इस उपन्यास के लिए उन्होंने 1970 के दशक के मध्य काल में राजस्थान के एक कस्बे को चुना है और इस परिवार के समाज, राजनीति, आर्थिक दशा प्रवृत्तियों, मान्यताओं, मूल्य आदि की चारित्रिक विशेषताओं का इतना बारीकी से चित्रण किया है कि वह सार्वभौम हो गया है।

‘बीच में विनय’ एक पूर्व घोषित लक्ष्य को लेकर लिखा गया उपन्यास है। इसका लक्ष्य 70 के दशक में जमीनी स्तर पर कम्युनिस्ट आंदोलन की अवस्था की पड़ताल करना। उस विशिष्ट समय खंड में ऐसे कस्बों में कम्युनिस्ट किस तरह आंदोलन कर रहे थे और कठिनाइयों से किस तरह जूझ रहे थे।

स्वयं प्रकाश ने इस उपन्यास में उन सारे मुद्दों को और विमर्श को उठाया है जो उस समय कम्युनिस्ट आंदोलन को आंदोलित किए हुए थे, जैसे मार्क्सवाद की सैद्धांतिक समझ बनाम व्यावहारिक फील्ड वर्ल्ड, एक ही मूल विचारधारा के बावजूद तीन-तीन पार्टियों में विभेद और तज्जन्य कमजोरियां, पार्टी नेतृत्व और पार्टी वर्कर के संबंध, पार्टी में आंतरिक प्रजातंत्र की कमी, जोरदार बहसे हैं। हर पक्ष में लाजवाब कर देने वाले तर्क—

“इस उपन्यास के तीन प्रमुख पात्र हैं केंद्र में विनय एक निम्न नौकरी पेशा युवक दिव्य स्वप्नों में खोया रहने लगा और जब उन्होंने भी उसका साथ छोड़ दिया तो उसने एक एक महत्वाकांक्षाओं को पकड़कर बाहर अपने दिमाग से निकाल दिया।”¹²

विनय के एक ओर है भुवनेश, स्थानीय विद्यालय में अंग्रेजी के व्याख्याता है। सुसंस्कृत, सुरुचिपूर्ण, शालीन, परफेक्शन प्रिय, सुपठित, विचारक, विश्लेषक व सम्मोहक वक्ता। अपने काम के प्रति समर्पित, उसूलों पर चलने वाले आदर्श लोकप्रिय शिक्षक संगठन के सक्रिय, समर्पित साहसी सदस्य। अद्भुत क्षमता से युक्त भुवनेश विनय को अपनी ओर खींच लेते हैं। उनके परिवार में उनकी पत्नी और 18 वर्षीय बेटी है, जो विनय को अनोखे नएपन का एहसास दिलाती है। भुवनेश के अनुसार मार्सिस्ट विचारधारा और उसकी समझ बहुत जरूरी है। उनके अनुसार मार्क्सवाद एक खाका है।

विनय के दूसरी ओर है कामरेड लक्ष्मण माधव जो करबे में जिनिंग मिल खुलने पर वहाँ आए थे और आते ही मजदूरों के हित के लिए आगे बढ़कर संघर्ष करते रहे। जब विनय गुंडागर्दी का प्रतिरोध करता है तो उसे यह कहकर उचित ठहराते हैं कि जनतंत्र तो हो गया धन तंत्र, बल तंत्र तो गरीब मजदूर क्या करें। “अपना हक मांगने के बजाय गर छीन ले तो क्या वे गुंडे हो गए?”¹³ यह गुंडागर्दी नहीं मिलिटेंसी है।

भुवनेश व कामरेड दोनों वामपंथी है, पर सोच और काम करने के तरीके में एक दूसरे से एकदम अलग, दोनों एक ही कस्बे में रहते हैं। एक दूसरे को जानते भी हैं। उनमें परस्पर सहयोग की बजाय सैद्धांतिक मतभेद उठ खड़े होते हैं।

विनय दोनों के बीच में है। दोनों का करीबी, दोनों से प्रभावित। भुवनेश के ज्ञान, मार्क्सिस्ट सिद्धांत पर उनकी गहरी पकड़, उनकी प्रतिबद्धता, उनके सुदर्शन, शालीन, आत्मीय व्यक्तित्व होने के बावजूद कामरेड के समर्पित जुझारू जमीनी संघर्ष से अधिक प्रभावित है।

“साहित्य के सामने पूरा समाज होता है। पूरा समाज कोई बड़ी रचना एकांगी नहीं होती है। कोई बड़ा कवि ऐसा नहीं मिलेगा जिससे जिसने प्यार की, सौंदर्य की, फूलों की चिड़ियों की बच्चों की बातें न की हो। तुम किसी को भी देखो.... वही तुम्हें एक अद्भुत पागलपन, एक तीक्ष्ण संवेदनशीलनता, सौंदर्य की एक उत्कृष्ट प्यास नजर आयेगी—जीवन के सौंदर्य की ओर प्रकृति के सौंदर्य की।”¹⁴ स्वयं प्रकाश जी ने उपन्यासों में यथार्थ को उजागर किया है।

‘ईधन’ स्वयं प्रकाश जी का यह उपन्यास भारतीय समाज में मनुष्यता के क्षरण और अंततः विलोपी करण की कहानी है। भूमंडलीकरण की मरीचिका और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सघन संजाल ने आदमी की आकांक्षाओं, लिप्साओं और विडंबनाओं को इतना बढ़ा दिया कि इन सब के बीच और बावजूद वस्तुतः इनके कारण ही, वह आदमी नहीं रह गया है। ‘ईधन’ उपन्यास की कहानी के दो प्रमुख पात्र हैं, रोहित और स्निग्धा। स्निग्धा कॉलेज की गधा पचीसी के चक्कर में बिना सोचे समझे विवाह कर लेती हैं। विवाह के इस निर्णय की मुख्य भूमिका स्निग्धा की ही है। वह बिना मां की, अमीर बाप की बेटी है। कॉलेज में पढ़ाई और कैरियर से ज्यादा मौज मस्ती उसके जीवन का लक्ष्य था। वह बुआ की देखरेख में पली-बढ़ी। पिता के पास समय नहीं था।

दूसरी ओर रोहित पांच भाई बहनों के बीच पला बढ़ा है। बीमार मां और कंपोजिटर पिता का निम्न मध्यमवर्गीय परिवार ही उसकी दुनिया है। वह अपने जीवन में संघर्ष करके एक कंपोजिटर की नौकरी करता है। वह जीवन में संघर्ष करते हुए अच्छे दिनों की प्रतीक्षा करता है।

‘स्निग्धा’ की एकल पहल पर दोनों का विवाह होता है तो जैसे तैसे जीवित रह पाने और कठिन संघर्ष का दौर शुरू होता है। सपने और सम्मोहन के दिन अभाव और भरपूर किफायती के दिन होते हैं। रोमांस की जगह आपसी कलह शुरू हो जाती है। जिसमें एक चाटे के बदले ‘स्निग्धा’ वेक्यूम क्लीनर से रोहित पर वार करती है। इससे 6000 का वैक्यूम क्लीनर टूट जाता है और उसकी वापसी की रही-सही संभावना भी खत्म हो गई। इस हादसे के बाद स्निग्धा की आवाज बेशक साफ सुनाई देती है, मैं तुम्हारी फटीचर बिरादरी की औरतो जैसी नहीं हूँ, जो मार खा कर चुप रहूंगी और रो-धोकर बैठ जाऊंगी। हाउ डेयर यू? समझ क्या रखा है तुमने? अपना कैदी, रखैल ? लीगल वाइफ हूँ तुम्हारी। अब हाथ लगा कर देखो तुम्हें, सीधे जेल न भिजवाया तो.. ..”¹⁵ अपनी आर्थिक स्थिति के कारण ही रोहित एक आत्मकेंद्रित, कंजूस होने की वजह से स्निग्धा को बाहर लेकर नहीं जाता है। ‘ईधन’ इस विडम्बना को बहुत तीक्ष्णता और बेधड़कता से उभारता है। पैसे, काम और बेहद व्यस्त दिनचर्या में शराब भी शामिल हो जाती है। बाद में बहुराष्ट्रीय कंपनी में बड़ा अधिकारी बनकर अमेरिका जाता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के भीतरी धतकरमों पर भी उनकी नजर ठहरती है। जिस कंप्यूटर कंपनी में रोहित काम करता है उसके कंप्यूटरों पर ठप्पा अमेरिका का लगता है। यही कंप्यूटर कंपनी एक खस्ताहाल भारतीय कॉस्मेटिक कंपनी का सस्ते में अधिग्रहण करके उसके सारे उत्पाद नए ब्रांड्स के रूप में चालू कर देती है। जैसे जैसे एक-एक करके ये उपभोक्ता वस्तुएं स्निग्धा के घर में आती गईं, पति उतना दूर होता गया। उस उपभोक्ता संस्कृति का प्रतिरोध उसकी असीमित स्वीकार्यता से नहीं पारिवारिक सौहार्द की दीवार खड़ी कर के किया जा सकता है।

भूमंडलीकरण और कट्टरतावादी शक्तियों का चोली दामन का साथ है। ये दोनों चीजें मिलकर आदमी को उसके होने और बने रहने की संभावना को एक जली अकड़ी और बेशिनाख्त लाश में ही बदल सकती है। युवा बेटे को खोकर स्निग्धा और रोहित अपने-अपने ढंग से इस दुष्चक्र से बाहर निकलते हैं। स्वयं प्रकाश की भाषा बहुत व्यंजना पूर्ण और चित्रात्मक है। भूमंडलीकरण और उपभोक्ता संस्कृति के प्रतिरोध की लड़ाई लड़ी जा सकती है इसे स्वयं प्रकाश ने ईधन उपन्यास में दर्शाया है।

यथार्थ बोध से युक्त रचनाकार बिना किसी डर, भय, संकोच, पक्षपात आदि से ईमानदारी पूर्वक यथार्थ स्थितियों का उद्घाटन करता है। उसकी दृष्टि में उच्च निम्न के बीच कोई पार्थक्य नहीं होता। वह व्यक्ति और समाज की यथार्थ स्थितियों से सामान्य रूप से जुड़ा रहता है।

संदर्भ :

1. डॉ. प्रतिभा प्रसाद, अमृतलाल नागर के उपन्यासों में यथार्थ बोध, अमन प्रकाशन कानपुर, 2013, पृ. सं. 69

2. वही, पृ. 74
3. वही, पृ. 66
4. स्वयं प्रकाश, ज्योतिरथ के सारथी, साहित्य भंडार, प्रयागराज, 2019, पृ. सं. 12
5. वही, पृ. 12
6. वही, पृ. 14
7. वही, पृ. 16
8. वही, पृ. 25
9. वही, पृ. 66
10. वही, पृ. 76
11. स्वयं प्रकाश, उत्तर जीवन कथा, परिमल प्रकाशन, इलाहबाद, 2008, पृ. सं. 27
12. स्वयं प्रकाश, बीच में विनय, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, 1994, पृ. सं. 14
13. कनक जैन, असंभव के विरुद्ध, कथाकार स्वयं प्रकाश, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2018, पृ. सं. 213
14. वही, पृ. 221
15. स्वयं प्रकाश, ईधन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2004, पृ. सं. 68



शिव कुमार यादव की कहानियाँ : भारतीय समाज की समस्याओं का दस्तावेज़

○ ऋषि कुमार

शिल्पांचल या कोयलांचल अपनी साँझी संस्कृति के लिए विख्यात है। यह वह क्षेत्र है जिसने मानवीय कर्मरत जीवन को महत्ता प्रदान की। आज भी जीविकोपार्जन के लिए लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ जा रहे हैं। उसी क्रम में उत्तर भारत खासकर बिहार और उत्तर प्रदेश से लोग दो तीन पीढ़ी पहले अर्थात् स्वतंत्रता के आस-पास कोलकाता, आसनसोल, रानीगंज, धनबाद जैसे स्थानों पर आएँ। यहाँ उन्हें जो भी कार्य मिला वे बड़ी ईमानदारी और सिद्धि के साथ करने लगे। वह काम छोटा हो या बड़ा, इससे उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। कोयलियरी में खदान के नीचे जाना हो, या जूट मिल में कार्य करना हो, या मजदूरी करना हो, या रिक्शा चलाना हो, या यूँ कहें कि कोई भी कार्य क्यों न हो, जो मिलता बड़े तन्मयता के साथ करते। जिसमें धीरे-धीरे उनके परिवार की गाड़ी के साथ-ही-साथ शहर या राज्य का भी विकास होता गया। आसनसोल या उसके आस-पास के लोगों ने सांस्कृतिक-साहित्यिक कार्य को देखकर स्वयं भी सांस्कृतिक- साहित्यिक कार्य करने लगे। उन्हीं लोगों के बीच से निकला साहित्यिक क्षेत्र में निःसंदेह सबसे बड़ा नाम संजीव जी का आता है, जिन्होंने शिल्पांचल एवं कोयलांचल का नाम विश्व स्तर पर उजागर किया है। उनकी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए शिवकुमार यादव, सृजय, महावीर राजी, सरीखे रचनाकारों ने इस कार्य को और आगे बढ़ाया है। शिल्पांचल के कई रचनाकारों की रचना प्रक्रिया अब सुस्त पड़ती दिख रही है पर रचनाकार शिवकुमार यादव आज भी निरन्तर संघर्षरत हैं।

शिव कुमार यादव का जन्म 11 जनवरी, 1963 में बिहार के बक्सर जिला कतिकनार ग्राम में एक निम्न किसान परिवार में हुआ। इनकी प्रथम कहानी सारिका में मार्च 1985 में छपी थी। अभी तक इनके तीन कहानी-संग्रह 'हवा' (2007), 'काले फूल का प्रेम' (2012) और 'रामऔतार की भेंस' (2016) में प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी शिक्षा-दीक्षा बिहार में ही हुई। पर इनका कर्मक्षेत्र बना शिल्पांचल का बर्नपुर। जिसके कारण इनके मन में गाँव एवं शहर का द्वन्द्व चलना स्वाभाविक है। यह द्वन्द्व एवं संघर्ष इनके कहानियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गाँव के किसान की समस्याएँ, जाति-पाति, छुआ-छूत, शहर के मजदूर, पिता-पुत्र सम्बन्ध, खोखले विकास, नेताओं की करतूतों आदि का अपनी कथा में बड़ी सहजता के साथ चित्र खींचा है जो एक बड़ी वजह की माँग करती है।

शिवकुमार अपने प्रथम कहानी-संग्रह 'हवा' में अपने आस-पास के आम जन की घटनाओं को बड़ी ही बेबाकी से हमारे सामने रखने का प्रयास करते हैं, जिसमें वे सफल होते दिखते हैं। आज साधारण लोग अपने छोटे-छोटे सपने को सँजोये किस प्रकार जीना चाहते हैं, इन्सान की तरह। इस संग्रह में कुल दस कहानियाँ हैं

जिसमें ‘हम जायें तो जायें कहाँ’, ‘सीमा-रेखा’, ‘अंधेरे में बेकली’, ‘मानव-मूल्य एवं हवा’ प्रमुख है। इन कहानियों के सम्बन्ध में संजीव जी कहते हैं कि, “शिव कुमार यादव की कहानियाँ समाज की तलछट में जी रहे जीवट वाले लोगों की कहानियाँ हैं। वे किसान हों या मजदूर, घर-बारी हों या आतंकवादी, प्रथमतः और अन्ततः मनुष्य हैं।”¹ संजीव जी ने यह सच ही कहा है कि शिकुमार जी की कहानियों में सर्वप्रथम मनुष्य की बात कही जाती है क्योंकि आज के समय में मनुष्य बनना कठिन कार्य होता जा रहा है। ‘हम जायें तो जायें कहाँ’ में शंकर का परिवार गाँव से शहर आया है और हाड़-तोड़ मेहनत करने के बाद किसी तरह दो वक्त की रोटी अपने परिवार के ले जुटा पाता है। अब शहर में कर्पू लग गया है। शंकर के घर में कई दिनों से कर्पू के कारण खाने-पीने का सामान समाप्त हो चुका है। वह सोचता है कि कर्पू में कुछ समय के लिए ढील मिले तो सपरिवार गाँव निकल जायें। अब यहाँ रहना ठीक नहीं है। कर्पू के कारण चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। तभी किसी ने दरवाजे को खटखटाया। शंकर की पत्नी बोली मत खोलो, पर वह खिड़की से देखता कि एक पतला-दुबला व्यक्ति चादर ओढ़े खड़ा है। शंकर के मानो प्राण ही सूख गये हों। फिर वह व्यक्ति फिर आवाज लगाता है। शंकर ओ शंकर। पत्नी बोली मत खोलो बच्चों कि कसम। पर जब शंकर पूछता है कि तुम कहीं बीहिटा-दनवार के तो नहीं। वह झट कहता है हाँ वही हूँ, चतुरानन। तब शंकर दरवाजा खोलता है और माँ नाम सुनते ही लपककर आती है, और बात करने लगती है, दरवाजा पुनः बंद हो जाता है। माँ के पहचान लेने से शंकर और उनके परिवार के लोगों को शांति मिली। अब बातचीत होने लगी गाँव घर में कौन है, कौन नहीं है। फिर कर्पू की बात होने पर वह कहता है, “तुम्हें नहीं मालूम तुम्हें नइ मालूम कि यह शहर ही सबसे डेन्जरस है, कल तो टी.वी. में भी दिखाया था। समाचार के समय और जानते हो, इहाँ के मुसलमानों ने एक भी हिन्दूओं को नहीं छोड़ा मानो शंकर ऐसे कह रहा हो जैसे कि शहर में भेड़िया घुस आया है। आदमकोर भेड़िया...।”² यानी शहर में दंगा होने पर सभी डरे सहमे रहते हैं क्योंकि कब किधर अप्रिय घटना घट जाए किसी को पता नहीं। तब चतुरानन कहता है यहाँ तो मुसलमानों के कारण हो रहा है पर हमारे गाँव में तो एक भी मुसलमान नहीं है फिर वहाँ मार-काट क्यों है? इस पर शंकर चौंक पड़ा। तब फिर उसने कहा, गाँव कई वर्षों से नहीं गए हो न इसलिए ऐसी बातें कर रहे हो। आगे बहुत कुछ शहर और गाँव के सम्बन्ध में बातें होती हैं। फिर उसने पूछा, काकी तुमने गाँव काहे छोड़ दिया। पुरानी बातें फिर आँखों के सामने आ गईं। हरि सिंह एकमात्र अच्छे इन्सान थे पर उनको भी मार डाला गया। इस पर माँ कही उन्हें कोई नहीं मारता। चतुरानन कहता है भाला सिंह की कही बातों को कौन टाल सकता है? उसे मारने वाला कोई नहीं है। चतुरानन कहता है कोई माई का लाल नहीं है। एक व्यक्ति था पर। शंकर पूछता है कौन? तब वह कहता है मैं और उसका चादर हवा के कारण शरीर से गिर पड़ता है। शंकर और उसकी माँ उसके विकलांग शरीर को देखते रह गये वे सोचते हैं कि, “हमारी जगह कहाँ है...गाँव में या शहर में, देश में या विदेश में...कहाँ है हमारी जगह? जहाँ हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं...जाति, धर्म का नाम नहीं, ...दोनों जगह गुण्डे हैं...शरीफ हैं तो उनकी चलती कहाँ। हम जायें तो जायें कहाँ, जहा सुरक्षित जी सके और सुख-दुःख के सपने सजा सकें।”³ सच कहा जाए तो गाँव और शहर की स्थिति एक समान हो गयी है। कहीं दंगा-फसाद, कर्पू है तो कहीं जाति-पाति, जमीन-जायदाद को लेकर मार-काट मची है। आखिर आज साधारण लोग यह सोचने पर विवश हो गये हैं कि ‘हम जायें तो जायें कहाँ’। ‘सीमा-रेखा’ में किस प्रकार घर बिखरते हैं को दिखाया गया है। मनरोमा अपने पति को अलग करने में सफल हो जाती है। जबकि दोनों भाई मिल-जुलकर रहना चाहते थे। पिता जी ने बड़े दुःखी मन से – “भाभी की आँखों में जलते अंगारों को देखा और एक लम्बी साँस अपने भीतर भरते हुए अनुमति दे डाली तो जाओ, बना लो अपने-अपने मन का हिन्दुस्तान-पाकिस्तान...।”⁴ मनोरमा के पति नौकरी करते थे इसलिए उसे लगता था कि उसके पति का सारा पैसा भाई के परिवार पर खर्च हो जा रहा है। पर जब मनोरमा के दोनों बेटे बड़े हुए

तो आवारा निकले। मनोरमा के पति का सारा पैसा अपने बच्चों में खर्च हो जाता है। उधर जेठ के दो बच्चे नौकरी और एक पिता की पान की दुकान पर बैठने लगता है। दिन पर दिन जेठ की स्थिति अच्छी होती गई और मनोरमा कंगाल होती गई। एक दिन जब भाभी से उधार माँगने गयी तो वह बोली- “मैं किसी डोम-चमार को दे दूँगी पर तुम्हें नहीं।”⁵ मनोरमा खाली हाथ लौट आयी गरीबी के थपेड़े खा-खा कर वह टूट गई थी। उसके पति ने एक पान की गुमटी खोली। सारा दिन बेचने के बाद पाँच रुपया मिला जिसे मनोरमा के हाथ पर रखते हुए कहते हैं कि, “लो बँटवारे की असली सौगात। याद है तुम्हें, भैया भी हमें पाँच रुपये ही दिया करते थे, तब उन्हें बेईमान, नमक हराम और न जाने क्या-क्या कहा करती थी तुम।”⁶ मनोरमा कुछ कह नहीं पाती है, शर्म से आँखें झुक चुकी थी। गरीबी के कारण गिड़गिड़ाने लगी। पर अब कोई सुनता नहीं है। उसके पति की नजर सीमा-रेखा पर पड़ी जिसके इस पार गरीबी और उस पार अब अमीरी आ गई थी। उसे ऐसा आभास हुआ कि सीमा-रेखा के बीचों-बीच बैठे माँ-पिताजी मुस्कुरा कर पूछ रहे हैं कि अब कैसे करोगे डेढ़ कमरे का बँटवारा अपने दो बेटों में। आज आधुनिक समय में थोड़ा-सा पैसा हुआ कि नहीं घर की औरतें परिवार से अलग रहना चाहती हैं जिसका खामियाजा उन्हें आगे चलकर उठाना पड़ता है। हद तो तब हो जाती है जब माता-पिता को भी नहीं बख्शा जाता है। वे भूल जाती है कि वह भी कभी बूढ़ी होगी उनके बच्चे भी बड़े होंगे। इस प्रकार कहानी में जैसी करनी वैसी भरनी वाली कथन चरितार्थ होती है। ‘अंधेरे में बेकली’ कहानी में सामाजिक परिवेश, राजनीति, अंध-विश्वास आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस कहानी की बेकली मुख्य पात्र है जो सरकारी अस्पताल में पोस्टमार्टम करती है। वह तंग गलियों में नाला के बगल में रहती है क्योंकि गरीब, साफ-सफाई वाले और न जाने कितने लोग रहते हैं यहाँ। नेता और अफसर किस प्रकार हमारे देश में काम करते हैं इसकी एक बानगी यहाँ उपस्थित है। रचनाकार कहते हैं कि, “खर-पुआल और खपड़े-नरियों का अद्भुत संसार था यहाँ। उस तरफ बह रहा था शहर का नाला, नाले में सड़ते बज-बजाते कचड़ों का ढेर और मरे हुए जानवरों की दुर्गन्ध से फैली बीमारियाँ, जिन बीमारियों का कोई इलाज न था। इलाज जहाँ से होना था, म्यूनिस्पैलिटी की आँखें फूट गई हों जैसे कुछ भी दिखाई नहीं देता था। अगर किसी दयावान लीडर या ईमानदार अफसर की नजर पड़ भी गई तो बहिष्कृत इलाका कहकर टाल दिया जाता था। इससे भी काम न बना तो सफाई के नाम पर बुलडोजर घुमवा दिया जाता था।”⁷ यही स्थिति हमारे देश की है। थोड़ा सफाई करवाकर कह दिया जाता है कि कार्य पूर्ण हो गया पर होता कुछ नहीं है। इसी परिवेश में बेकली जीने को मजबूर है। ऊपर से मरद (पति) पियक्कड़ मिल गया है जिससे आये दिन बाता-बाती और झगड़ा होते रहता है। फिर भी बेकली संघर्ष के पथ पर बढ़ रही है। उसका कोई संतान नहीं था। इसके कारण उसे पति, सास और गाँव के लोगों ने बाँझ तक कह डाला। इससे वह चिंतित रहती है। एक दिन मनोरम बहू कहती है ये थपून बहू तुम एक बार श्मशान घाट वाला बाबा से काहे नहीं मिलती है तुम्हारा बाँझपन दूर हो जाएगा। वहाँ मंतरी, अफसर और सेठा-साहूकार सभी जाते हैं। अपनी मन की मुराद को पूर्ण करने के लिए। वह आश्चर्य में पड़ जाती है। वह जब श्मशान घाट बाबा के यहाँ मनोरथ बहू के साथ आधी रात में पहुँचती है तो भीड़ लगी थी। जब बेकली गई तो घर में अँधेरा था। वह डर गई पर बाहर जाने का कोई रास्ता नहीं था जबरन न चाहते हुए भी उसे अपना सबकुछ लुटाना पड़ा। उसे बहुत गुस्सा आया। इस तरह देश में न जाने कितने बाबा अंध-विश्वास से स्त्रियों की अस्मिता से खिलवाड़ करते हैं। अन्त में एक दिन एस.पी. साहब की लड़की ने बहादुरी के साथ बाबा के चंगुल से बचकर पुलिस को खबर की और वह मारा गया। जब पोस्टमार्टम के घर से उसे कोई नहीं ले जाता है तो बेकली डॉ. से कहती है कि यह कौन है? क्या इसका कोई वारिस नहीं है? तो डॉक्टर साहब बोलते हैं कि यह श्मशान घाट वाला बाबा है। बेकली का गुस्सा सातवें आसमान पर था और चाकू घोंपने लगी और चीखकर कहने लगी कमीना, दगाबाज पापी। घर आने पर बेटा लोटना कहता है कि माई सचमुच हम हरामी

हैं। बेकली कुछ कह नहीं पाती है उसके सामने अंधेरा फैल जाता है जो वर्षों पहले बाबा की गुफा में था। 'मानव-मूल्य' में रचनाकार गरीबनाथ के द्वारा समाज में मानव-मूल्य का दिन-प्रतिदिन किस प्रकार क्षय हो रहा है को दर्शाया गया है। गरीबनाथ, नरेश महतो, हरि दास सब एक प्लांट में काम करते थे। गरीबनाथ एक रचनाकार भी थे इसलिए पढ़ने-लिखने में उनकी रुचि थी। अपनी बेटी अनुपमा से गरीबनाथ जब पूछते हैं कि कल पढ़ने क्यों नहीं गई? वह कहती है कि बस का भाड़ा नहीं था। यह सुनकर मानो उनका कलेजा फट गया हो। अपनी जेबों को टटोला तो दो का सिक्का मिला। बेटी को देते हुए कहा कि लो चली जाना। वह सिक्का लेकर सोचती है- “ईश्वर भी अच्छा मजाक कर लेता है। पैसा तो दूर रहा, न खाने को अन्न न पहनने को वस्त्र...! बाप करजे से लदा है, माँ झगड़े और ताम-झाम में व्यस्त। मजबूरियों की रेलगाड़ी हवा और पानी पर कहाँ तक चल पायेगी यह भी राम जाने।”⁸

गरीबनाथ अपनी ईमानदारी के और सत्य मूल्य के कारण दूसरे लोगों से अलग-थलग पड़ता जा रहा था। राशन के लिए सेट एवं मित्रों के यहाँ जाकर पैसा माँगता है तो देने से सभी इन्कार कर देते हैं। गरीबनाथ खाली हाथ घर लौटता है उस पर पत्नी उल्टा-सीधा कहती है। प्लांट में एक बार जब अचानक एक्सीडेंट हो जाता है तो घायलों को हॉस्पिटल ले जाने के सम्बन्ध में गरीबनाथ के सुझाव को नकार दिया जाता है। हद तो तब हो जाती है, जब परमानेंट के लिस्ट में गरीबनाथ का नाम नहीं रहता है। उसे कुछ समय में नहीं आता है मानो वह काठ का हो गया है। जब हरिदास ने कहा कि अरे भाई भगवान दास से मिले थे। गरीबनाथ ने कहा नहीं, क्यों मिलना चाहिए था। तब वह कहता है कि यह युग ईमानदारी का नहीं है। जाकर मिलो यूनियन वालों से। गरीबनाथ कहता है कि उन्हें घूस देना होगा। क्या तू भी दिए हो। वह कहता है कि मैं तुम्हारी तरह लेखक और कवि तो हूँ नहीं कि ईमानदारी की आग में जलता रहूँगा। कितना दिये हो। वह कहता है जितना प्रोविडेंट फण्ड काटा हुआ है उसका आधा। गरीबनाथ चौंकते हुए कहता है कि जीवनभर की कमाई गयी। वह कहता है कि लेन-देन से काम बनता है तो करवा लो। यह मेरा सुझाव है। गरीबनाथ यूनियन ऑफिस जाकर कॉमरेड धनिक लाल मंडल से मिलता है तो वह पूछते हैं कहो कैसे आना हुआ। गरीबनाथ कहता है एक काम था। हाँ, कहो। तब वह कहते हैं कि परमानेंट रोल में जिन कॉन्ट्रैक्टर-लेबरों का नाम है उसमें मेरा नहीं है। जबकि मैं सबसे पुराना लेबर हूँ। वह कहते हैं जिनका हुआ है वे हमारे यूनियन के मेम्बर हैं। गरीबनाथ भी पॉकेट से निकालकर पुर्जी दिखाता है। तब बात को घुमाते हुए वे कहते हैं तुमने चंदा और लेबी क्लियर किया है। नहीं। तब कैसे होगा। गरीबनाथ कहता है कि दे दूँगा और पार्टी ने जो लगाया है उसे भी दे दूँगा। वह कहता है नहीं कल पार्टी ने फैसला किया है कि जो पार्टी को नकद पचास हजार देगा उसी का काम होगा। गरीबनाथ आश्चर्य से कहता है पचास हजार। वे सेखी बघारते हुए कहते हैं कि यहाँ लोग लाखों दे रहे हैं। कल तक दोगे तो काम होगा, फिर उसके बाद नहीं होगा। गरीबनाथ इधर-उधर दौड़ा पर कुछ नहीं हुआ। गोपीनाथ अपमान, घृणा और गरीबी की सरहद पार एक ऐसी दुनिया में चला गया जहाँ से लौटकर आना नामुमकिन है। जब कार्लमार्क्स, लेनिन, माउत्सेतुंग सरीखे विचारक की पार्टी के लोग इस प्रकार पैसा ले रहे हैं जो असहाय गरीब की सहायता करने का दंभ भरते हैं तो दूसरे पार्टियों का क्या हाल होगा? इस प्रकार एक ईमानदार व्यक्ति समाज के षडयंत्रकारियों से लड़ नहीं पाता है।

'हवा' इस संग्रह की अंतिम कहानी है जो मुख्य रूप से ग्रामीण राजनीति पर आधारित है जिसके केन्द्र में है काली। जब बुधन राम काली बो से पूछते हैं तो वह कहती है घर पर ही हैं। वह कहते हैं उसे मुखियाजी ने बुलाया है। उसकी पत्नी सोमरिया कहती है कि रोज-रोज बबुआन के यहाँ क्यों जाते हो। इस पर काली डाँटता है तो वह भीगी बिल्ली बन जाती है। बुधन राम कहते भी हैं कि ढेर बड़कन के साथ मेल-जोल ना बढ़ा। काली ने उन्हें यह कहते हुए झाड़कर निकल गया कि बड़कन-छोटकन का जमाना नहीं रहा। जब वह मुखिया

जी के पास जाता है तो देखता है मुखिया हनुमान सिंह और नगीना मिसिर कुछ बातें कर रहे हैं। हनुमान सिंह नगीना से कहते हैं, “उन चमारों, दुसाधों से, जो उनके यहाँ बनिहारी (मजदूरी) किया करते हैं। सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि बैरी टोला ग्राम पंचायत को हरिजनों के लिए सुरक्षित क्षेत्र घोषित कर दिया गया था।”⁹ यह सोचकर वह चिंतित हो रहे थे। इनकी सोच यही थी कि अब तो छोटे लोग ही इस पद पर आसीन होंगे। काली के आने के बाद हनुमान सिंह उसे राजनीति का मोहरा बनाते हुए बड़ी चालाकी से कहते हैं काली, तू खड़ा हो जा पंचायत चुनाव में। वह आश्चर्य से कहा क्या। तब वह कहे हों काली, तुम्हारे खड़ा होने से साँप भी मर जाएगा और लाठी भी न टूटेगी। वह अब गंभीर हो गये और काली को झाड़ पर चढ़ाते हुए कहते हैं कि मुखिया बन जा काली दुबारा मौका नहीं मिलेगा। वह कहते हैं मिसिर बाबा आज भले इसका मजाक उड़ा लो कल जीत जाएगा तो इसके आगे नाक रगड़ोगे। पर वह मजाक समझा था। काली के बोलने पर जब मिसिर जी उखड़ गये तब हनुमान सिंह समझाते हैं। फिर काली और मिसिर जी में बात होती गयी और काली को मजा आता गया। उसे वह मना लेते हैं पर्चा भरने के लिए। पर्चा भरकर आने में देर होती है तो घर वालों के मन में भय समा जाता है। सुखी बहू, डोमन यादव और बैजू कुर्मी काली को समझाते हैं कि चुनाव से हट जाओ। पर वह नहीं हटता है। नगीना मिसिर जब कहते हैं कि मुखिया जी बुला रहे हैं काली भाई। उसे लगता है यह कितना बड़ा सम्मान है वह कहता है किसलिए भाई। उसे एक बार घर लौटते समय लगता है उसका कोई पीछा कर रहा है तो भागे-भागें घर आता है। वह अब अपने आपको हवा में महसूस कर रहा था। तभी चुनाव हार जाता है तब जो सिंह एवं मिसिर जी साथ थे वे भी गरियाने लगते हैं। गाँव में आग लगती है तो पुलिस पकड़ कर ले जाती है। यह कहते हुए की चुनाव हारने के बाद अब गाँव में आग लगा रहे हो। जेल में उसे चमार होने के कारण टट्टी भी सफा करना पड़ता है। वह देखता कि जेलर साहब के ऑफिस में हनुमान सिंह, नगीना मिसिर, सुखी बहू और तबेला अहीर बैठकर हँस रहे हैं। वह मुजरिम-सा खड़ा रहा। आज भी गाँवों में लगभग यही स्थिति देखने को मिलेगी। भोली-भाली छोटी जाति एवं गरीब जनता को वहाँ के ऊँची जाति के लोग अपनी वर्चस्व एवं शक्ति के दम पर आज भी शोषण कर रहे हैं। इसमें राजनीतिक एवं सरकारी तंत्र सबकी मिली भगत रहती है।

शिवकुमार अपने कहानी-संग्रह ‘काले फूल का प्रेम’ में समाज एवं अपने आस-पास के घटनाओं को बड़े शिष्ट एवं सूक्ष्म दृष्टि से हमारे सामने रखने का प्रयास करते हैं। इनकी कहानियाँ समाज के विभिन्न समस्याओं को उद्घाटित करती हैं। इस संग्रह की प्रथम कहानी ही है, ‘काले फूल का प्रेम’। यह कहानी एक तरफ कोलियरी के कठिन जीवन को बयां करती है। वहाँ कार्य करने वाले लोगों की स्थिति कितनी दयनीय है, असुरक्षा के कारण मजदूरों की कोलियरी में मौत होने पर अफसर, मैनेजमेंट, नेता और सरकार ये सब मिलकर मजदूरों के मरने पर मरहम के बजाय इसके लीपापोती करने में लग जाते हैं, “दहल उठा था, कोयलांचल... मगर नहीं दहल पाये थे यहाँ के मैनेजमेंट, यहाँ के अफसर...। न जाने किस बिल में चूहे की मानिन्द घुस गये। सेफ्टी वाले भी न जाने कहाँ मर बिला गए?”¹⁰ वहाँ परिवार के लोगों के जुटने पर पुलिस एवं पारा मिलिट्री फोर्स की फायरिंग में जो लोग मारे गये, उन पर कोयला चोरी के आरोप लगाकर एफ.आई.आर दर्ज किया गया, तो दूसरी तरफ प्रतिवाद में काले पड़ गये चेहरों के परिदृश्यों को उभारती है। इस संग्रह की श्रेष्ठतम कहानियों में एक है ‘हँसली माई की जै’ जो स्त्री के जीवन की संघर्ष के साथ-साथ समाज के नकारात्मक सोच को दर्शाती है। यह कहानी भारतीय ग्रामीणों की रूढ़िवादी परम्परा को बड़े बारीकी के साथ उजागर करती है। खदेरन की बहू के जीवन की त्रासदी है कि वह खदेरन की मृत्यु के बाद अपने घर, ससुराल आदि सभी जगहों से भगाई जाती है एवं कुल्टा, चरित्रहीन तथा न जाने कौन-कौन सी उपमा से युक्त होती है। उसके इज्जत से खिलवाड़ किया गया। वह चाह कर भी अपने छोटे बच्चे को बचा नहीं पाती है। “उसके भीतर खौफ सनसनाते

रहे। उसे नहीं मालूम कि नीच जाति में जन्म लेना ही अपराध है... इस लोक का सबसे बड़ा अपराध किसी पुरुष से प्रेम...।”¹¹ यह कथा भले मिथहास हो पर ग्रामीणों की व्यथा, स्त्रियों के प्रति सोच को बड़ी सूक्ष्मता एवं जीवंतता से उजागर करती है। ‘विस्थापित’ कहानी में आज के आधुनिक समय में एक पिता की मनःस्थिति क्या होती है, जब एक जवान लड़की घर में होती है। पिता अपनी बच्ची को बचपन में पढ़ाना नहीं चाहते हैं, पर धर्मपत्नी के दबाव में पढ़ने देते हैं। लक्ष्मी बड़ी होकर पढ़-लिखकर नौकरी पा जाती है। उसके पिता पंडित राम गोपाल शास्त्रीजी अपनी बेटी की शादी दयालू तिवारी के पुत्र गौतम तिवारी से पक्की की है। उन लोगों के आग्रह पर अपनी बेटी लक्ष्मी की नौकरी भी छुड़ा देते हैं। पर एक दिन जब सुनते हैं कि गौतम अपने कम्पनी की एक लड़की से शादी कर लिया तो उनके पैरों तले की जमीन खिसक गयी। अब पं. रामगोपाल शास्त्री जी पछताने लगे कि अपनी बेटी की नौकरी क्यों छुड़वाई। इस प्रकार लक्ष्मी पढ़ाई, नौकरी, प्रेम, घर और परिवार से मानो विस्थापितों की तरह विस्थापित होती चली गई। आज भी लड़कियों के साथ समाज एवं परिवार में दोहरा मापदंड अपनाया जाता है। ‘गौहत्या’ संग्रह की चौथी कहानी है। इसमें किस प्रकार लोग अपने-अपने स्वार्थों में अंधे हो गये हैं, उनके अन्दर आत्मीयता अर्थात् वे मनुष्य तो हैं पर उनके अन्दर मनुष्यता समाप्त होती जा रही है। अर्थहीनता में ही सांप्रदायिकता की धिक्कारजनक स्थिति पैदा होती है। चतुर लोग धर्म एवं मजहब का वास्ता देकर किस प्रकार मारने-मरने पर आतुर दिखते हैं, “जैसे-जैसे रात का सफर आगे बढ़ता गया मस्जिद का आलम डरावना होता गया। रह-रहकर ‘या अली’ की गूँज मन में जा बैठी। तब और भी भयानक होती गई, जब मंदिर के ऊँची मीनार से ‘हर-हर महादेव’ के नारों से संवेदनाएँ क्रूर से क्रूरतम होती गई...।”¹²

‘लकीर’ कहानी भ्रूण हत्या पर आधारित है जो समाज में एक औरत के साथ-ही-साथ परिवार की मानसिकता की दिशा एवं दशा को दर्शाती है।

‘मेघा मुसहर की आँख’ में समकालीन ग्रामीण राजनीति को कई कोण से उजागर किया गया है। इसमें वर्ग एवं वर्ण संघर्ष को बड़ी सूक्ष्मता से दिखाया गया है। पहले दलित, पिछड़ा, शोषित मिलकर एक साथ संघर्ष करते हैं, पर बाद में इन्हीं लोगों को षडयंत्र करके फँसाया एवं हत्या किया जाता है। बड़े एवं दबंग लोग राजनीति या ऐसे पार्टियों का उपयोग बड़ी धूर्तता से करते हैं। जरूरत पड़ने पर हाथ भी जोड़ लेते हैं। इन्हीं सारी विषमताओं पर इस कहानी में प्रकाश डाला गया है। ‘परछाइयों का नाच’ कहानी में आज मूल रूप से आधुनिक भारत में हो रहे विकास के साथ-ही-साथ किसानों की दुर्दशा एवं उनके विस्थापन की समस्याओं को दर्शाया गया है। किसुनी किसान कभी सुखा तो कभी बाढ़ से तंग आ जाता है। उसकी पत्नी मैना उसे मुम्बई जाने के लिए कहती है क्योंकि उसकी सहेली कमला वहीं जाकर रहती है। किसुनी कहता है इस बार फसल हो जाए तो काट-पीट कर चला जाऊँगा, पर नहीं जा पाता है। खेत पटाते समय आधी रात को नारायण राय ने लाठी से उसे पिटवा दिया। तब वह कहता है अब यहाँ नहीं रहेंगे। मुंबई ही चले जाएँगे। पर मैना कहती है कि वहाँ से लोग भाग कर यहाँ आ रहे हैं। कमला की उन दरिंदों ने जान ले ली है। नरेश चाचा का घर उजाड़ दिया, वह सचमुच खौफ में सुना गई है। वह कहती है, “छोटी जात और बड़ी जात के बीच का झगड़ा है...तो शहरों में मराठी, बंगाली और पंजाबी होने का झगड़ा है।”¹³ इस प्रकार देश का किसान न गाँव में सुरक्षित है न शहर में, वह अपने आप को हर जगह सशंकित एवं असुरक्षित महसूस करता है।

‘गैस-सीलड’ में रामदीन के माध्यम से कारखाने में काम करने वाले लोगों की जीवन शैली का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। लोग कर्ज में पड़कर कर्जदारों से आजीवन मुक्ति नहीं पाते हैं। एक ओर माँ हॉस्पिटल में है पर इन मजदूरों पर आज के ऑफिसर बड़ी सख्ती से पेश आते हैं। ड्यूटी में अपने फोन पर बात करते हैं पर मजदूर रामदीन से उनको फूसत कहाँ बात करने की? अन्त में जब हॉस्पिटल आता है तो उसकी माँ का देहान्त हो जाता है। एक ओर कर्ज, चाचा एवं बेटे द्वारा प्रताड़ना, माँ की मौत- ये सारी चीजें उसे झकझोर कर

रख देती हैं। यह कथा आज के मध्य परिवार की जीवंत कथा के रूप में हमारे सामने कर्ज के भयावह, हताहत मानवीय स्थितियों को उजागर करती है। इसके उपरान्त 'कई-कई शक्तों वाले प्रेत' में एक पिता मेहनत करके भी अपने दो बेटों एवं एक बेटी को बढ़िया से पढ़ाना-लिखाना एवं उसकी शादी तक नहीं कर पाता है। अपनी सारी जमा पूँजी लड़की की शादी में लगा देता है। वहीं दूसरी ओर मित्र कैलाश की लड़की के साथ दरिदों ने दुष्कर्म कर उसे मौत के घाट उतार दिया, जिससे आज के आधुनिक समाज में एक पिता बड़ा डर-डर कर रहता है कि कहीं उसके बेटियों के साथ भी कुछ न हो जाय। इस प्रकार यह कहानी मूल रूप से श्रम के अपमान एवं निष्फलता की कहानी है। 'एक अपराध यह भी' में गरीब, लाचार, बेबस, दलित, शोषित आदिवासी रक्षा के लिए सरकार का अगर विरोध करते हैं तो उन्हें माओवादी एवं आतंकवादी करार देकर नेता, पुलिस एवं सरकार तीनों मिलकर इस प्रकार अत्याचार करते हैं कि वह दुनिया छोड़कर चला जाता है, "इन तैंतीस वर्षों में छत्तीस हजार कल-कारखानों को बंद कर दिया गया है। न जाने कितने लोग बेरोजगार हो गये हैं। भूखमरी के शिकार हो गये हैं। कितनों ने तो आत्महत्या भी कर ली है। क्योंकि न तो उनके पास जमीन बची थी, न तो रोजगार और न ही बच्चों को पढ़ाने-लिखाने की सुविधाएँ ही।"¹⁴

'नींद में सपनों का आना' में आधुनिक समाज में नयी पीढ़ी एवं पुरानी पीढ़ी के सोच के द्वन्द्व के साथ-ही-साथ प्रेम विवाह एवं अनमेल विवाह को दर्शाया गया है।

'रामऔतार की भैंस' के सम्बन्ध में सुधीर विद्यार्थी कहते हैं, "जीवन के जिन चित्रों से उनकी कथाओं में हमारा आमना-सामना होता है। वे रोजमर्रा के दृश्यों से पृथक नहीं हैं जो हमारे हर तरफ बिखरे पड़े हैं और हमें पीड़ा देते हैं तथा जिन्हें बदलना किसी भी समय समाज का प्राथमिक कार्यभार होना चाहिए। उनकी कथाएँ हमें इस ओर भरपूर सचेत करती हैं। उनके अनुभव संसार से परिचित होना हमारे लिए जरूरी है। हर बार लगता है कि वे एक नया दरिचा हमारे सामने खोल रहे हैं जो सचमुच आश्चर्यजनक है और हमें रोमांचित करता है। वह हमारे लिए प्रेरणा भी है। शिल्पांचल-कोयलांचल में उनके कार्य-क्षेत्र के सघन अनुभवों से उनका कथा संसार और भी समृद्ध हुआ है।"¹⁵ इस प्रकार 'रामऔतार की भैंस' के माध्यम से रचनाकार ग्रामांचल एवं शिल्पांचल के समस्याओं को पाठकों के समक्ष बड़ी संजीदगी के साथ रखते हैं। इस कथा संग्रह में कुल दस कहानियाँ हैं जिसमें पहली कहानी ही इस संग्रह के नाम पर 'रामऔतार की भैंस' है। इस कहानी के माध्यम से किसानों की स्थिति का पता चलता है। 'रामऔतार' नारायणपुर का रहने वाला एक ऐसा किसान है जो आजीवन संघर्षरत रहते हुए भी हरि साव के चंगुल से नहीं बच पाता है। वह ठीक से अपनी बच्ची का विवाह तक नहीं कर पा रहा था। कहने को तो नारायणपुर जैसे सैकड़ों गाँवों से हाइवे के निकलने से विकास के रास्ते खुले हैं परन्तु इस भूमण्डलीकरण के दौर में दलालों और साहूकारों के चंगुल से सीधे-सादे, भोले-भाले किसानों का बच पाना बड़ा मुश्किल काम है। जब रामऔतार जैसे किसान अपनी अनाज को बेचकर कुछ कार्य करना चाहते हैं तो सेठ-साहूकार मिलकर अनाज का भाव कम कर देते हैं जिससे किसानों को लाभ नहीं होता है। यह कहानी केवल रामऔतार सरीखे किसानों की नहीं बल्कि उत्तर भारत एवं सीमावर्ती क्षेत्रों की समस्त किसानों की बन पड़ी है। रामऔतार एक अधमरी भैंस को खरीदता है। उसके परिवार के समस्त सदस्यों के संघर्ष से भैंस अब बच्चा देने वाली रहती है तो सभी की नजर उस पर लगी रहती है। हरि साव अपने पैसे के बदले भैंस को आधे दामों में माँगता है। रामऔतार सोचता है कि वह दादरी मेला में जाकर भैंस बेचेगा, जिससे हरि साव का उधार चुका दूँगा और समथी जी को भी पैसा दे दूँगा। पर वह उसी वक्त बीमार पड़ जाता है। इसी वक्त एक बड़ा हादसा होता है, अचानक भैंस बीमार पड़ती है और वह मर जाती है। इसके उपरान्त हरि साव हाइवे के किनारे की जो जमीन रेहन पर थी उसे केवाला करा लेता है। उधर लड़की का गौना पैसे के अभाव में नहीं होता है। रामऔतार के आगे मानो अँधेरा पसर गया और पीछे घनघोर सन्नाटा। अँधेरे और सन्नाटे के बाजार

ने उससे सब कुछ छीन लिया था। वह एक जिंदा लाश बनकर रह गया था। यही दशा आज सम्पूर्ण भारत के किसानों की बनते जा रही है। यह एक चिंता की बात है क्योंकि भारत के अगर किसान ही खुशहाल नहीं रहेंगे तो भारत का विकास के पथ पर बढ़ना नामुमकीन होगा। भारत के उन तमाम कारकों को इसके लिए मिल-जुलकर कार्य करना होगा जिससे किसानों की स्थिति अच्छी हो।

‘लादेन की लालटेन’ विशुद्ध रूप से राजनीति पर आधारित आतंकवाद पर हो रही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के ऊपर व्यंग्यात्मक लहजे में रची गयी कथा है। रमेश झा जब मुच्छैला से बड़े गंभीर स्वर में कहा कि आतंकवादियों ने पार्लियामेंट पर हमला कर दिया है पर सुरक्षाकर्मियों ने उन्हें रोक लिया, नहीं तो...? कई नेता मारे जाते। तब मुच्छैला कहता है मारे जाते तो अच्छा होता। रमेश झा ने पूछा क्यों तब मुच्छैला ने खखार कर थूकते हुए कहा, “देश को लूट-लूटकर खोखला कर दिया, जहाँ देखिए, वहीं भ्रष्टाचार ... अत्याचार...”¹⁶ सचमुच लोगों का धीरे-धीरे अब पूर्ण रूप से नेताओं पर से भरोसा खत्म हो रहा है, जो समाज एवं देश हित में बिल्कुल ठीक नहीं है। अपने आचरण में नेताओं को सुधार लाना ही होगा अन्यथा अब जनता उन्हें सबक सिखाएगी।

‘बुद्ध की मोहब्बत’ में जात-पात, छुआ-छूत के साथ-ही-साथ रूढ़िवादी सोच को दिखलाते हुए समाज में धीरे-धीरे ही सही पर अन्ततोगत्वा बदलाव हो रहा है, को दर्शाया गया है जिससे एक सामान्तर समाज का निर्माण हो सके।

‘नचनिया’ नामक कहानी में गोपाल लौंडा के माध्यम से लोक कलाकार की मजबूरी को प्रस्तुत किया गया है कि कैसे लोक कलाकार एवं लोक कला समाप्त हो रहे हैं। जब गोपाल कहीं जाता है तो लोग अजीबोगरीब प्रश्न पूछते हैं। वे कहते हैं, “गोपाल तुम किस जाति के हो...।” वह फौरन कहता है नचनिया जाति का। तब लोग धरम पूछते हैं तब फिर वह कहता है, “नचनिया...। उसके उत्तर से लोगों के चेहरे पर घृणा के भाव जगते हैं।”¹⁷ इस प्रकार ऐसे प्रश्न बार-बार दुःख पहुँचते रहते हैं। गोपाल के पिता दशरथ राम रंगनाथ सिंह के नाच-मँडली में साज-सामान ढोने का काम किया करते थे। पर उन्हें अपने जीवन में कुछ नहीं कर पाने का मलाल हर समय रहता था। जब ये लोक कलाकार गाँव से शहर, फिर शहर से गाँव की ओर लौटने पर ये कला या संस्कृति, पलायन और भूख के कारण समाप्त हो रही है। यह समाज के लिए बड़ा दुःखद है। ‘मैसेज लव टू लव’ में सोलह वर्षीय विद्यार्थी अंशु और उसके माता-पिता शर्मा जी के माध्यम से समाज में बढ़ते बच्चों का मोबाइल, लैपटॉप और इंटरनेट के प्रयोग से सावधान करने का कार्य किया है क्योंकि जब-जब अंशु के पिताजी कहते जरा देखूँ तो तुम्हारा मोबाइल...। तब-तब अंशु कन्नी काटते हुए कहता-पापा आप ख्वामख्वाह शक करते हैं और बाहर निकल जाता। वह क्या जानते थे कि “उनके बेटे के मोबाइल में लड़कियों की गंदी-गंदी तस्वीरें झिलमिलाती रही। धीरे-धीरे वह बहकता गया। कभी दोस्तों के संग इंटरनेट खोलकर ब्लू फिल्म देखता तो कभी शराब की बोतलों में जीवन को घोलता...। सारी रात, सारा दिन पीता और नाचता रहता...वाहियात...बेशर्मा की तरह...। उसने मोबाइल, लड़की और शराब को अपने जीवन की दिनचर्या ही बना लिया।”¹⁸

शर्मा जी को इस बात की खबर तब मिली जब पुलिस ने शर्मा दंपति को थाने पर बुलवाया और अंशु के मौत का खुलासा किया तो मानो उनके पाँव तले की जमीन ही खिसक गई। थानेदार ने स्पष्ट रूप से कहा आप लोग स्वयं अपने बेटे के मौत के जिम्मेदार हैं...। यह मैं नहीं इन्क्वायरी के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं। शर्मा जी के सामने मानो अँधेरा छा गया। इसलिए आजकल भाग-दौड़ के समय में हमें बच्चों पर विशेष ध्यान देना चाहिए अन्यथा इसके परिणाम समाज में भयावह होते जा रहे हैं।

‘साँप’ नामक कहानी इस संग्रह की मुख्य कहानियों में से एक है, जिसमें समाज के भीतर जो

शासन-प्रशासन के ईमानदार अफसर हैं, उस पर भी राजनेताओं की राजनीति की चाबूक चलती है जिससे समाज में भ्रष्टाचार और अनैतिक कार्यों में कमी के बजाय बढ़ोतरी हो रही है। इससे इन नेताओं को फर्क नहीं पड़ता है। उनकी चाटुकारिता करने के एवज में मिस्टर तेजस्वी का पुलिस विभाग में प्रमोशन होता है और ईमानदारी के बदले मिस्टर कुमार को उनसे और नेताओं से फटकार ही मिलती है। अन्ततोगत्वा उनके पत्नी का अपहरण करके मौत के घाट उतार दिया जाता है। मिस्टर कुमार कुछ नहीं कर पाते हैं। कुछ दिनों के बाद गृह मंत्रालय के सभागार में उन तमाम बड़े अधिकारियों की मीटिंग बुलाई गई। जब गृहमंत्री ने अपने वफादार अफसरों की पीठ थपथपाते हुए सभी भ्रष्ट मंत्रियों और अफसरों को सलाखों के पीछे पहुँचाने की इच्छा व्यक्त की उस समय वहाँ सन्नाटा छाया रहा। तब मिस्टर कुमार ने हत्यारों, गद्दारों, मंत्रियों और भ्रष्ट अफसरों के खिलाफ मोर्चा खोलते हुए दो टूक कहता है, “मुमकिन नहीं उन्हें पकड़ना...जो सत्ता और न्याय को अपनी जेब में लिए घूमते हैं। उनके दोनों हाथों में लड्डू होते हैं। उनके गिरेबान तो क्या... उनके बिल के आगे खड़े भी नहीं हो सकते हैं। यह सुनते ही सभागार के सारे साँप फूँफकार उठे। यहाँ तक कि मुख्यमंत्री भी...”¹⁹ इस प्रकार यह कहानी राजनेता, पुलिस, सबकी पोल खोलकर रख देती है।

‘दुर्गंध’ एक महत्वपूर्ण कहानी है जिसमें शहर के भीतर गंदगी का चित्रण है। साथ-ही स्वच्छता अभियान कागजों और भाषणों में चलाया जाता है, उसका हकीकत कुछ और है। करिका मेहतर सरीखे लोगों को दुःख भरा जीवन व्यतीत करने पर मजबूर होना पड़ता है। इसके साथ-ही-साथ राजनीति पर भी व्यंग्य किया गया है। ‘चिटफंड’ इस संग्रह की अंतिम और सशक्त कहानी है। इसके माध्यम से बेरोजगारी, बेबसी, भ्रष्ट होते समाज, संवेदनहीनता का बढ़ना; को दिखलाया गया है। कृपा बाबू और सुलेखा दंपति का जीवन ठीक-ठाक चल रहा था। उनके दो पुत्र केदार और मानस जब पढ़ रहे थे तो दोनों माता-पिता खुश रहा करते थे। जब कृपा बाबू को दोनों की नौकरी की खबर मिली और दूसरे लोगों ने भी जब ये सुना तो वे कृपा बाबू की खूब सराहना करने लगे जिससे कृपा बाबू का सीना चौड़ा हो जाता है पर जब कृपा बाबू रिटायर होते हैं तो उनके न चाहने पर भी उनका पैसा चिटफंड में उनका पुत्र लगा देता है। रिटायरमेंट कर्मचारी के साथ चिटफंड कंपनियों की तरह वे बच्चे जो विदेशों में जाकर वैश्विक हो जाते हैं, वे भी अपने पिता का ग्रेज्यूटी का पैसा चिटफंड में लगा देते हैं जिसके बाद वह पैसा डूब जाता है। कृपा बाबू जैसे लोगों को दर-दर की ठोकरें खाने को मजबूर होना पड़ता है।

इस प्रकार रचनाकार गाँव, शिल्पांचल, कोयलांचल के अपने खट्टे-मीठे अनुभवों को एक बड़े कैनवास पर उकेरते हैं जिसमें किसान, मजदूर, परिवार, नेता, आतंकवाद, पुलिस, बेरोजगारी, धर्म, जाति, छुआ-छूत, स्त्री, प्रशासन, लोककला आदि सम्मिलित है। इस प्रकार इनकी कहानियाँ पठनीय हैं और हमारे समक्ष एक नया विचार उत्पन्न करती है, इसके साथ-ही-साथ हमें भारतीय समाज की नयी समस्याओं से आगाह करती हैं। इसकी भाषा सरल और सहज हिन्दी भाषा है। इनकी कहानियाँ गंभीर विचारों की माँग करती है।

संदर्भ :

1. यादव, शिवकुमार, हवा, अभिधा प्रकाशन-मुजफ्फरपुर, 2007, फ्लैप
2. वही : 19
3. वही : 24
4. वही : 45
5. वही : 50
6. वही : 50

7. वही : 52
8. वही : 73
9. वही : 90
10. यादव, शिवकुमार, काले फूल का प्रेम, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2012 : 13
11. वही : 37
12. वही : 53
13. वही : 85
14. वही : 124
15. यादव, शिवकुमार, रामऔतार की भैंस, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2016, फ्लैफ से
16. वही : 28
17. वही : 44
18. वही : 57
19. वही : 64

केदारनाथ सिंह का काव्य संसार : एक पुनर्विचार

○ विकास कुमार यादव

केदारनाथ सिंह के विषय में एक बात बार-बार कही गई है और कही जाती है कि वह बिंबों के कवि हैं। इसका एक बहुत सीधा कारण जो मुझे समझ में आता है, वह है उनका बिंब पर किया गया शोध कार्य- 'आधुनिक हिंदी कविता में बिंब-विधान'। दूसरा कारण जो समझ में आता है, वह है उनका तीसरा सप्तक के कवि वक्तव्य में दिया गया बयान, "कविता में मैं सब से अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब-विधान पर"¹। अतः लगता है कि सुविधा के चलते उनकी कविता को उनके इस वक्तव्य व शोध कार्य से जोड़ लिया गया है जबकि बिंबों की बहुलता और बिंब-रचना का कौशल उनके अनेक समकालीनों के यहाँ कहीं ज्यादा है; जैसे कि शमशेर बहादुर सिंह व केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में देखा जा सकता है-

“प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ
राख से लिपा हुआ चौका
[अभी गीला पड़ा है]
बहुत काली सिल जरा-से लाल केशर से
कि जैसे धुल गई हो”

- (शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ 102)

या

“जल रहा है
जवान होकर गुलाब,
खोल कर होंठ
जैसे आग
गा रही है फाग।”

- (केदारनाथ अग्रवाल : प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 109)

लेकिन, हिंदी में एक अजीब-सी चलन चल पड़ी है, और वह है कि एक बार कोई बात चल पड़ती है तो चलती ही रहती है। इसी तरह की बात है कि, केदारनाथ सिंह बिंबों के कवि हैं; जो एक बार उनसे चिपक गई तो बस चिपकी हुई है। जबकि इनके काव्य-संसार की यात्रा के दौरान हम पाते हैं कि इनकी शुरू की कविताओं में बिंब की अधिकता जरूर है लेकिन बाद में वे क्रमशः बिंब से मुक्त होने की ओर अग्रसर हुए

हैं। यानी बिंब उनकी बाद की कविता में भी है लेकिन वही सब कुछ नहीं है; पर यह जरूर है कि वह कविता का एक महत्वपूर्ण तत्व है। और ऐसा नहीं है कि बिंब-प्रधान कविता प्रगति-विरोधी होती हैं। यदि ऐसा मान लें तो शमशेर और मुक्तिबोध की अधिकांश कविताओं को प्रगतिशील दायरे से खारिज कर देना पड़ेगा,

“हाँ, तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं

... जिनमें वह फँसने नहीं आतीं,

जैसे हवाएँ मेरे सीने से करती हैं

जिसको वह गहराई तक दबा नहीं पाती”

– (शमशेर बहादुर सिंह: प्रतिनिधि कविताएँ, पृ. 109)

या

“घुसती है लाल लाल मशाल अजीब सी

अन्तराल विवर के तम में

लाल-लाल कुहरा,

कुहरे में, सामने, रक्तलोक-स्नात पुरुष एक

रहस्य साक्षात् !!”

– ‘अंधरे में’, मुक्तिबोध रचनावली: दो, पृ. 322

जबकि, उपरोक्त कविताओं में से पहली कविता की पंक्तियों के विषय में रमण सिन्हा ने कहा है कि, “यह आधुनिक प्रेम का घोषणा पत्र है- यहाँ किसी भी प्रकार के मालिकाना हक या इदंममत्व (पजेसिबनेस) का घोर विरोध है। यह सच्चे अर्थों में, एक उन्मुक्त लोकतांत्रिक प्रेम की मांग व चाह है।”² दूसरी कविता को तो स्वयं कवि केदारनाथ सिंह ने हिंदी का ‘वेस्टलैंड’ कहा है।

अतः जो लोग बिंबात्मक कविता को जन-विरोधी मानते हैं और कविता का ‘यथार्थ से एक पूरी मुठभेड़’ होनी चाहिए; ऐसा खयाल रखते हैं। उन्हें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि कविता का जिन कारणों से गद्य से फर्क है उनमें से एक यह भी है कि वह पाठ-प्रक्रिया के दौरान एक रचनात्मक बाधा पैदा करती चलती है। कविता में जिन तत्वों के द्वारा यह रचनात्मक बाधा उत्पन्न की जाती है उनमें से एक बिंब भी है। बिंब कविता पाठ के दौरान पाठक को रोकता-टोकता चलता है और एक हद तक विवश करता है कि वह रुके और ठहर कर सोचे; ताकि वह कविता के विषय में तात्कालिक निर्णय देने से बच सके। आज मुक्तिबोध जिन कारणों से बड़े कवि हैं उनमें से यह सबसे प्रमुख है कि उनकी कविताएँ रचनात्मक बाधा सबसे ज्यादा उपस्थित करती हैं। लेकिन हम मुक्तिबोध को जन-विरोधी कवि नहीं कहते हैं। शमशेर को भी हम प्रगति-विरोधी कवि नहीं कहते हैं जबकि उनकी भी कविताएँ इस तरह की बाधा उपस्थित करती हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता यथार्थवादी नहीं हो सकती लेकिन वह यथार्थ के बिना भी नहीं रह सकती। उसे आवश्यक मुक्ति चाहिए। बँधे-बँधाए ढाँचे में कविता नहीं रची जा सकती है। वह कवि के अनुभव के कारण रूप लेती है। इसीलिए संसार के अनेक कवि एक ही विचारधारा से जुड़े होने के बावजूद भी एक जैसी कविता नहीं रच पाते हैं। जैसे कि शमशेर और मुक्तिबोध की कविताओं का शिल्प, भाषा और विषय के स्तर पर पूरा ताना-बाना ही भिन्न है। इस भिन्नता की व्याख्या अगर विचारधारा के आधार पर करें तो कठिनाई होती है।

यहीं से एक बात और निकल कर आती है, वह यह कि कवि के लिए राजनीतिक चेतना जरूरी है न

कि किसी राजनीतिक दल का सक्रिय सदस्य होना। ऐसा नहीं है कि किसी राजनीतिक दल का सक्रिय सदस्य बनकर ही महत्वपूर्ण कविता लिखी जा सकती है। महान कवि होने के लिए गहरी और प्रखर राजनीतिक चेतना की जरूरत होती है न कि किसी राजनैतिक दल का सक्रिय सदस्य होना। केदारनाथ सिंह उसी तरह से मार्क्सवादी हैं जैसे शमशेर। बाबा नागार्जुन की काव्य-पंक्ति- ‘होंगे दक्षिण, होंगे वाम, जनता को रोटी से काम’ के तर्ज पर केदार जी ने भी जनता तक अपनी बात पहुँचाने के लिए कभी बिंब तो कभी कथा (लोककथा) का उपयोग करने में कभी यह संकोच नहीं किया कि कहीं उन पर कलावादी व जनविरोधी होने का आरोप तो नहीं मढ़ दिया जाएगा।

अतः बिंब को नहीं छोड़ा जाना चाहिए लेकिन बिंब मोह छोड़ देना चाहिए। बिंब-बहुल कविता अपने आशय को क्षतिग्रस्त कर देती है। इसलिए बिंब का चयन बहुत सावधानी से करना चाहिए। कविता में आज भी बिंब का महत्व है और आज भी उसका बहुत सारा ताना-बाना बिंबों से ही बुना जाता है। बिंब तो कविता में किसी-न-किसी रूप में रहता ही है; पर यह जरूर है कि वही कविता का सब कुछ नहीं है।

यह बात तो उन्होंने ‘तीसरा सप्तक’ के अपने वक्तव्य में भी स्पष्ट रूप से कही थी कि बिंब कविता का एक महत्वपूर्ण तत्व है जो केवल ‘रूप’ से संबंध नहीं रखता, वह स्वयं विषय-वस्तु से भी उतना ही जुड़ा हुआ है (यद्यपि ये अलग बात है कि आलोचकों ने कुछ और ही सुन लिया!)। यानी कविता में बिंब का महत्व तभी है जब वह अपनी विशिष्टता को खोकर, समूची कविता में घुल-मिल जाए। जहाँ कहीं भी बिंब अलग से झाँकते या चमकते हुआ दिखाई देते हैं वहीं वे कविता को कमजोर कर देते हैं।

इतना ही नहीं, केदारनाथ सिंह का पहले बिंब पर वक्तव्य देना और बाद में उससे मुक्त होते जाना, उनकी ‘नई कविता’ से ‘समकालीन कविता’ में छलांग है। कवियों का वक्तव्य देना ‘नई कविता’ की पहचान है। समकालीन कवियों ने कभी भी अपनी ओर से यह घोषणा नहीं की कि “हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं।”³ इन्होंने अपनी और अपने दौर की कविताओं पर प्रायः न तो कोई वक्तव्य दिए और नहीं अधिकांश काव्य-संग्रहों की भूमिका लिखी। दरअसल, “आज की कविता ‘चीख’ के विरुद्ध ‘समझदार चुप’ पर अधिक भरोसा करने वाली है।”⁴ लेकिन ऐसी घोषणा (हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं) करने वाले ‘नई कविता’ के कवि ‘वाद’ के जाल से बच नहीं पाए। जबकि समकालीन कवि किसी वाद विशेष के मोह (जाल) में नहीं फँसता क्योंकि वह जानता है कि, “जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।”⁵ वैसे भी ‘समकालीन कविता’ का दौर हिंदी कविता की विकास यात्रा में विभिन्न ‘आंदोलनों’ व ‘वादों’ से मुक्ति का दौर है। नामवर जी ने भी कहा है कि, “कविता की दुनिया में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता आदि की बाड़ें बंदी एकदम टूट गई और इस तरह के लेबल निरर्थक साबित हुए। नतीजा यह हुआ कि आज की कविता पर कोई लेबल चिपकाना संभव नहीं है, न विचारधारा और न काव्यशिल्प का।”⁶

अतः समकालीन कवि केदारनाथ सिंह पर भी ‘बिंबवादी कवि’ का ‘लेबल’ चिपकाना उचित नहीं है। क्योंकि उनकी कविता मात्र बिंबों तक ही सीमित नहीं है। समकालीन कविता की रचना-प्रक्रिया का दबाव उनकी कविता को किस दिशा में ले जाता है ? यह समझने के लिए उनके काव्य-संग्रहों, जमीन पक रही है, यहाँ से देखो व अकाल में सारस को देखा जा सकता है। जहाँ उनकी कविताएँ उनके ‘तीसरा सप्तक’ की बिंबोन्मुख काव्य-संवेदना (कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिंब-विधान पर) से अलग एक दूसरा ही रास्ता बनाती हुई दीख पड़ती हैं। बिंब संबंधी उनकी अवधारणा में आए इस परिवर्तन को उनके इस कथन से भी समझा जा सकता है “कविता में आया हुआ हर शब्दचित्र बिंब नहीं होता। ...किसी अप्रस्तुत अथवा शब्दचित्र के बिंब के स्तर तक पहुँचने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि वह भौतिक अर्थ में मूर्त हो, बल्कि यह उससे भी ज्यादा आवश्यक है कि वह ऐतिहासिक अर्थ में भी मूर्त हो। ऐतिहासिक मूर्तता से

मेरा तात्पर्य बिंब की उस तात्कालिकता से है, जिसके चलते वह अपनी एकांत मूर्तिमत्ता को अतिक्रांत कर अपने समय की वास्तविकता से एक गहरे स्तर पर संपृक्त हो जाता है। ... इस दृष्टि से नई समीक्षा द्वारा उदाहृत अधिकांश बिंब केवल स्थूल अर्थ में ही बिंब कहे जा सकते हैं, ऐतिहासिक मूर्तिता की दृष्टि से उन्हें काव्य-बिंब नहीं कहा जा सकता।”

बिंबों की ‘ऐतिहासिकता’ का विशिष्ट उदाहरण है यहाँ से देखो में संग्रहित ‘बनारस’ कविता। इस कविता में जो भी बिंब व चित्र आए हैं उनका संबंध बनारस के वास्तविक जीवन से है, कबीर की क्रांतिकारी परंपरा (आँखन देखी) से है। कविता की शुरूआती पंक्तियों में ही ‘लहरतारा’ तालाब का जिक्र आता है, जहाँ कबीर पाए गए थे। इस परंपरा ने बनारस में मोक्ष की ‘मिथकीय’ व ‘पुरोहितवादी’ परंपरा को क्रांतिकारी रूप से चुनौती दी। इस कविता में आए बिंब अपनी विशिष्टता को अतिक्रांत कर अपने समय की वास्तविकता से जुड़ जाते हैं। जैसे कि भिखारियों के कटोरो के चमकते हुए खालीपन का बिंब। इसका गहरा संबंध अपने समय की वास्तविकता से है। कटोरो का खालीपन कटोरो से निकल पूरे शहर और युगीन सच पर छा जाता है। इसी तरह गंगा की तरफ जाते अनंत शव का बिंब पूरे परिवेश को मुर्दाघर में तब्दील करने लगता है

“इस शहर में वसंत
अचानक आता है
और जब आता है तो मैंने देखा है
लहरतारा या मडुआडीह की तरफ से

... ..

जो है वह सुगबुगाता है
जो नहीं है वह फेंकने लगता है पचखियाँ
आदमी दशाश्वमेध पर जाता है
और पाता है घाट का आखिरी पत्थर
कुछ और मुलायम हो गया है
सीढ़ियों पर बैठे बंदरों की आँखों में
एक अजीब सी नमी है
और एक अजीब सी चमक से भर उठा है
भिखारियों के कटोरो का निचाट खालीपन

... ..

यह शहर इसी तरह खुलता है
इसी तरह भरता
और खाली होता है यह शहर
इसी तरह रोज-रोज एक अनंत शव
ले जाते हैं कंधे
अँधेरी गली से
चमकती हुई गंगा की तरफ”

बिंबों की ‘ऐतिहासिकता’ के अन्य उदाहरण के रूप में जमीन पक रही है संग्रह में संकलित “एक प्रेम कविता को पढ़कर” शीर्षक कविता को भी देखा जा सकता है। जिसमें आए बिंब अपने समय की वास्तविकता से जुड़कर, उसे अभिव्यक्त करने में सहायक हैं। जैसे कि ‘बत्तखों’ और ‘साखू’ के पेड़ों का बिंब, जो अपनी

निजी विशिष्टता को अतिक्रांत कर बहुत ही सीधे-सादे व सहज ढंग से समूची कविता में घुल-मिल जाते हैं। ये कविता में अलग से चमकते हुए नहीं दिखाई पड़ते हैं। ये पाठक का ध्यान अपनी ओर न खींचकर (उसे) कविता के मूल अंतर्विरोध की ओर मोड़ देते हैं। इस कविता में अंतर्विरोध उसके विषय व वस्तु में है। शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह कविता प्रेम से अधिक प्रेम कविताओं के विषय में है। जहाँ, विषय भले ही प्रेम कविता हो लेकिन उसका काव्य-वस्तु उस स्त्री से संबंधित है जिसके प्रति यह कविता संबोधित है। कविता के विषय और स्त्री की नियति में एक अंतर्विरोध है। कविता के विन्यास से स्पष्ट है कि कविता चाहे प्रेम कविता ही क्यों न हो लेकिन एक स्त्री के जीवन की विडंबना को समेट पाने में असमर्थ है। जिसमें अंततः न केवल स्त्री अपने ही बारे में लिखी कविता की परिधि पर खड़ी मिलती है बल्कि कविता तो उसकी हत्या पर आमादा दीख पड़ती है लेकिन अंत में ध्वस्त होती है तो केवल कविता-

“वह स्त्री
न जाने कितनी देर से
कविता की बारहवीं पंक्ति में खड़ी थी
और बस का इंतजार कर रही थी।

... ..
उसे कहाँ जाना है- कविता इसके बारे में
बिल्कुल चुप थी
सिर्फ एक हल्की-सी धूप
स्त्री के कंधों पर पड़ रही थी
कविता की सत्रहवीं पंक्ति से छनकर

... ..
बाईसवीं तक जाते-जाते मुझे लगा
कविता अपनी जगह बदल रही है
एक तेज गोली की तरह
स्त्री के कंधों से होती हुई
साखू के पेड़ों की ओर चली गई थी कविता।”

इस कविता में ‘प्रेम कविता’ और ‘स्त्री के नियति’ के अंतर्विरोध को उजागर करने के लिए बिंब अपनी तात्कालिक अर्थवत्ता को अतिक्रांत कर जाते हैं। ये बिंब पूरी कविता की भाषा व संरचना में घुल-मिल कर उसको एक नाटकीय रूप दे देते हैं, जो कविता और जीवन के मध्य के तनाव को उजागर करने की समकालीन कविता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इस कविता में भी उसके मूल कथ्य और मूल अंतर्विरोध को उजागर करने में इसकी भाषा और संरचना की नाटकीयता महत्वपूर्ण है। केदारनाथ जी की यह विशेषता रघुवीर सहाय से मेल खाती है और मेल खानी भी चाहिए क्योंकि रघुवीर सहाय हिंदी के पहले समकालीन कवि हैं जिनके काव्यसंग्रह आत्महत्या के विरुद्ध से परिवर्तन को वह दिशा मिलती है जिसकी परिणति आगे चलकर समकालीन हिंदी कविता की एक प्रमुख पहचान बन जाती है। कविता को बिंब, प्रतीक व उपमान आदि विभिन्न भाषायी उपादानों से मुक्त करने की छटपटाहट व यथार्थ को इन उपादानों से देखने-दिखाने की (छायावादी, प्रयोगवादी व नई कविता की इस) ‘प्रवृत्ति’ से मुक्ति पाने की बेचौनी इस संग्रह में स्पष्टतः देखी जा सकती है। नामवर जी ने भी आत्महत्या के विरुद्ध को साठोत्तरी हिंदी कविता की ‘नकारवादी वृत्ति’ से हिंदी कविता की मुक्ति का पहला महत्वपूर्ण कदम माना है।⁸ रघुवीर सहाय की कविताएँ भी बातचीत की लय में जीवन के अंतर्विरोध

को अभिव्यक्त करती हैं। उदाहरण के लिए लोग भूल गये हैं संग्रह की 'उम्र' कविता को देखा जा सकता है-

“जब तुम बच्ची थीं
तो
मैं तुम्हें रोते हुए नहीं देख सकता था
अब तुम रोती हो
तो
देखता हूँ मैं !”

इस कविता में भी बिंबों व प्रतीकों का अभाव है। यहाँ बातचीत की लय में, जीवन के अंतर्विरोध को अभिव्यक्त किया गया है। वैसे भी, बातचीत बिंबों व प्रतीकों की भाषा में नहीं हो सकती। समकालीन कवि असद जैदी भी कहते हैं, “फिर भी सच है जिसे हमेशा/ साधारण ढंग से बोला जा सकता है।” इस कविता में भी मात्र ‘रोना’ और ‘देखना’ क्रियाओं के दुहराव के माध्यम से सच को कह दिया गया है। ‘तब रोने’ व ‘अब रोने’ तथा ‘तब न देख सकने’ व ‘अब देखने’ की सापेक्षता में स्त्री जीवन के अंतर्विरोध- “उमड़ी कल थी, मिट आज चली !” को उजागर कर दिया गया है। ‘तब रोने’ और ‘तब न देख सकने’ के पीछे एक पिता का वात्सल्यमय प्रेम है लेकिन ‘अब रोने’ और ‘अब देखने’ में जो एक असहाय पिता की विवशता है। यह विवशता ही पाठक के सामने खड़ी होकर एक जबरदस्त अंतर्विरोध पैदा करती है।

बातचीत की लय व संवाद की भंगिमा कविता को नाटकीयता के तत्व से युक्त कर देती है। कविताओं में यह नाटकीयता यथार्थ को और अधिक भास्वर व दृश्यमान करती है तो साथ ही दर्शकों को उस दृश्य में डूबने से बचाती है ताकि वे उसमें निहित यथार्थ का वस्तुपरक विश्लेषण करें न कि भावुकता के उहापोह में फँस कर कोई प्रतिक्रिया दें। इस नाटकीयता को साधने के मात्र दो ही साधन हैं- सहज-संप्रेष्य संवाद की भाषा व बातचीत की लय। उदाहरण के लिए उपरोक्त संग्रह में ही संकलित ‘विचित्र सभा’ शीर्षक कविता को देखा जा सकता है, जिसमें बातचीत की लय और संवाद की भंगिमा कविता की नाटकीयता को बनाये रखने में अहम भूमिका निभाती है। जैसे कि, “मैं नहीं जानता कि रघुपति का क्या हुआ होगा” जैसी पंक्तियाँ न केवल कविता की नाटकीयता बनाये रखने में मदद करती हैं बल्कि पाठक को ‘रघुपति के साथ क्या हुआ होगा’ जैसे दृश्यों के वस्तुपरक विश्लेषण की ओर उन्मुख भी करती हैं।

किंतु, केदारनाथ सिंह के यहाँ समकालीनता का दबाव रघुवीर सहाय से भिन्न काव्य-प्रक्रिया को जन्म देता है। वे निरंतर अमानवीय होते जा रहे इस परिवेश में सृजनात्मकता की उन प्रक्रियाओं पर ध्यान देते हैं जो मात्र जीवन के अंतर्विरोधों को ही उजागर नहीं करती अपितु जीवन की असह्य क्षरणशीलता के विरुद्ध जीवन की अक्षय सृजनशीलता को स्थापित करना चाहती हैं। इनकी कविताएँ इस सर्वव्यापी पतनशील व सृजनविरोधी वातावरण में भी छोटी सी छोटी व तुच्छ वस्तु में भी जिजीविषा और सृजनशीलता की प्रक्रियाओं की खोज कर पाठक को चमत्कृत कर देती हैं। यही कारण है कि इनके यहाँ कोई भी वस्तु तुच्छ व उपेक्षणीय नहीं है। जैसे कि, यहाँ से देखो काव्य संग्रह की बहुचर्चित कविता ‘टूटा हुआ ट्रक’ में घास व लतरें भी ट्रक को ठीक करने की कोशिश करती हुई दीख पड़ती हैं-

“मैं पिछली बरसात से उसे देख रहा हूँ
वह वहाँ उसी तरह खड़ा है
टूटा हुआ और हैरान
और अब उसमें अँखुए फूट रहे हैं

मैं देख रहा हूँ
 एक छोटी-सी लतर
 स्टीयरिंग की ओर बढ़ी जा रही है
 एक जरा-सी पत्ती
 भोंपू के पास झुकी है
 जैसे उसे बजाना चाहती हो
 एक बहुत महीन और बेआवाज-सी ठोंक-पीट
 लगातार जारी है समूचे ट्रक में...
 ... कल सुबह तक सब ठीक हो जाएगा
 मैं उठूँगा
 और अचानक सुनूँगा भोंपू की आवाज
 और घरघराता हुआ ट्रक चल देगा... ”

दरअसल, यह कविता उन लोगों से मुख़ातिब है जिनकी नियति इस टूटे हुए ट्रक सी है, जहाँ जीवन तो है (जैसे कि ट्रक पर फैली लताएँ इंगित करती हैं) पर साथ ही एक किस्म का ठहराव भी है। यह द्वंद्व उल्लेखनीय है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की प्रक्रिया के तहत ही ‘संवाद’ जैसी नई अवस्था का जन्म होता है। जैसे कि इस कविता में ‘घास’ उस ठहरे हुए ट्रक में एक हरक़त पैदा करके उसे गतिमान बना देना चाहती है। वैसे भी ‘लड़ें बग़ैर कुछ नहीं मिलता’ और ‘घास’ तो संघर्ष की प्रतीक ही है-

“ मैं घास हूँ
 मेरा क्या करोगे ?

...
 मैं अपना काम करूँगा
 मैं आपके हर किए-धरे पर उग आऊँगा”¹⁰

केदार जी के काव्य संसार में यहाँ तक की यात्रा से स्पष्ट है कि बिंब का महत्व ‘घास’ व ‘लतर’ जैसे बिंबों की तरह कविता की रचना-प्रक्रिया में घुलमिल कर उसकी अंतर्दैहिक इकाई का अविच्छिन्न हिस्सा बन जाने में हैं। यानी कविता में बिंब की घुलावट महत्वपूर्ण है, बिंब की प्रमुखता नहीं।

किंतु, आगामी काव्य-संग्रहों ‘उत्तर कबीर व अन्य कविताएँ’ तथा ‘बाघ’ में इनकी कविताएँ एक दूसरी ही राह बनाती हुई दिखती हैं। वह है- लोककथा की शैली का प्रयोग। जहाँ बिंब नहीं अपितु आख्यान महत्वपूर्ण होता है-

“ बिंब नहीं
 प्रतीक नहीं
 तार नहीं
 हरकारा नहीं
 मैं ही कहूँगा
 क्योंकि मैं ही
 सिर्फ मैं ही जानता हूँ
 मेरी पीठ पर

मेरे समय के पंजों के
कितने निशान है”¹¹

वस्तुतः लोककथा की शैली का प्रयोग इनके काव्य संसार में एक प्रस्थान बिंदु है। ‘बाघ’ शृंखला की कविताओं में कवि ने बाघ संबंधी लोककथाओं के मर्म तक पहुँचने का प्रयास किया है। हमारी लोककथाओं में बाघ का जो एक विलक्षण स्वरूप मौजूद है, उसने कवि को गहरे प्रभावित किया है। ‘बाघ’ शृंखला की कविताएँ आंशिक रूप से बाघ की इसी ऐंद्रिक उपस्थिति को चित्रित करती हैं। इन कविताओं में कवि ने खालिस भारतीय परंपरा में लोककथाएँ गढ़ी हैं। एक तरह से कविता में कथा- कवि मानों कोई कहानी सुना रहा हो-

“इस विशाल देश के
धुर उत्तर में
एक छोटा-सा खँडहर है
किसी प्राचीन नगर का
जहाँ उसके वैभव के दिनों में
कभी-कभी आते थे बुद्ध
कभी-कभी आ जाता था
बाघ भी

...
कभी-कभी दोनों का
हो जाता था सामना
फिर बाघ आँख उठा
देखता था बुद्ध को
और बुद्ध सिर झुका
बढ़ जाते थे आगे”¹²

अतः केदारनाथ सिंह पर किसी तरह का बिल्ला चिपकाना उचित नहीं है। इनके यहाँ इतना विस्तार व वैविध्य है कि उनको किसी खास मुहावरे तक सीमित कर देना उनके काव्य संसार के साथ अन्याय करने जैसा है। वे न तो बिंबवादी कवि हैं और न ही मात्र गाँवों के कवि। उन्होंने कविता को बिंबधर्मिता से संपन्न किया है तो देशज चरित्र व आख्यान भी गढ़े हैं। मुक्तिबोध की कविताओं की तरह उनकी कविताएँ भी, कृष्ण चरित्र से युक्त हैं। कृष्ण न गाँव है न शहर बल्कि दोनों का कोलाज है। इसी तरह से केदार जी ने भी शहरी और ग्रामीण सच्चाई को मिलाकर प्रस्तुत किया है। इनकी कविता में गाँव या शहर का कोई बँटवारा नहीं है। दरअसल, वे तो निराला की तरह अपनी एक पहचान बनाते थे और फिर उसे तोड़ देते थे; जैसे कि, पहले बिंबों के कवि के रूप में पहचान बनाना और उसे तोड़ देना, फिर गाँवों के कवि के रूप में पहचान व उसे तोड़ देना, इत्यादि। अतः आलोचकों को इनकी कविताओं के संदर्भ में कोई निष्कर्ष प्रतिपादित करने के बजाय संभावनाओं के द्वार खुले रहने देना चाहिए।

संदर्भ :

1. अज्ञेय (सं.) : तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1996, पृ. 122
2. रमण सिन्हा, शमशेर का संसार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 62

3. अज्ञेय (सं.) : दूसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ. छह (भूमिका से)
4. परमानंद श्रीवास्तव : समकालीन कविता : नये प्रस्थान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 07
5. सुरेश शर्मा (सं.), रघुवीर सहाय रचनावली- 1, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 206
6. समीक्षा ठाकुर (सं.) : कहना न होगा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृ. 236
7. केदारनाथ सिंह : आधुनिक हिंदी कविता में बिंबविधान, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1971, प्राक्कथन से
8. समीक्षा ठाकुर (सं.) : कहना न होगा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पृ. 235
9. असद जैदी, कविता का जीवन ('सामान्य व्यवहार' शीर्षक कविता से), कविता कोश.ऑर्ग
10. चमनलाल (सं.), पाश/ संपूर्ण कविताएँ ('घास' शीर्षक कविता से), आधार प्रकाशन, हरियाणा, 2002, पृ. 210
11. केदारनाथ सिंह, बाघ ('आमुख' शीर्षक से), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 9
12. वही, 'चार' शीर्षक से, पृ. 17



बेटियों की दुनिया की शिनाख्त : हिंदी कविता की नज़र से

○ शशि शर्मा

‘बेटियाँ शहद की तरह होती हैं जो आत्मा की सारी कड़वाहट मिटा देती हैं।’¹ इन पंक्तियों में बेटी को जो मान और महत्व समकालीन कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव ने दिया है, एक समय उसकी परिकल्पना भी कठिन थीं। परंपरागत समाज में बेटियाँ अवांछनीय और बोझ समझी गयी, उसकी अस्मिता और अस्तित्व को बार-बार मिटाने का प्रयास हुआ। कभी भ्रूण रूप में, कभी अभिशापित बेटी और बहन के रूप में, कभी पत्नी रूप में, परिवार में ही उस पर शारीरिक से ज्यादा मानसिक शोषण हुआ। ऐसा नहीं है कि वर्तमान समय बेटियों के लिए हर नजरिये से ठीक है फिर भी बेटियों को लेकर जो पारंपरिक अवधारणाएँ थीं, उसमें उल्लेखनीय बदलाव जरूर आया है। हाशिये पर रहनेवाली बेटियाँ आज पिता, परिवार और समाज का मान, अभिमान, गौरव और मुस्कान है।

हिंदी कविता बेटियों के जीवन को करीबी से देखती और महसूस करती है। कई कवियों ने बेटियों के साथ अपने गहन आत्मिक अनुभूति को संप्रेषित किया है तो कईयों ने उनके जीवन के विडंबनात्मक पहलूओं को उजागर किया है। महाप्राण निराला ने अपनी बेटी सरोज को केन्द्रित करके कालजयी शोकगीत ‘सरोज स्मृति’ की सर्जना की, जिसमें पिता और बेटी के आत्मिक जुड़ाव के साथ-साथ पिता के संघर्ष, पिता के रूप में बेटी को न बचा पाने की बेबसी और निरर्थकता बोध की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। वहीं प्रगतिशील कवि नागार्जुन बस ड्राइवर की सात साल की बेटी की ‘नन्हीं कलाइयों की गुलाबी चूड़ियाँ’ देखकर बस ड्राइवर के साथ-साथ स्वयं बेटी का पिता होने के गर्व बोध से भर उठते हैं—

“हाँ भाई, मैं भी पिता हूँ
वो तो बस यूँ ही पूछ लिया आपसे
वरना किसे नहीं भाएगी ?
नन्हीं कलाइयों की गुलाबी चूड़ियाँ !”²

हिंदी कविता में बेटियों से जुड़ी कई कविताएँ हैं। युवा कवि आशीष त्रिपाठी ने बेटियों पर ‘बेटी का हाथ-1’, ‘बेटी का हाथ-2’, ‘बेटी का हाथ-3’ शीर्षक से कविताएँ लिखी हैं। बेटी का हाथ पकड़कर वे स्वर्गीय सुख की अनुभूति इसी लौकिक जीवन में कर लेते हैं। बेटी के हाथ का संस्पर्श उन्हें महसूस कराता है कि उन्होंने ‘आत्मा के सबसे प्यारे टुकड़े को’ छू लिया है। यह स्वर्गीय स्पर्श उन्हें ‘स्व’ की संकुचित भावना से उठाकर ‘पर’ की उदात्त भावना से भर देती है। बेटी का कोमल हाथ समाज की कठोर स्थिति का साक्षात्कार कराता है और वे ‘दुनिया भर की औरतों के लिए /साँस भर अवकाश /और अकुलाई आत्माओं के लिए /सबसे मीठी धुनों की /दुआ करते हैं’³

वास्तव में बेटी का कोमल हाथ समाज की कठोरता का अक्स बन जाता है। वह समाज जो बेटी को नवरात्र में पूजने के लिए तो तैयार है पर बेटी को अपने घर-आँगन और हृदय में स्थान देने के लिए तैयार नहीं महज इसलिए कि बेटियाँ उनके वंश को आगे नहीं बढ़ाती। कैसी विडंबना है कि ‘वंश’ को जन्म देनेवाली स्त्री अपने ही परिवार का ‘मुख्यांश’ नहीं बन पाती है। कवयित्री एवं सामाजिक कार्यकर्ता सविता सिंह हमारे देश की इस विडंबनात्मक सच्चाई पर आक्रोश व्यक्त करती हैं- “नमन करूँ इस देश को / जहाँ मार दी जाती हैं हर रोज / ढेर सारी औरतें / जहाँ एक औरत का जीवित रहना / एक चमत्कार की तरह है / नमन करूँ उस माँ को / अपनी बेटियों को जनती हुई जो / रोती है ‘अब क्या होगा इनका ईश्वर / इस संसार में’।”⁴

हिन्दी कविता में बेटियों के जीवन के कई पहलू अंकित हैं। ‘सात भाईयों के बीच चम्पा’ और ‘हॉकी खेलती लड़कियाँ’ कात्यायनी की सशक्त कविताएँ हैं। ‘सात भाईयों के बीच चम्पा’ में चम्पा का संघर्ष हर उस बेटी और बहन का संघर्ष है, जिसके अस्तित्व को नेस्तनाबूद करने के लिए पुरुषवादी समाज तरह-तरह के षड्यंत्र रचता है; बावजूद इसके, चम्पा का बार-बार अलग रूपों में अस्तित्व ग्रहण कर मुस्कुराते हुए पुरुष वर्चस्ववादी समाज में विस्तारित हो जाना, एक लड़की के अदम्य जिजीविषा और गहरे आत्मविश्वास का प्रमाण है- “अगले ही दिन / हर दरवाजे के बाहर / नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच / निर्भय-निस्संग चम्पा/ मुस्कुराती पायी गयी।”⁵

इसी तरह ‘हॉकी खेलती लड़कियाँ’ अपने वजूद को गढ़ने के क्रम में पुरुषवादी समाज की परंपरागत मानसिकता पर करारा प्रहार करती हैं। कवयित्री लिखती हैं- खुश है लड़कियाँ / फिलहाल / खेल रही हैं हॉकी। / कोई डर नहीं। / बॉल के साथ दौड़ती हुई / हाथों में साधे स्टिक / वे हरी घास पर तैरती हैं, / चूल्हे की आँच से / मूसल की धमक से / दौड़ती हुई / बहुत / दूर / आ जाती हैं।”⁶

बेटियों को बोझ माननेवाले समाज को करारा जबाव देते हुए कवि अशोक सिंह घर-परिवार में बेटी की भूमिका को दर्शाते हैं। बेटियाँ बेतरतीब जीवन और सामान को संवारती हैं, खासकर घर के पुरुषों की। अस्त-व्यस्त जीवन और सामान को सजाने-संवारने का काम जितनी कुशलता से बेटियाँ कर पाती हैं, वह बेटी की अवमानना करनेवाले समाज के लिए देखनेवाली बात है। कवि के शब्दों में- “घर का बोझ नहीं होती हैं बेटियाँ / बल्कि ढोती हैं घर का सारा बोझ / वे ही हैं जो बनाती हैं / मकान को घर / और घर को मकान / होने से बचाती हैं। वे हैं तो / सलामत हैं आपके / कुर्ते के सारे बटन / बची है उसकी धवलता”⁷

बेटियों की महत्ता को परिवार और समाज के सन्दर्भ में कई कविताओं में उकेरा गया है। बेटियाँ सिर्फ कपड़े की धवलता को बचाने का प्रयास ही नहीं करती, बारिश और धूप का इंतजार कर परिवार और समाज में इन्द्रधनुषी छटा बिखेरने का दायित्व निर्वहन भी बखूबी करती हैं। कवयित्री अंजना बख्शी ‘बेटियाँ’ शीर्षक कविता में लिखती हैं- “बेटियाँ इन्द्रधनुष-सी होती हैं, रंग-बिरंगी/ करती हैं बारिश और धूप के आने का इंतजार / और बिखेर देती हैं जीवन में इन्द्रधनुषी छटा।”⁸

एक पिता के जीवन में बेटियाँ क्या महत्त्व रखती हैं, इसपर कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव लिखते हैं- “अभी कुछ पल बाद धूप सरक जाएगी / आँचल के तरह पत्तियों से / पत्तियाँ अनंत काल तक नहीं रोक सकतीं धूप को / पर बेटियाँ नरम धूप की तरह / बनी रहती हैं सदा / पिता के संसार में / जितनी हँसी होती है बेटियों के अधर पर / उतनी उजास होती है पिता के जीवन में / जो न हँसे बेटियाँ / तो अँधेरे में खो जाते हैं पिता”⁹

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव बेटी की हँसी में पिता के जीवन का उजास देखते हैं क्योंकि बेटियों की हँसी परिवार की सुख-समृद्धि का पर्याय है। पिता जो एक पुरुष है, घर का भर्ता है, उसकी सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है- बेटियों का हँसते रहना।

एक समय था जब अधिकतर पिता ही बेटी विरोधी हुआ करते थे, आज वही पिता इन ‘नहीं कलाइयों’

से नेह का नाता जोड़ अभिभूत है। उनके जीवन को लेकर चिंतित और संशयग्रस्त है। आज समाज तकनीकी रूप से काफी समृद्ध हो चुका है परन्तु यह समृद्धि कभी-कभी कुछेक लोगों की विकृत मानसिकता की वजह से बेटियों को खतरे में डाल रही हैं। उन्हें माता-पिता के स्नेह और प्रेम से वंचित कर रही हैं। बेटियों पर मंडराते खतरे को कवि उमेश चौहान की 'बिटिया बड़ी हो रही है' कविता में माँ की बैचेनी के माध्यम से महसूस जा सकता है- 'बिटिया जैसे-जैसे बड़ी हो रही है / दिन-रात आशंकाओं में जीती है माँ / जाने कब, कहाँ, कुछ ऊँच-नीच हो जाय / सड़कों पर आए दिन / लड़कियों को सरेआम उठा लिए जाने/ की घटनाओं से/ बेहद चिंतित होती है माँ / स्वार्थी युवकों के प्रेम-जाल में फँस कर / घर से बेघर हुई तमाम लड़कियों के / हाल सुन-सुन / नित्य बेहाल होती है माँ'¹⁰

इसी तरह एक पिता के रूप में कवि पवन करण भी भयभीत है। उन्हें 'पंद्रहवें साल में चलती' 'बेटी की खूबसूरती चुभती है'¹¹ यह चुभन अकारण नहीं है। उपभोक्तावादी समय में जिस तरह प्रेम को देह का पर्याय बना दिया गया है, जिस तरह इस अपरिपक्व उम्र में प्रेम 'प्रेमाभिव्यक्ति से देहाभिव्यक्ति की ओर बढ़ती है', उससे कवि भयभीत है- "दरअसल मैं अपनी बेटी से कहना चाहता हूँ / वह प्रेम करे तो थोड़ा रूककर / प्रेम करने की सही उम्र नहीं यह,"¹²

आदिवासी कवि अनुज लुगुन ने 'सुगना मुण्डा की बेटी' शीर्षक से सात कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं में आदिवासी बेटियों के जीवन में मंडराते खतरे की ध्वनि सुनी जा सकती है। आदिवासी समाज में बेटियों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। यौनहिंसा उनके जीवन का भयावह यथार्थ है छ उनकी सहजता, सरलता का बेजा फायदा उनके रिश्तेदारों द्वारा भी उठाया जाता है।

"यहाँ जो आदमखोर पहुँचा है / वह जानवर है / जानवर नर है, पुरुष है, पुलिंग है / पितृसत्ता का प्रवक्ता / सेना, पुलिस, व्यवस्था का स्वरूप, / कितनी ही युवतियाँ थीं / जो शिकार बनाई गई / उसकी देह की गन्ध को / अभी महुए में घुलना बाकी था / महुआ के खिलने से पहले ही / उसे पाला मार गया / यहाँ बच्चे, बूढ़े, औरत / और सभी सहजीवी तो मारे गए हैं / पितृसत्ता के उस प्रवक्ता के द्वारा"¹³ पितृसत्तात्मक समाज के हिंसक चरित्र को इस कविता में सशक्त रूप में उघारा गया है।

संताली कवयित्री निर्मला पुतुल ऐसे लोगों को 'पूँजीवादी सौदागर' संबोधित करती है। वह बिटिया मूर्मू को 'पूँजीवादी सौदागरों' से सचेत करती है। ये 'पूँजीवादी सौदागर' भोले-भाले आदिवासी बेटियों को शादी और सुखद जीवन का झांसा देकर उनका दैहिक और मानसिक शोषण करते हैं- "सौदागर हैं वे ...समझो..../ पहचानो उन्हें बिटिया मूर्मू पहचानो ! / पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं / उन्हीं के दुकानों पर तुम्हारे बच्चों का / बचपन चीत्कारता है / उन्हीं की गाड़ियों पर / तुम्हारी लड़कियाँ सब्जबाग देखने / कलकत्ता और नेपाल के बाजारों में उतरती"¹⁴

हिन्दी कविता में बेटियों पर होनेवाले शोषण की कई तस्वीरें मौजूद हैं। बेटियों पर होनेवाला अत्याचार हमारे समाज की कुत्सित मानसिकता का परिचायक है, जिसमें उल्लेखनीय बदलाव की जरूरत है। बेटी को स्नेह और महत्व देने की जरूरत है चाहे वह अपनी बेटी हो या अन्य की। बेटी को वस्तु समझकर भोगना या पराया धन मानकर उसके साथ अनैतिक कर्म करना, अमानवीयता का परिचायक है। अगर हम बेटियों को अब भी महत्व न दे पाए तो वह दिन दूर नहीं जब घर की परिभाषा बदल जाएगी क्योंकि बेटा मकान तो बनवा सकता है पर घर बनाने की क्षमता बेटियों में ही होती है। बेटियाँ सृजन-शक्ति से संपन्न होती हैं। वह स्नेह और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति होती हैं। यही वजह है कि बेटी की विदाई एक पिता की आँखों की कोर को आँसुओं से भिगा देती है। राजेश जोशी के शब्दों में- "तुमने देखा है कभी / बेटी के जाने के बाद का घर ? / जैसे बिना चिड़ियों की सुबह / जैसे बिना तारों का आकाश"¹⁵

बेटियाँ आज शिक्षित हो रही हैं। इतना ही नहीं उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए घर से, माता-पिता से दूर रह रही हैं। बेटियों का यह अल्पकालीन प्रवास किस तरह एक पिता को भाव विगलित कर देता है, इसे समकालीन कवि कुंदन सिद्धार्थ की इन पंक्तियों में महसूस जा सकता है- “घर से चले आने के बाद / बेटियाँ तीन चौथाई यहीं घर में रह जाती हैं / माँ-पिता के आशीष की पोटली में / एक चौथाई अपने को सम्भाले / घर से जाकर भी बेटियाँ कहीं नहीं जातीं/ हॉस्टल के लिए बेटी को विदा करते हुए यही सोच रहा था”¹⁶

बेटियाँ जीवन में उल्लास और उमंग का संचार करती हैं। उनके होने और न होने के फर्क मात्र से जीवन में रिक्रिता आ जाती है। बेटियों को लेकर समाज और परिवार की सोच में जो परिवर्तन आया है, उसे बढ़ावा देने की दरकार है। ‘बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ’ का नारा सार्थक करने के साथ-साथ उन्हें समाज की विकृति से लड़ने का साहस देना हमारा कर्तव्य है। हिन्दी कविता इसी भावबोध को लेकर आगे बढ़ रही है। हिन्दी कविता में बेटियों को लेकर बहुत सारी कविताएँ लिखी जा रही हैं। बेटियों के संघर्ष और त्याग के साथ-साथ परिवार के प्रति उनके दायित्व निर्वहन को बखूबी उकेरा जा रहा है। कोरोना काल में लाकडाउन के दौरान बेटी ज्योति पासवान ने जिस तरह अपने घायल पिता को साइकिल पर बैठाकर पंद्रह सौ किलोमीटर की यात्रा कर अपने पुश्तैनी गाँव लौटी, वह बेटियों की भूमिका को दर्शाती है। ज्योति पासवान को केन्द्रित कर कवि कृष्ण कल्पित ने ‘डूब मरो’ नाम से कविता लिखी तो कवि सुभाष राय ने ‘एक चिट्ठी ज्योति बेटी के नाम’ से कविता लिखकर उसके साहस, संघर्ष और कर्तव्यनिष्ठा को उजागर किया है।

अंततः हिन्दी कविता बेटियों के बहुआयामी जीवन को उजागर करती है। परंपरा से लेकर आज के दौर में बेटियों को लेकर सोच में जो बदलाव आया है, उसे हिन्दी कविता में सुन्दर तरीके से अभिव्यक्त किया गया है। बेटियों की महत्ता को दर्शाने के साथ-साथ हिन्दी कविता बेटी और बेटा में फर्क समझने वाले समाज की संकुचित सोच में बदलाव लाने के लिए प्रयासरत है।

सन्दर्भ :

1. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 75
2. नामवर सिंह (सं.) , नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, पृ. 33
3. आशीष त्रिपाठी, बेटी का हाथ-2, www.kavitakosh.org/आशीष त्रिपाठी
4. सविता सिंह, पचास कविताएँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 27
5. कात्यायनी, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.18
6. वही, पृ. 18
7. अशोक सिंह, बेटियाँ, www.kavitakosh.org/अशोक सिंह
8. अंजना बख्शी, बेटियाँ, www.kavitakosh.org/अंजना बख्शी
9. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 75
10. उमेश चौहान, बेटियाँ बड़ी हो रही हैं, www.kavitakosh.org/उमेश चौहान
11. पवन करण, स्त्री मेरे भीतर, राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 19
12. वही, पृ. 19
13. अनुज लुगुन, सुगना मुंडा की बेटी-6, www.kavitakosh.org/अनुज लुगुन
14. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजाते हैं शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृ. 15
15. राजेश जोशी, चाँद को वर्तनी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 40
16. कुंदन सिद्धार्थ, बेटियाँ, जनसंदेश टाइम्स(दैनिक समाचार पत्र), लखनऊ अंक- 27 सितम्बर 2022



हिंदी दलित कविता : एक विचार

○ गाजुला राजू

साहित्य समाज में घटित घटनाओं का मूर्तरूप होता है। वह किसी समाज, वर्ग या जाति में विभाजित न होकर सामूहिक प्रयोजन के लिए लिखा जाता है। साहित्य किसी वर्ग या विचार तक सीमित हो जाय तो उसके प्रतिरोध में अनेक विमर्शों का उभरना अनिवार्य हो जाता है। इसी कड़ी में दलित विमर्श को देखा जा सकता है। साहित्य को एक नई दिशा प्रदान करने में दलित विमर्श ने अहम भूमिका निभायी है। दलित विमर्श किसी एक विधा तक सीमित नहीं है वरन साहित्य की अनेक विधाओं में विस्तृत रूप में लेखन होने लगा है। कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा और नाटक आदि विधाओं में दलित साहित्य ने अपना सशक्त रचनाधर्मिता को दर्शाने का काम किया है। कविता एक ऐसी सशक्त साहित्यिक विधा है जो न सिर्फ समाज के अंतर्विरोधों को उद्घाटित करती है वरन उस पर प्रश्न कर वैकल्पिक समाधान की ओर ले जाने की क्षमता रखती है। इसलिए कवि कविता को अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक शस्त्र की तरह अपनाकर मुखरित होता है।

दलित साहित्य या विमर्श का इतिहास बहुत पुराना है। वह आजीवक, चार्वाक और बुद्ध से होकर आज के तथाकथिक समय तक का सफर तय किया है। दलित साहित्य समकालीन साहित्य में एक सशक्त चेतना या विमर्श के रूप में उभर कर आया है। दलित साहित्य के आने से हिंदी साहित्य एक नई ऊँचाई को प्राप्त किया है इसमें कोई दो राय नहीं है। हिंदी से पहले मराठी में दलित साहित्य अंकुरित हुआ है, जिसकी जड़ें कालांतर में सभी भाषाओं में फैलने लगी। डॉ. अंबेडकर की जन्मभूमि होने के कारण उनके विचारों, संघर्ष और चिंतन से प्रभावित होना स्वाभाविक है। अंबेडकर के विचारों पर बुद्ध, फुले और कबीर के चिंतन प्रभाव रहा हैं। उनके मार्गदर्शन पर चलने वाला व्यक्ति स्वयं को समृद्ध और शक्तिशाली महसूस करता है। इन्हीं विचारों की प्रेरणा से भारतीय दलित साहित्य का विकास हुआ है। बुद्ध ने मानवता को प्रमुखता देते हुए वेद, शास्त्र और अरण्यकों का विरोध किया था। समानता की राह पर चलते हुए मध्यमार्ग को अपनाया। मध्ययुग में जिस सामंति समाज के द्वार जातिगत विषमता को कठोरता के साथ निर्वाह किया जा रहा था, वहाँ कबीर और रैदास जैसे संत कवि अपनी वाणी से उस विषमता मूलक समाज की कड़ी निंदा की है। स्वाभिमान और आत्मसम्मान को दर्शाते हुए सामाजिक कुरीतियों, अंधश्रद्धाओं और अमानवीयता के विरोध में प्रतिरोध दर्ज करने में संकोच नहीं किया। फुले ने शिक्षा के महत्व को समझकर दलित समाज की मुक्ति की कामना शिक्षा के माध्यम से की थी। जहाँ शिक्षा के द्वार शूद्र एवं दलित समाज के लिए बंद थे वहीं उन्होंने स्त्री, पुरुष शिक्षा के लिए विद्यालय खोलकर उन्हें शिक्षित कर स्वभिमानी बनाने का प्रयास किया। अंबेडकर के संघर्ष को आज भी हम इसलिए याद करते हैं क्योंकि उन्होंने जिस साहस के साथ मनुवादी समाज को चुनौति दी है उसके कारण आज दलित समाज शिक्षा, प्रशासन और राजनीति आदि क्षेत्रों में अपनी जगह बनाने में सफल हुआ है। इन महान व्यक्तित्वों

के संघर्ष और बलिदान के कारण ही आज साहित्य में भी दलित बुद्धिजीवी अपना स्पेस स्वयं बना पाये हैं। आज दलित साहित्य में दलित कविता का सक्षत एवं प्रखर रूप देखने को मिल रहा है, उसके परिप्रेक्ष्य में इन्हीं महान नायकों की प्रेरणा के दर्शन होते हैं।

दलित साहित्य के संबंध में दलित साहित्य के महान चंतक, बुद्धिजीवी डॉ. तुलसीराम का मानना है कि- “जहाँ तक दलित साहित्य का संबंध है, वह वर्ण-व्यवस्था विरोधी साहित्य है, चाहे उसे दलित लिखे या गैर-दलित। संगठित रूप में सबसे पहले गौतम बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था विरोधी साहित्य चलाया, जो स्वयं दलित नहीं थे। अंतः प्राचीन बौद्ध साहित्य ही वर्तमान दलित साहित्य की जननी है।”¹ जो लोग दलित साहित्य की आधारशिला के बारे में प्रश्न उठाते हैं उन्हें तुलसीराम की इन पंक्तियों से समाधान मिल जायेगा। दलित साहित्य किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से विद्यमान रहा है, जिसको आधार बनाकर ही आज का दलित साहित्य मुखरित हो रहा है। दलित साहित्य मुख्य रूप से संवेदना का साहित्य है। जिसमें दलित समाज की पीड़ा और वेदना को वास्तविकता के साथ बयान किया जाता है। वह सौंदर्य की कसौटी में न होकर यथार्थ के कैनवास में चित्रित होता है। इसलिए वह हृदय स्पर्शी और मार्मिक होता है। कवल भारती का मानना है कि- “दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिनमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है, अपने जीवन-संघर्ष में जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनका उसी की अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला का नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है।”² दलित समाज और साहित्य के बारे में प्रश्न उठाया जाता है कि वह संकुचित एवं विशेष वर्ग तक सीमित है। इसलिए वह साहित्य व्यापकता में देखा नहीं जा सकता। मुख्यधारा के साहित्य के अंतर्गत दलित साहित्य को शामिल करने में इसी बात को रेखांकित करते हुए इसे उपेक्षित करने का बरकस प्रयास किया जाता रहा है। इस संदर्भ में महान साहित्यकार, चिंतक माता प्रसाद के विचारों की ओर ध्यान केंद्रित करना अनिवार्य हो जाता है- “दलित साहित्य वह साहित्य है जिसमें वर्ण समाज में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनीतिक दृष्टि से दलित, शोषित, उत्पीड़ित, अपमानित, उपेक्षित, तिरस्कृत, वंचित, निराश्रित, बाधित, अस्पृश्य और असहाय है, पर साहित्य की रचनाएँ हैं, वही दलित साहित्य की श्रेणी में आता है। इसमें बंधनों में जकड़ी स्त्रियाँ, बंधुआ मजदूर, दास, घुमन्तू जातियाँ, अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ आती हैं। दलित साहित्य वेदना, चीख और छटपटाहट का साहित्य है।”³ इससे स्पष्ट होता है कि दलित साहित्य का फलक काफी विस्तृत है। वह किसी वर्ग, जाति या समुदाय के लिए नहीं बल्कि सभी उपेक्षित एवं उत्पीड़ित समाज के हितों और अधिकारों के लिए है।

साहित्य के क्षेत्र में दलित आत्मकथा की विधा ने जितना प्रभावित किया उतना ही प्रभाव कविता का भी है। कवि अपनी भावनाओं, पीड़ाओं और अनुभवों को शब्दबद्ध कर कविता को रूप देता है। ऐसी कविता स्वच्छ और मुखर होकर प्रकट होने लगती है। इसलिए दलित कवि अपनी वेदना को अभिव्यक्ति के लिए कविता का सहारा लेता है ताकि अनंत पीड़ा को कविता में समाहित कर प्रस्तुत कर सके। मध्यकाल में रैदास, कबीर ने जिस तरह जाति के दंश को प्रकट करते हुए जाति आधारित समाज की निंदा की है और जाति आधारित श्रेष्ठता को नकारते हुए गुण श्रेष्ठता को मान्यता दी है। ‘संतन जात न पूछो निर्गुनियाँ’, ‘रविदास जन्म के कारणै होत न कोई नीच’, ‘नागर जनां मेरे जाति विखआत चमारा’ पंक्तियाँ दलित समाज के स्वाभिमान और आत्मसम्मान को दर्शाती हैं। वह श्रमण परंपरा का प्रतीक है। इसके बावजूद दलित समाज जातिगत विषमता को हर समय भोगने के लिए अभिशप्त होता रहा है। दलितों को किसी न किसी रूप में जाति के दंश का सामना करना पड़ता है, जिसके कारण आज भी दलित समाज इस अवमानना को घृणित दृष्टि से देखता है। क्रांतिकारी कवि जयप्रकाश लीलवान इस पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं-

‘वर्ण-धर्म की वैचारिकी के
 सुडौल उरोजों का
 जहरीला दूध पीकर
 विखंडन के खप्पर भरने वाली डायन है
 हमारे देश की जाति-प्रथा’⁴

भारतीय समाज में फैली विशैली व्यवस्था की वास्तविकता को उजागर करती है यह कविता। कवि की पीढ़ी इस कविता में स्पष्टतः झलकती है कि किस कदर जाति आधारित समाज ने विखंडनवाद को बढ़ाया।

दलितों के प्रति सहानुभूति जताकर यह साबित करना चाहते हैं कि दलितों के साथ उनकी गहरी संवेदना है। लेकिन वह सिर्फ करुणा, दया और उपकार जैसी बातों एवं व्यवहार तक ही सीमित रह जाते हैं। जो किसी भी दलित के लिए स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि वह स्वाभिमान का जीवन व्यतीत करना चाहता है। ऐसी व्यवस्था के प्रति दलित कविता का दृष्टिकोण स्पष्ट है। वह उस समाज के दोगलेपन के मुखौटे को उतारने का साहसपूर्ण तरीके से प्रस्तुत करने में आगे है। डॉ. रमेशचंद्र दलित कविता के तीखेपन को और स्पष्ट विजन को दर्शाते हुए लिखते हैं कि “दलित कविता में समाज की वर्ण-व्यवस्था को थरा देने वाला कंपन है, शोषण की बर्फ को पिघलाकर नदी बहा देने वाली गर्मी है, और वर्ण और वर्ग की नींव को ध्वस्त कर एक समतामूलक समाज की एक नई इमारत खड़ी करने वाली वास्तुकला है।”⁵ दलित कविता वर्णवादी, वर्गवादी समाज के विरोध में अपनी आवाज को बुलंद कर उसे नेस्तनाबूद करने की कोशिश करता है। इसीलिए दलित कविता में व्यवस्था के प्रति लड़ने की क्षमता दिखाई पड़ती है।

जाति व्यवस्था ने दलित समाज को हाशिये पर रखा है। दलित समाज की आवाज को दबाकर वह उनकी आवाज बनकर उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। मूक आवाज को आवाज प्रदान करना वर्णवादी समाज ने आवश्यक नहीं समझा। जाति व्यवस्था को सुनियोजित तरीके से अमल करने में वेद, पुराण और अरण्यकों का सहारा लिया गया। यह सब उनकी उन्नति के सोपान की मानिंद साबित हुए हैं। इसलिए वह इस जाति व्यवस्था के अमानवीय व्यवहार को बनाये रखने का हर संभव प्रयास करते रहे हैं। इनकी इस अमानुशिक व्यवहार का प्रतिरोध करते हुए कवि असंघोष कहते हैं—

“जाति

खेतों में पैदा नहीं हुई, घर के अंदर-बाहर रखे
 गमलों में नहीं खिली कभी, किसी पेड़ के फल से भी
 पल्लवित नहीं हुई, ना ही किसी कारखाने में निर्मित हुई
 यह बनी है, तुम्हारे ही बोये बबूल के काँटों की नोंक पर बामन!”⁶

कवि इस जातिवादी व्यवस्था को और गहरे होते देखकर उन मनुवादियों की कड़ी आलोचना करते हुए दिखाई देते हैं। आज के समय में भी जाति व्यवस्था और सामाजिक विषमता को मनुवादी समाज किस तरह आने वाली पीढ़ी को इंजेक्ट कर उन्हें मानवीय मूल्यों से काट रहा है। जिसके कारण वह जातिगत विषमता को अपने घर परिवार से ही सीखकर आते हैं और समाज में रहते हुए वर्चस्ववादी मानसिकता से ग्रसित होते दिखाई पड़ते हैं।

किसी भी समाज की उन्नति उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनितिक, धार्मिक और शैक्षिक चेतना पर निर्भर होता है। समाज में रहते हुए सामाजिक सरोकारों का अनुपालन करने के लिए उसे उन्नत नैतिक मूल्यों को सीखना होता है। इसके लिए उसे शिक्षा का अवसर मिलना अति आवश्यक है। शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जिससे

मानवता के प्रति व्यक्ति का सरोकार विकसित होता है। डॉ. अंबेडकर का शिक्षा के प्रति विचार सर्वोच्च हैं—
 “प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित किया जाना चाहिए। हर एक व्यक्ति में अपनी रक्षा की क्षमता होनी चाहिए। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह बहुत जरूरी भी है।” शिक्षा व्यक्ति को ज्ञान प्रदान करता है, सोचने, समझने और विचार करने की क्षमता उत्पन्न करती है। इसलिए शिक्षा के प्रति अंबेडकर का अत्यधिक प्रोत्साहन रहा है। शिक्षा ही एक ऐसी संपत्ति है जिसे चाहकर भी कोई छीन नहीं सकता। दलित साहित्य के कवि, कथाकार, लेखक और आलोचक डॉ. जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने में आने वाली समस्याओं का जिक्र करते हुए उन्हें आगह करते हैं—

“आपसी मतभेदों को भुलाकर
 तुरत-फुरत स्कूल के
 सारे सवर्ण छात्र
 गोलबंद हो जाते, और
 खेल-गुरुजी से हाकियाँ ले-लेकर
 दलित छात्रों पर हमला बोल देते।”⁸

दलितों को शिक्षा हासिल करना उतना आसान नहीं होता है, शिक्षा से वंचित करने के लिए सवर्ण समाज हर संभव प्रयास करता रहता है। लेकिन हमें शिक्षा प्राप्त करने के लिए किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार होना चाहिए क्योंकि शिक्षा और शिक्षित समाज से ही वे लोग डरते हैं और वहीं हमारा हत्यारा होना चाहिए।

ज्योतिबा फुले एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने आधुनिक भारत में शिक्षा के महत्व को सर्वोच्च माना है। उन्होंने निम्न जातियों को अनिवार्यता शिक्षा ग्रहण करने की सलाह दी। साथ ही स्त्री शिक्षा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। फुले दंपति को आधुनिक शिक्षा के आरंभकर्ता के रूप में याद किया जाता है। ज्योति बा फुले शिक्षा के महत्व को बताते हुए कहते हैं कि –

‘विद्या बिना मति गयी, मति बिना नीति गयी
 नीति बिना गति गयी, गति बिना वित्त गया
 वित्त बिना शूद्र गये!’

इतने अनर्थ एक अविद्या ने किये’ शिक्षा के बिना मनुष्य और मानव समाज का क्या हफ़ हो सकता है इन पंक्तियों को पढ़कर समझ सकते हैं। दलित कवि शिक्षा के महत्व को अच्छे से समझता है, इसलिए वह अपने समाज को जागरूक करने के लिए शिक्षा को ही एक मात्र मार्ग मानता है। फुले के इन विचारों का प्रतिरूप हमें लेखिका सुशीला टाकभौरे की कविता में दिखाई देते हैं—

“भक्ति से बड़ा ज्ञान है
 अंधी भक्ति से बड़ी जागृति
 मंदिर नहीं चाहिए,
 विद्यालयों के खटखटाये।”⁹

आधुनिक हिंदी दलित कविता का आरंभ हीरा डोम की कविता से माना जाता है। 1914 में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित इस कविता ने दलित विमर्श को एक नई दिशा प्रदान करने का कार्य प्रशस्त किया है। इस कविता में हीरा डोम ने दलित उत्पीड़न की कथा को सुनाते हैं और ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न उठाते हैं—

‘हमनी के राति दिन दुःखवा भोगत बानी,

हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइब,
हमनी के दुःख भगवनओं न देखताजे,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइ'

मराठी के संत चोखा मेला ने भी ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न उठाते हुए जातिवादी समाज के विरुद्ध अपना प्रतिरोध दर्ज किया है। अछूतानंद हरिहर की कविताओं में उस समय की सामाजिक असमानताओं और जाति विद्वेष के प्रति तीखी टिप्पणी मिलती है।

दलित साहित्य मुख्यधारा के साहित्य में भिन्न इसलिए है क्योंकि वह सौंदर्यानुभूति के लिए साहित्य का सृजन नहीं करता है। वह वास्तविक जीवन के जीवंत चित्रण में विश्वास करता है। इसलिए वह किसी भी स्तर पर काल्पनिकता से हावी होते नहीं दिखाई पड़ता है। इस संदर्भ में ओमप्रकाश वात्मीकि लिखते हैं- “दलित साहित्य में दलित जीवन का यथार्थवादी चित्रण यथार्थ की मात्र नकल नहीं है, बल्कि साधारण परिस्थितियों में साधारण चरित्रों का वास्तविक पुनर्सृजन है। इस कार्य में दर्शन और कलात्मक पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन की आवश्यकता कतई नहीं है। पाठक की चेतना और अनुभूति को प्रभावित करने वाली गहन संवेदना से ही यह संभव है।”¹⁰ भारतीय समाज में धर्म का प्रभाव मानव मात्र पर इस तरह हावी हुआ है कि वह अपना सब कुछ निछावर करने के लिए तैयार हो जाता है। मार्क्स ने कहा था कि धर्म एक अफीम है। वह नशा जिसके चपेटे में आने के बाद बाहर निकलना असंभव है। उस नशे में धृत व्यक्ति मानवता और सहिष्णुता को भूलकर धर्मांध हो जाता है। उसे धर्म की आड़ में फसाने वाले धार्मिक असहिष्णुता को फैलाने की साजिश रचते हैं और सांप्रदायिक उत्पात मचाते हैं। ऐसे धर्म को दलित कवि नकारता है। वह उसे अस्वीकार कर बुद्ध के द्वारा प्रशस्त धम्म यानी मानवता, समानता और सद्भावना की ओर चलने का संकल्प लेता है। वरिष्ठ कथाकार मोहनदास नैमिशराय अपनी कविता में धर्म का पर्दाफाश करते हुए दिखाई देते हैं-

“ मैं तुम्हारे
झूठे धर्म पर
करता रहा गर्व
लेकिन
तुम्हारा मेरे प्रति
छिपा रहा सदैव
अपमान का भाव ही
तुम्हारी नैतिकता की छतरी में
छेद-ही-छेद हैं।”¹¹

निष्कर्ष :

आज दलित साहित्य अनेक प्रकार के मुद्दों को उजागर करने में अपनी सक्रियता दिखा रहा है। बदलते परिवेश के अनुकूल साहित्य का बदलता रूप देखा जा सकता है। साहित्य का सामाजिक सरोकार होना ही उसकी उपलब्धि है। इसीलिए दलित साहित्य समाज के साथ अपना सरोकार बनाये रखता है। डॉ. वीरेंद्र सिंह यादव के ‘दलित विमर्श के अंतर्द्वंद्व एवं सामाजिक सरोकार’ लेख में इसकी ओर इशारा करते हुए लिखते हैं कि- ‘इक्कीसवीं सदी की शैशवावस्था में जब साहित्य के कुलीन साधक यथार्थ की दुनिया से पलायन कर उत्तर आधुनिकता का घोंसला गढ़ रहे हैं, वहीं वर्तमान का दलित साहित्य मनुष्यता के लिए संघर्ष कर रहा है। परिवर्तन पहले समाज में आता है फिर साहित्य में। जातियों के बीच सत्ता का निरंतर संघर्ष चलता रहता है। समकालीन

दलित लेखन व्यापक परिवर्तनकारी उद्देश्यों को लेकर चल रहा है। वह समाज में सकारात्मक परिवर्तन करना चाहता है।' दलित साहित्य का उद्देश्य हमेशा से मानवीय मूल्यों को मान्यता देना रहा है। वह समाज में असमानता, विषमता और अन्याय के प्रति अपनी आवाज बुलंद करता रहा है। मनुष्य को सर्वोपरि मानकर मानव केंद्रित साहित्य की रचना करते हुए समानता का आलाप करता आया है। इसीलिए वह साहित्य बुद्ध, कबीर, रैदास, फुले, अंबेडकर के विचारों को साहित्य के केंद्र में रखते हुए समतामूलक समाज, न्याय प्रियता, बंधुत्व और भाईचारा को बनाये रखने की चेष्टा करता है। दलित कविता इसका पैरोकार है। कविता की लोकप्रियता के कारण सामान्य लोक तक इसका विस्तार होता है। अतः अंबेडकर के विजन को साकार बनाने में यह सहायक सिद्ध होती है।

संदर्भ :

1. बहुजन वैचारिकी, तुलसीराम विशेषांक, धर्मवीर यादवगगन, अंक-1, जनवरी, 2016, पृ. 24
2. दलित साहित्य की भूमिका, कंवल भारती, पृ. 67
3. कथाक्रम, दलित विशेषांक, नवम्बर 2000, पृ. 115
4. जयप्रकाश लीलवान, अब हमें ही चलना है, पृ. 55
5. डॉ. रमेशचंद्र चतुर्वेदी, बीसवीं सदी की हिंदी दलित कविता, प्राक्कथन
6. दलित निर्वाचित कविताएं, सं. कंवल भारती, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006, पृ. 127
7. डॉ. बी.आर. अंबेडकर, आचार्य जुगलकिशोर बौद्ध(अनुवादक), जातिभेद का बीजनाश, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 35
8. गूंगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, अतिश प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ.37
9. दलित साहित्य-समस्त परिदृश्य, सं.डॉ. मनोहर भंडारे, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ.105
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, पृ. 59
11. मोहनदास नैमिशराय, हिंदी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2018, पृ. 308



आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उनका काव्य

○ मधूलिका तिवारी

हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल मुख्यतः निबंधकार, आलोचक एवं इतिहासकार के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। पर आचार्य शुक्ल की कविताएँ भी उनकी सृजन शक्ति को व्यक्त करती हैं। उनके काव्य संसार में उनका विचार गाम्भीर्य स्पष्ट ही अभिव्यक्त हुआ है। हालाँकि उन्होंने असंख्य कविताएँ लिखीं पर जितनी भी कविताएँ प्राप्य हैं वे पुनर्मूल्यांकन की मांग करती हैं। आचार्य शुक्ल की कविताओं का संग्रह 'मधुस्रोत' उनके मरणोपरान्त सन् 1971 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ने प्रकाशित किया था। उनकी कविताएँ ब्रजी एवं खड़ीबोली दोनों भाषाओं में मिलती हैं। आचार्य शुक्ल की कविताएँ विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। गद्य लेखन में जो उन्होंने विचार प्रकट किए हैं वही विचार शृंखला उनके काव्य में भी बरकरार है। उनके कथ्य में यथार्थ की गूँज है, देश-प्रेम है, ग्राम की मिठास है, लोक की चिन्ता है, प्रकृति की व्यापकता है, विरह की झाँकी है। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो उनका काव्य विचारों से प्रोद्भूत है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की काव्यात्मक चेतना लोकपक्षीय है। वे लोक चेतना के रचनाकार हैं। उनकी लोकदृष्टि सर्वात्म के कल्याण की कामना करती है। लोकरक्षा, लोकरंजन, लोकमर्यादा, लोक कल्याण, लोक मंगल, लोक-सामान्य भाव-भूमि इत्यादि जैसे अनेक पदबंध आचार्य रामचंद्र शुक्ल के रचना संसार में आए हैं। ये शब्द स्पष्ट ही दर्शाते हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रचना प्रक्रिया लोककेन्द्रित है। लोक-मंगल की भावना उनके साहित्य में सर्वत्र द्रष्टव्य है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भक्तिभावना भी लौकिकता का आधार लिए हुए है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्य अथवा काव्य में उद्धृत राम और कृष्ण अलौकिक पुरुष नहीं हैं। वे लोक के मध्य कार्यरत हैं। राम के लोकरक्षक एवं कृष्ण के लोकरंजक स्वरूप में लोक कल्याण अंतर्निहित है। राम का शोभा-शक्ति शीलमय रूप लोकजीवन के मध्य विस्तार पाता है। दूसरी ओर कृष्ण की लोकरंजिनी छवि भी लोक में आशा और शक्ति का संचार करती है। राम और कृष्ण के प्रति हमारी भक्ति लोकोन्मुखता के द्वार खोलती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सर्वत्र ही भक्ति की उपादेयता लोक के मध्य बतायी है। लोक के प्रति उनकी सचेतनता उनके समग्र साहित्य में दर्शनीय है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कविता लोक में गाँव के प्रति उनका झुकाव दिखाई देता है। गाँव उनकी लोक सम्मत छवि की परवरिश करता दिखाई देता है। देश की पुरानी जीवन-धारा में लोकोन्मुखता की गूँज सुनाई देती है-

“ग्राम-ग्राम द्वार पर अतिथि समागम का
गौरव सदा से इसी भाँति चला आता है।
नगरों के ऐसा वहाँ देख कोई आया गया
दूर ही से कहीं कोई मुँह न चुराता है।”¹

ग्राम में मनुष्य-मनुष्य से मिलकर सुख का अनुभव करता है। पर आज के नगरों की संस्कृति स्वार्थ से परिपूर्ण है। नगरों में लोग केवल स्वार्थवश ही किसी से मेल-मिलाप करते हैं। यह मनुष्य के संकीर्ण हृदय का आभास कराता है। इसलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रामीण संस्कृति को महत्व देते हैं जहाँ मनुष्य निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे से मिलते हैं। उनकी चिन्ता लोक परिचालना की है। संकीर्ण मानसिकता से ग्रसित मनुष्य किस प्रकार सुंदर लोक का निर्माण कर सकता है? यहीं तक नहीं बल्कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल यह भी अनुमान लगा लेते हैं कि आने वाले समय में मनुष्य की सारी वृत्ति अर्थ में बँध जाएगी। समय के साथ-साथ मनुष्य और भी अवसरवादी हो जाएगा। मनुष्य की अर्थ-लोलुपता उसे किस प्रकार गर्त की ओर ले जाएगी, इस ओर उन्होंने ध्यान दिलाया है-

“अवसर आयु में से क्रीड़ा के कटेंगे सब
बालक भी खेलते न देखने में आवेंगे।
सारी वृत्ति अर्थ से बँधेगी इस भाँति, लोग
कहीं आँख कान तक व्यर्थ न लगावेंगे।
ऐसे इस अर्थ के अनर्थ से विभीत होके
मन के पुनीत भाव सारे भाग जावेंगे।”²

अर्थोन्माद मनुष्य को मानवीयता से दूर ले जाएगा, यही आचार्य की चिन्ता का विषय है। उन्होंने मनोविकारों पर विशेष बल दिया है क्योंकि इससे मनुष्य अपनी स्वाभाविकता को जीवित रखता है। मनुष्य के प्रति उनकी चिन्ता वास्तव में लोक की चिन्ता है। इस संदर्भ में रामचंद्र तिवारी का कथन अवलोकनीय है- “आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समाज दृष्टि मूलतः लोक मांगलिक है। ऐसा नहीं है कि उनमें सामाजिक संरचना की कोई दृष्टि नहीं थी किन्तु उन्होंने सदैव लोक मंगल पर ही बल दिया है। उन्होंने अपनी काव्य समीक्षा के केन्द्र में भी लोक मंगल को ही रखा है।³ लोक के प्रति बड़ी ही सजग दृष्टि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रही है। उनका काव्य भी उनकी इसी सजगता को दर्शाता है। उन्होंने लोक मंगल पर सर्वत्र ही विशेष बल दिया है। लोक के प्रति आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचार वास्तव में सृष्टि में विद्यमान मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, नदी, पर्वत, सबकी रक्षा की भावना से संबंधित हैं। लोक में व्याप्त संकट से उनकी संबद्धता उनकी यथार्थोन्मुखता पर प्रकाश डालती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने राष्ट्र-प्रेम से संबंधित कविताएँ भी लिखी हैं- ‘बसन्त’, ‘भारत और बसन्त’, ‘देशद्रोही को दुतकार’, ‘फूट’ आदि। उन्होंने ‘रानी दुर्गावती’ शीर्षक से एक कविता भी लिखी थी। यह कविता स्त्री की साहसिकता और उसकी वीरता को व्यक्त करती है। इतिहास के पन्नों में रानी दुर्गावती का नाम अमर है। इस कविता के माध्यम से आचार्य रामचंद्र शुक्ल यह याद दिलाते हैं कि स्त्रियों ने भी पूर्ण वीरता से अपने देश का मान रखा था। ‘म्लेच्छ यवन की हरम कर हम अबला नाहीं। आर्य्य नारि नाहिं कबहुँ शस्त्र धारत सकुचाहीं।’ (पृ. 113, आचार्य रामचंद्र शुक्ल रचनावली, खंड 6) रानी दुर्गावती के जरिए उन्होंने स्त्री के सशक्त स्वरूप को उकेरा है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का देश प्रेम उनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है। वे भारत की दुर्दशा के आगे बसन्त का सौन्दर्य नहीं निहारते हैं। उनका भावुक मन प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर मोहित अवश्य होता है पर जब देश की पराधीनता सामने होती है तो वे देश को अधिक महत्व देते नजर आते हैं। यथार्थ के प्रति देश के प्रति पूर्ण जागरूकता उनके काव्य में दिखाई देती है-

“रे रे निलज सरोज! अजहुँ निकसत लखि भानहिं;
देश-दुर्दशा जनित दुख चित नेकु न आनहिं।।”

“ये हो मधुकर वृन्द! मोहि नहिं कछु आवत कहि;
कौन मधुरता लोभ रह्यो बसि दीन देश यहि।”⁵

द्रष्टव्य है कि आचार्य को बसंत की अपेक्षा ‘देश दुर्दशा जनित दुख’ साल रहा है। देश को सर्वप्रथम संकट से मुक्त करना आवश्यक है। उद्धृत काव्यांश से लक्षित होता है कि कविवर शुक्ल किस प्रकार सरोज को निलज कहकर दुतकारते हैं। यहाँ प्रकृति और कवि का संबंध भी अवलोकनीय है। प्रकृति के अनेक तत्त्वों से वे वार्तालाप करते हैं। सरोज, मधुकर वृन्द, अरुण पलाश, कदम्ब, कोकिल इत्यादि से उनका संवाद और प्रकृति के सुंदर नाते को दर्शाता है। प्रकृति को वे मनुष्य की चिर सहचरी के रूप में देखते हैं। उनकी यह वासना यहाँ भासित होती दिखाई दे रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल युगीन परिस्थितियों से वाकिफ थे। वे किसी स्वप्न-लोक की यात्रा नहीं कराते वरन यथार्थ लोक के संघर्ष को महत्व देते हैं। उनके समय की हवा उनके काव्य में बहती नजर आती है। इस संदर्भ में रामचंद्र तिवारी का कथन ध्यान देने योग्य है- “प्रकृति के रम्य चित्रों से अलग अन्य कविताओं का महत्व इस दृष्टि से भी मान्य है कि उनमें शुक्ल जी के समय के इतिहास की अनुगूँजें सुनाई पड़ती हैं और उनके प्रति उनकी निजी प्रतिक्रियाओं की झलक भी मिलती है। सन् 1929 ई. के बाद की उनकी कोई कविता संग्रह में नहीं है। जाहिर है कि उनका चिन्तक और आलोचक व्यक्तित्व क्रमशः उभरता गया है और कवि रूप उसी अनुपात में दबता गया है।”⁶ यह सत्य है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कविताओं में तत्कालीन समय का इतिहास आंशिक रूप में ही सही दिखाई देता है। उनके आलोचक व्यक्तित्व के आगे सचमुच ही उनका कवि रूप छिपता चला गया है। पर उनका काव्य उनके विचार वैविध्य को चिह्नित करता है। उनकी गंभीर चिन्तना-शक्ति से उनका काव्य भी दीप्त है।

प्रकृति आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्य की शोभा है। प्रकृति के प्रति उनकी जो चिन्ताधारा है उसमें उनका विराट व्यक्तित्व एवं उनका विचार गाम्भीर्य स्पष्ट दिखाई देता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रकृति को मूल एका स्रोत मानते हैं। प्रकृति से अलगाव मनुष्य को नीरस बनाता जा रहा है। मनुष्य का हृदय सूखता जा रहा है अर्थात् उसकी उदारता, सरसता, दयालुता सब कुंद हो रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल मनुष्य को आगाह करते हैं कि उसकी उन्नति ‘प्रेत-सा’ विकास कर रही है। वे काननों के कटने से दुखी हैं। शैलों के तोड़-फोड़ से चिन्तित हैं। वे माता धरती की गोद हरी भरी देखना चाहते हैं। उनकी दूरदर्शिता ने तत्कालीन समय में ही प्रकृति के क्षरण का दुष्परिणाम भाँप लिया था। न केवल वैज्ञानिक दृष्टि से बल्कि मानवीय दृष्टि से भी वे प्रकृति के रक्षण के हिमायती हैं। मनुष्य की स्वार्थान्धता उसे प्रेत सा बना रही है। उसका संसार संकीर्ण हो रहा है। कविता में तो वे पर्यावरण संरक्षक नजर आते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल पेड़-पौधे, वृक्ष, पशु-पक्षी, मनुष्य सबको एक साथ देखना चाहते हैं। उन्हें प्रकृति और मनुष्य का पारिवारिक रूप में संसर्ग भाता है-

“विटप विहंग नर पशु जहाँ एक संग
मिले जुले पलते हैं एक परिवार से;
जहाँ विश्व-जीवन की धारा से न छिन्न अभी
हुआ है मनुष्य निज दृष्टि के विकार से।”

ग्राम ‘विश्व जीवन’ की धारा से संलग्न है। वहाँ मनुष्य अपनी क्षुद्र इच्छाओं का दास अब भी नहीं बन पाया है। उसका हृदय पशु, पक्षी, वृक्ष, वन सबका स्वागत करता है। इसलिए आचार्य ग्राम को अधिक महत्व देते हैं। उन्हें वृक्ष, पक्षी, मनुष्य सबका सम्मिलन सुख प्रदान करता है। वे प्रकृति और मनुष्य के बीच पारिवारिक सौहार्द देखने के पक्षधर हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में उनकी विश्व भावना प्रकर्ष पर दिखाई देती है। उनकी विश्व-दृष्टि पशु पक्षी, पेड़-पौधे, मनुष्य किसी में भेद नहीं करती। वे मनुष्य का प्रकृति के प्रति पूर्ण आत्मीय झुकाव देखना

चाहते हैं। प्राचीन समय से ही प्रकृति काव्य में वर्णित रही है पर समय के साथ ही साथ उसका स्वरूप भी बदला। बदलते स्वरूप को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने देखा परखा। उन्होंने मनुष्य और प्रकृति के संबंधों को प्रगाढ़ करने की वकालत की। आचार्य रामचंद्र शुक्ल पूर्ण भावुकता के साथ उसका वर्णन करते हैं। उनके यहाँ प्रकृति का विराट स्वरूप है, उसका भेद भावहीन रूप है, उसकी उपयोगिता है, उसकी उदारता है, उसकी दयालुता है, उसका सौन्दर्य और उसकी पूर्णता है। प्रकृति भेदभावहीन पुनीत आश्रय है जो पशुपक्षी, मनुष्य सबकी सहायिका बनती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रकृति की कोख में मानवता के बीज देखते हैं। मनुष्य को वे प्रकृति की ही भाँति उदारमना देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में ‘मनुष्य’ ‘अवतार’ तभी कहला सकता है जब उसके आनंद का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौन्दर्य के साथ हो जाएगा और जब उसकी रक्षा की भावना वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जाएगा⁸ उन्होंने प्रकृति में कहीं न कहीं वह प्रेरणा शक्ति देखी थी जो मनुष्य को उसके अवतार रूप के निकट ले जाए। उन्होंने जीवन का मूल्य प्रकृति की गोद में देखा था। मनुष्य और प्रकृति का विच्छेद उन्हें मनुष्य-समाज के लिए घातक लगता है। प्रकृति और मनुष्य के मध्य अनगिनत झंझटों ने आज घर कर लिया है। उन्होंने मनुष्य के कल्याणार्थ प्रेम और करुणा जैसे महाभावों को महत्व दिया है। उन्होंने प्रेम में वह शक्ति देखी है जो विश्वबंधुत्व का पालन कर सकती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रेम, करुणा, दया जैसे मानवीय गुणों का प्रसार चाहते हैं। प्रकृति की उदारता को वे मनुष्य में प्रतिबिम्बित देखना चाहते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जिस प्रेम की बात करते हैं वह प्रेम ‘मैं’ की सीमा का अतिक्रमण कर विश्वबंधुत्व की ओर ले जाता है। वे मनुष्य को विश्वधारा के साथ सम्पृक्त करना चाहते हैं। उन्होंने काव्य के माध्यम से इस सौन्दर्य की तलाश की है जो मनुष्य को ‘मुक्तावस्था’ की सैर करा सके। उनकी दृष्टि में काव्य मात्र उपयोग की वस्तु नहीं है बल्कि काव्य एक ऐसी यात्रा है जो क्षण भर के लिए ही सही मनुष्य को संकीर्ण घेरे से मुक्त कर मुक्त-हृदय बना देती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्य के उद्देश्य को मलयज इस प्रकार परिभाषित करते हैं- “शुक्ल जी उपयोगितावादी नहीं हैं। वे काव्य के वास्तविक सौन्दर्य को सराहते हैं। वे उसे उपदेश या शिक्षाकर्म की वस्तु भी नहीं मानते। वे काव्य का एक बड़ा उद्देश्य परिभाषित करते हैं। ज्ञान प्रसार और भाव प्रसार; एक व्यापक सच में व्यक्ति के सच की लय-यह लय ज्ञानियों, योगियों की लय नहीं यह हृदय की मुक्तावस्था है, जिसमें हृदय अपने तंग दायरे से छूटकर विश्व में बजती हुई रागिनी और झंकार में लय हो जाता है।”⁹ आचार्य रामचंद्र शुक्ल मनुष्य को विश्वधारा की रागिनी में लीन करना चाहते हैं। विश्वधारा की लय में लीन मनुष्य पूर्ण निःस्वार्थ होकर मुक्त हृदय हो जाता है। वे मनुष्य की सर्वोत्तम अवस्था इसी स्थिति में तलाशते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कविता में प्रकृति अपने पूर्ण रूपरंग में दिखाई देती है। पूर्णता के लिहाज से कहा जाए तो उनके यहाँ काँटे और फूल दोनों हैं। उनके यहाँ कँटीली झाड़ियाँ हैं, अमराइयाँ हैं, बबूल हैं, पपीहे हैं कौवे हैं, श्वान हैं, गायें हैं, बैल हैं, कोयल हैं, भ्रमर हैं, सरसों के खेत हैं, गन्ने हैं, कदम्ब, अशोक इत्यादि हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्य में प्रकृति का स्वभाविक चित्र उभर कर आता है-

“फूलों के पड़ोस में घमोय, बेर औ बबूल
बसे हैं न रोक-टोक कुछ भी की जाती है।”¹⁰

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्य का यह सत्य है कि उन्होंने फूल और बबूल दोनों को सराहा है। प्रकृति फूल और काँटे में भेदभाव नहीं करती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रकृति के इसी वास्तविक चित्र को उकेरते हैं। उनका मानना है कि प्रकृति में स्वास्थ्यकर शक्ति (Healing Power) है जिसमें मनुष्य अपनी सारी चिंताओं को भूल सकता है। प्रकृति की मधुरता मनुष्य को मानसिक सुख एवं शांति पहुंचाती है-

“निरखि लेहु एक बेर चहूँ दिशि नैन पसारी।
मन महुँ अंकित करहु माधुरी छवि अति प्यारी।
इतहीं चिंता तजत आय जग के नर नारी।
इतहीं अनुभव करत सुख सब दुख बिसारी।”¹¹

नैन पसारकर ‘चहूँ दिशि’ देखने की बात कविवर शुक्ल बारम्बार कहते हैं। प्रकृति के सान्निध्य में अपार सुख एवं शांति है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रकृति को वास्तविक स्वरूप के साथ चित्रित किया है। उन्होंने कोई वायवीय बातें प्रस्तुत नहीं की हैं। प्रकृति के सुंदर और कुरूप दोनों ही रूपों को उन्होंने स्वीकृति दी है। न केवल प्रकृति के संदर्भ में बल्कि उन्होंने सर्वत्र ही साधारण और असाधारण दोनों को महत्ता दी है। वे आदर्श लोक के निर्माण की बात अवश्य करते हैं। आदर्श लोक उनके लिए साध्य रहा है। आदर्श स्थिति के लिए या लोक के लिए संघर्ष की आवश्यकता है। वे यथार्थ लोक में संघर्ष को स्वीकार करते हुए आदर्श के प्रति आस्था दिखाते हैं। इस संदर्भ में मलयज का कथन अवलोकनीय है। “शुक्ल जी का आग्रह जिस जीवन पद्धति पर है, उसमें सत्य और वास्तविक मूल्यों (शील सदाचार, शिष्टाचार) के प्रति आग्रह है पर संसार की विसंगतियाँ, मूल्य भ्रष्टता, और पाखंड से वे अनभिज्ञ नहीं हैं। आदर्श और यथार्थ दोनों की स्थिति शुक्ल जी की विचार संवेदना में है।”¹² स्पष्ट ही है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल जिस जीवन पद्धति को स्वीकार करते हैं उसमें मूल्यों का महत्त्व है। वे आदर्श और यथार्थ दोनों ही स्थितियों की बात करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का समस्त संसार यथार्थ के प्रति उनके स्वीकार एवं आदर्श के प्रति उनकी आस्था को व्यक्त करता है।

संदर्भ

1. रामचन्द्र शुक्ल रचनावली, खंड: 6, सं. नामवर सिंह, आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण : 2016, पृ. 66
2. वही, पृ. 69
3. रामचन्द्र तिवारी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, साहित्य अकादमी, पुनर्मुद्रण: 2019, पृ. 77
4. रामचन्द्र शुक्ल रचनावली, खंड: 6, पृ. 36
5. वही, पृ. 36
6. रामचन्द्र तिवारी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 29
7. रामचन्द्र शुक्ल रचनावली, खंड: 6, पृ. 56
8. रामचन्द्र शुक्ल रचनावली, खंड: 3, सं. नामवर सिंह, आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण: 2016, पृ. 47
9. मलयज, रामचन्द्र शुक्ल, राजकमल पेपरबैक्स, पहला संस्करण: 2022, पृ. 89
10. रामचन्द्र शुक्ल रचनावली खंड: 6, पृ. 62
11. वही, पृ. 34
12. मलयज, रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 121



नंदकिशोर नवल की आलोचना दृष्टि

○ सुशांत कुमार

नवलजी को हिंदी साहित्य में पाठ केन्द्रित आलोचक के रूप में जाना जाता है। वे मूलरूप से आधुनिक हिंदी कविता के आलोचक हैं। जिस प्रकार हिंदी आलोचना साहित्य में उनकी पहचान एक मार्क्सवादी आलोचक की रही है उसी तरह पाठकेन्द्रित आलोचना भी उनकी आइडेंटिटी समझी जाती है। लेकिन असल बात तो यह है कि वे इन दोनों चौखटों में से किसी में भी पूरी तरह फिट नहीं बैठते। उनकी आलोचना दृष्टि पर मार्क्सवाद का प्रभाव था लेकिन उनके पास विविध प्रकार के सौंदर्यबोध वाले कवियों को समझने समझाने की दृष्टि भी थी। अपने इसी गुण के कारण वे मुक्तिबोध, निराला तथा मैथिलीशरण गुप्त जैसे विविध सौंदर्य बोध वाले कवियों का अच्छा मूल्यांकन करने में सक्षम रहे। उन्होंने अज्ञेय पर भी स्वतंत्र पुस्तक लिखी। नवलजी पार्टी लाइन साहित्य को फॉलो करने वाले आलोचक नहीं थे, फिर भी मनुष्यता के स्तर पर वे मार्क्सवादी थे। उन्होंने समाज की जड़ताओं से स्त्रियों, वंचितों तथा शोषितों को मुक्ति के लिए प्रेरित किया। उन्होंने निराला की प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्ति पूजा' को पत्नी प्रेम तथा 'सरोज स्मृति' को पुत्री प्रेम की कविता कहा। रामविलास जैसे महान आलोचक भी इन कविताओं से गुजर चुके थे पर उन्हें ये बातें दिखाई नहीं देती हैं। वे मैथिलीशरण गुप्त की प्रशंसा यूँ ही नहीं करते बल्कि उन्हें उनकी रचनाओं में देश प्रेम के उदात्त रूप का आभास हुआ। वे एक जगह कहते हैं, "टी.एस. इलियट ने लिखा है कि महान् कवि की तीन विशेषताएँ होती हैं- नई रुचि का निर्माण, उस रुचि के अनुरूप काव्य-प्रणयण और उसमें श्रेष्ठ प्रतिमान की स्थापना। गुप्त जी ने अपने कृतित्व में ये तीनों कार्य संपन्न किए।" गुप्त जी ने एक तरफ भारत के युवाओं के हृदय में अंग्रेजों से भारत को आजाद कराने के लिए जोश और जज्बा भरा तो दूसरी ओर 'साकेत' में रामायण की उपेक्षित उर्मिला में छिपे हुए औदात्य गुणों की मार्मिक अभिव्यक्ति की। उन्होंने दिखाया कि 'साकेत' में कवि ने किस प्रकार पितृसत्तात्मक नैरेटिव में उपेक्षित होती स्त्री को एक नई पहचान दी। मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक हिंदी कविता में नई रुचि की जमीन तैयार की तथा उस भूमि पर अनेक प्रकार के पुष्पों के बीज बोकर उसे पल्लवित-पुष्पित भी किया। उनकी सृजनात्मकता विविधताओं से भरी हुई है। वे 'साकेत' में स्त्री अस्मिता का प्रश्न उठते हैं तो 'भारत-भारती' में देश प्रेम की मुखर अभिव्यक्ति करते हैं। गुप्तजी ने और भी अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर कविताएँ लिखी हैं। नवलजी आधुनिक युग के कुछ प्रमुख कवियों से निराशा जताते हुए कहते हैं, "शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध जैसे कवियों ने एक भी कविता राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन पर लिखी ही नहीं है। वे कवि मानते थे कि स्वतंत्रता आन्दोलन बुर्जुआ आन्दोलन है, सर्वहारा आन्दोलन चाहिए। जबकि मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवि कांग्रेस के साथ रहते हुए भी उसके खिलाफ, गांधी के विरोध में कविताएँ लिख रहे थे। तब मैंने पाया, महसूस किया कि शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध जैसे कवि एक खास

विचारधारा की पक्षधरता की जकड़न में थे। उनमें देश और समाज के प्रति उस स्तर का कमिटमेंट नहीं था।”² यहाँ उन्होंने अपने अत्यंत प्रिय कवि मुक्तिबोध के नजरिए से अपनी असहमति जाहिर करके अपनी तटस्थ आलोचना दृष्टि का परिचय दिया है। नवलजी को मुक्तिबोध के बारे में ये कहने में कोई संकोच नहीं हुआ कि वे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से उस तरह नहीं जुड़ पाए जिस तरह मैथिलीशरण और दिनकर। मुक्तिबोध ने एक देशभक्त कवि की तरह अपनी कविताओं में स्पष्टता से अंग्रेजों का प्रतिवाद नहीं किया।

भारत की स्वतंत्रता का सवाल जब हमारे देश की सबसे प्रमुख समस्या थी तब हिंदी साहित्य भी इस आंदोलन में अपनी सक्रिय भूमिका निभा रहा था। मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी तथा माखनलाल चतुर्वेदी इत्यादि कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से अंग्रेजों का मुखर विरोध किया। नवलजी एक तटस्थ आलोचना दृष्टि का परिचय देते हुए अपने प्रिय कवि मुक्तिबोध के साहित्य में भी देश प्रेम की तलाश करते हैं तो उन्हें निराशा होना पड़ता है। एक आलोचक महान कवियों के मूल्यांकन के क्रम में इन बातों का विशेष ध्यान रखता है कि वह कवि अपने युग की समकालीन समस्याओं से किस प्रकार और कितना जुड़ा हुआ था। ऐसी बात नहीं है कि नवलजी मुक्तिबोध के स्वतंत्रता संग्राम की मुख्य धारा से कटे होने के कारण उनकी महानता पर कोई प्रश्न चिह्न खड़ा करते हैं लेकिन जो कार्य मुक्तिबोध ने नहीं किया वे उन्हें उसका क्रेडिट भी नहीं देते। आज हिंदी आलोचना में ऐसी प्रवृत्ति आम हो गई है कि आलोचक अपने प्रिय रचनाकारों को महानता के शिखर पर ले जाने के लिए उन्हें उस धारा से भी जोड़ने की कोशिश करते हैं जिसके विकास में उनका कोई योगदान नहीं होता। नवलजी ने न तो मुक्तिबोध को राष्ट्रकवि बनाने की कोशिश की और न ही मैथिलीशरण गुप्त को मार्क्सवादी। जो जैसा है, जिसकी सृजन भूमि जैसी है उन्होंने उसी के परिप्रेक्ष्य में उनकी रचनाओं को देखने की कोशिश की। मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में नवलजी देशहित, समाजहित तथा स्त्री हित के मुखर स्वर का आभास पाते हैं। उनकी दृष्टि में गुप्त जी किसी खास खेमे के नहीं बल्कि भारतीय स्वतंत्रता में अपनी कविताओं से जान डालने वाले तथा इस पितृसत्तात्मक समाज में उर्मिला जैसी स्त्रियों के संघर्ष को महत्व देने वाले कवि हैं।

मुक्तिबोध नवलजी के अत्यंत प्रिय कवि हैं। मुक्तिबोध संबंधी इनकी समीक्षा को समझने में इलियट की पूर्व उद्धृत तीनों कसौटियाँ सहायक हैं। जिस प्रकार गुप्त जी ने अंग्रेजों की दमनकारी और साम्राज्यवादी शक्तियों का विरोध किया उसी तरह मुक्तिबोध ने आजादी के बाद भारत की सत्ता पर काबिज होने वाली तानाशाही शक्तियों से कठोर संघर्ष किया। अपने ही देश में उनकी रचनाएँ प्रतिबंधित हुईं। भारत की लोकतांत्रिक मूल्यों की महानता का बखान करने वाले लोग एक कवि के प्रतिरोध के प्रति सहिष्णुता नहीं दिखा सके। नवलजी ने मुक्तिबोध संबंधी अपनी आलोचना में यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार मुक्तिबोध ने हिंदी साहित्य को एक नई ऊँचाई दी है तथा कैसे उन्होंने साहित्य में कबीर और निराला की प्रतिरोध परंपरा को विकसित किया है। उन्होंने अपनी कविताओं में समाज के जटिल यथार्थ को फैंटसी का रूप देकर कविता के परंपरागत प्रतिमानों के बरक्स एक नया प्रतिमान गढ़ा और उसे विकसित भी किया। मुक्तिबोध के संबंध में नवलजी कहते हैं, “बहुत ही गहरे अर्थों में मुक्तिबोध एक राजनीतिक कवि थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि उनकी कविता का मूल आशय राजनीतिक होता है भले अप्रकट हो। लेकिन उनकी राजनीति देश की रोजमर्रा राजनीति न होकर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के उपनिवेशवाद और नवउपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्षरत देशों की राजनीति है, जिसके प्रहार का मुख्य लक्ष्य साम्राज्यवाद है।”³ इनकी इस टिप्पणी के आधार पर स्पष्ट है कि मुक्तिबोध एक वैश्विक संवेदना संपन्न कवि थे। उनकी साम्राज्यवाद विरोधी कविताओं का लक्ष्य मात्र भारत की तानाशाही शक्तियाँ न होकर एशिया, योरप तथा अफ्रीका की मजलूम जनता पर जुल्म ढाने वाली शक्तियाँ भी थीं। मुक्तिबोध एक बड़े वैश्विक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर लिख रहे थे इसीलिए उनकी कविताओं में अपने राष्ट्र पर गर्व करने वाली

प्रवृत्ति नहीं है। उन्होंने अपनी कविताओं में राजनीतिक षड्यंत्रों तथा जनता को गुमराह करने वाली प्रवृत्ति का मुखर विरोध किया है। नवलजी ने कम्युनिष्ट विचारधारा के प्रति मुक्तिबोध के मजबूत कमिटमेंट को इस प्रकार सराहा है, “सच्चा कम्युनिस्ट अपने ढंग से ही बना जा सकता है, न कि इस तरीके से कि कम्युनिस्ट विचारधारा को कहीं से प्राप्त किया और उसे गहने की तरह गले में डाल लिया। मुक्तिबोध ऐसे कम्युनिस्ट नहीं थे, इसीलिए स्वभावतः वे अपने आचरण से लेकर विचारों एवं रचना तक में ‘आफिसीयल’ कम्युनिस्टों से मेल नहीं खाते।”¹⁴ उनकी दृष्टि में मुक्तिबोध के जीवन में वैचारिकी और संवेदना का अनोखा सामंजस्य था, शायद इसीलिए नवल जी मुक्तिबोध में एक ईमानदार कम्युनिस्ट की छवि देखते हैं। मुक्तिबोध के साहित्य और व्यक्तित्व दोनों की दिशा का एक है। वे अगर साहित्य में फासिस्ट शक्तियों के कटु आलोचक थे तो असल जीवन में भी। मुक्तिबोध लोकतंत्र की आड़ में छिपी हुई फासिस्ट शक्तियों को जनता के सामने एक्सपोज करते हैं।

नवलजी अपनी आलोचना में ‘तारसप्तक’ के संबंध में प्रचलित प्रयोगवादी नैरेटिव पर गंभीर सवाल उठाते हुए कहते हैं, “लेकिन असली कहानी यह है कि ‘तार सप्तक’ की प्रगतिशीलता पर पर्दा डालकर हिंदी कविता को गलत मोड़ देने का प्रयास उसके संपादक अज्ञेय ने किया, जो सच में ऐतिहासिक दुश्चक्र से कम नहीं है।”¹⁵ तारसप्तक पर प्रयोगवाद का आवरण डालकर अज्ञेय ने उसकी प्रगतिशील धारा को कमजोर कर दिया। तारसप्तक के कवियों में मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, नेमीचंद्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल तथा रामविलास शर्मा मार्क्सवादी घोषित रूप से मार्क्सवादी थे लेकिन अज्ञेय ने जानबूझकर इन बातों का नजरंदाज किया। उन्होंने प्रायोजित तरीके से ‘तारसप्तक’ के संबंध में गलत नैरेटिव को प्रचारित किया। हिंदी साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा कि लोगों ने इस भ्रांत धारणा को स्वीकार भी कर लिया। फिर भी नवलजी का यह सवाल ‘तारसप्तक’ के संबंध में पाठकों को फिर से विचार करने के लिए विवश करता है। नवलजी विचारों से मार्क्सवादी थे लेकिन वे मार्क्सवाद की जड़ताओं का समर्थन नहीं करते थे। वे ‘मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना’ में लिखते हैं कि “मार्क्सवादी आलोचकों को हिंदी कविता का बांका-तिरछा प्रवाह पसंद न था। वे उसे खास मार्ग पर बहाना चाहते थे। ये उनकी रूढ़िवादिता तो थी ही, यह उनका काव्य-सृजन की मानवीय भूमि से कटकर अपनी सिद्धांत-व्यवस्था में अटक जाना था।”¹⁶ मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी आलोचना के डिमांड के अनुकूल कविताएँ नहीं लिखीं। उन्होंने अपनी सृजनात्मकता को अभिव्यक्त करने के लिए नई भाषा, नये शिल्प का अन्वेषण किया तो क्या गलत किया। लेकिन हिंदी के कुछ मार्क्सवादी आलोचकों को उनकी यह बात अच्छी नहीं लगी क्योंकि उन्हें नारेबाजी और फतवेबाजी वाली कविताओं की आदत हो गई थी। मुक्तिबोध ने उनकी पसंद और फरमाइश का ख्याल नहीं किया इसलिए वे चिढ़कर इनकी अपव्याख्या करने लगे। उन्हें इनकी नाफरमानी का खामियाजा एक लंबे अरसे तक हिंदी के महान कवियों की श्रेणी से बाहर रहकर चुकाया।

नंदकिशोर नवल ने निराला की कविताओं को अपव्याख्या से बचाया। ‘निराला : कृति से साक्षात्कार’ में निराला के संबंध में कही गई यह बात ध्यातव्य है, “मैंने इस पुस्तक में भरसक यह प्रयास किया है कि कविता की पंखुड़ियाँ छिन्न-भिन्न न हो और वह सिर्फ अपनी नाल पर प्रस्फुटित हो जाए।”¹⁷ उनका यह कथन आलोचना कर्म के प्रति उनकी सजगता और गंभीरता का स्पष्ट संकेत करता है। आलोचक को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि एक ही आलोचनात्मक प्रतिमान की कसौटी से सभी कवि की कविताएँ नहीं समझी जा सकती। उन्होंने ‘सरोज स्मृति’ तथा ‘राम की शक्ति पूजा’ जैसी सघन टेक्स्ट वाली कविताओं की व्याख्या करके उनके संबंध में पूर्व निर्मित कुछ रूढ़ मान्यताओं का खंडन भी किया। किसी कविता के संबंध में जब एक गलत धारणा बनेगी तो उसकी पंखुड़ियाँ छिन्न-भिन्न तो होंगी ही। नवलजी की आलोचना निराला की कविताओं के जटिल सौंदर्यबोध से पाठकों को कनेक्ट करती है न कि उन्हें डराती है।

नवलजी ने निराला की कविताओं पर भी अच्छा कार्य किया। कवि निराला पर लिखने के क्रम में इन्होंने

अनेक स्थान पर निराला साहित्य के सबसे बड़े विशेषज्ञ रामविलास जी की बातों का जोरदार एवं युक्तिपूर्ण खंडन किया है।

नवलजी की पाठकेन्द्रित आलोचना रचना और आलोचना के बीच बिगड़ते संबंधों को संतुलित बनाने की दिशा में एक गंभीर हस्तक्षेप है। हिंदी आलोचना अपने वैचारिक वैभव को प्रदर्शित करने की होड़ में अपने कर्तव्य से विमुख होती जा रही थी। आलोचना का अस्तित्व रचना की अस्मिता निर्धारण पर अवलंबित होता है लेकिन जब आलोचना बिल्कुल अपना एक अलग ही राग गाने लगे तब उसके अस्तित्व पर चिंतित होना लाजिमी है। नवलजी हिंदी आलोचना के इस विचलन की ओर इस प्रकार संकेत करते हैं, “हिन्दी में कृति की राह से गुजरने या ‘पाठाधारित आलोचना’ की बहुत दुहाई दी जाती है, लेकिन हिन्दी आलोचना रचना के पाठ से जितनी भटकी हुई है, उतनी शायद ही किसी विकसित भाषा की आलोचना हो।”⁸ वे हिंदी आलोचना में रचना की होती उपेक्षा से चिंतित थे। भला ऐसी हवा हवाई आलोचना का क्या मूल्य जो जिसकी नींव ही कमजोर हो। आलोचक मार्क्सवाद, अस्तित्व और राष्ट्रवाद जैसे विश्वस्तरीय प्रबोधन कैम्पों की यात्रा करके भी रचना के भावलोक पर कुछ भी प्रकाश न डाल सके तो वह आलोचना किस काम की। वे ऐसे आलोचक नहीं हैं जो कविता की जटिलता से घबराकर अपना रास्ता बदल लें। वे पाठ के दुर्गम अंशों में प्रवेश करके कविता की मूल संवेदना के केन्द्र को उद्घाटित करते हैं। हिंदी साहित्य में नवलजी की पाठकेन्द्रित आलोचना को जो महत्त्व मिलना चाहिए था वह नहीं मिला। पाठकेन्द्रित आलोचना के कारण इन्हें जितनी प्रसिद्धि मिली उससे कहीं अधिक इनका अवमूल्यन हुआ है। इनके संबंध में यह भ्रांत धारणा प्रचारित की गई कि वे छात्रपयोगी पुस्तकें लिखते हैं, उन्हें व्याख्याकार भी कहा गया। पुस्तकों का छात्रोपयोगी होना तो बहुत अच्छी बात है लेकिन प्रश्न यह है कि ये बातें लोग नवलजी के लिए ही क्यों इस्तेमाल करते हैं। अगर पुस्तकों की उपयोगिता के आधार पर ही लेखक का विवेचन करना था तो दूसरे आलोचकों के बारे में भी यह बताया जाना चाहिए कि उनकी पुस्तकें किसके लिए उपयोगी हैं। एक स्पष्ट अवधारणा होने से हम उन्हें अच्छे से पहचान पाते। जिन्होंने अपनी स्थापनाओं से रामविलास जी जैसे बड़े आलोचकों के आलोचना की विसंगतियों का खंडन किया हो उन्हें व्याख्याकार कहना कितना मुनासिब है? ऐसा प्रतीत होता है कि आज भी हिंदी आलोचना पूर्वग्रहों से मुक्त नहीं हो पाई है। नवलजी चाहते थे कि हिंदी आलोचना पलायनवादी मार्ग छोड़कर साहित्य के दुर्गम रास्तों पर भी आगे बढ़े। उन्हें पूरी तरह से पाठकेन्द्रित आलोचक की उपाधि से विभूषित करना सही नहीं है क्योंकि उन्होंने आचार्य शुक्ल, डॉक्टर रामविलास शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह तथा मैनेजर पांडेय जैसे महान् आलोचकों की परंपरा का भी संरक्षण किया। समकालीन काव्ययात्रा, आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास, कविता पहचान का संकट जैसी वैचारिक पुस्तकें भी लिखीं। इसीलिए इन्हें पूरी तरह से पाठकेन्द्रित आलोचक मान लेना उनकी उपलब्धियाँ को कम आंकना होगा। उन्होंने एक जगह इस बात की ओर हल्का संकेत भी किया है, “जिन कवियों की कविता का ‘टेक्स्ट’ बहुत समृद्ध होता है, उनका विश्लेषण कर संदर्भ सहित उनके अर्थ और व्यंजना की परतों पर खोलना निहायत जरूरी है। आधुनिक काल में ऐसे कवि निराला और मुक्तिबोध हैं, अपने ढंग से शमशेर और रघुवीर सहाय भी।”⁹ उपर्युक्त बातों से उनकी पाठकेन्द्रित आलोचना का मेयार बिल्कुल स्पष्ट है। नवलजी चाहते थे कि जिन कविताओं का पाठ समृद्ध होने के साथ अतीव जटिल है हिंदी आलोचना में ऐसी कविताओं की पंक्ति दर पंक्ति व्याख्या होनी चाहिए। उन्होंने ‘निराला और मुक्तिबोध चार लंबी कविताएँ’ पुस्तक में यह करके दिखाया भी। इस पुस्तक में व्याख्यायित कविताएँ इस प्रकार हैं- सरोज स्मृति, राम की शक्ति पूजा, ब्रह्मराक्षस तथा अंधेरे में। ये हिंदी साहित्य की ऐसी कविताएँ हैं जिनकी व्याख्या करना हिंदी के बड़े-बड़े आलोचकों के लिए चुनौती और साहस का काम है। नवलजी ने बड़ी जिम्मेदारी से इस चुनौती को स्वीकार करने का जोखिम उठाया। उन्होंने शमशेर और रघुवीर सहाय की कविताओं के जटिल पाठ की ओर संकेत करके भविष्य में

पाठकेन्द्रित आलोचना की दिशा का निर्धारण भी कर दिया। लेकिन अफसोस नवलजी के बाद हिंदी में पाठकेन्द्रित आलोचना की परंपरा पर कोई उल्लेखनीय काम नहीं हुआ। हिंदी आलोचना की महान परंपरा के बीच आज भी शमशेर तथा रघुवीर सहाय जैसे देरों कवियों की कविताओं का काव्य सौंदर्य अंधेरे में है। उनकी रचनाएँ इतनी सपाट नहीं हैं कि आलोचक एक दो टिप्पणी से पाठकों के जेहन में उतर जाए। नवलजी की दृष्टि में एक आलोचक में यह गुण होना चाहिए— “आलोचक का काम किसी छोटे लेखक को बड़ा और किसी बड़े लेखक को छोटा बनाना नहीं है। सारी ताकत लगाकर भी वह यह काम नहीं कर सकता। उसके हाथ में सिर्फ इतना है कि वह तथ्य और युक्ति के साथ यह बतलाए कि छोटा लेखक छोटा और बड़ा लेखक क्यों है।”¹⁰ नवलजी ने अपने आलोचनात्मक लेखों भी में इन बातों का ख्याल रखा है। जिन कवियों में उन्हें संभावनाएँ नजर आयीं, उन्होंने उस पर लिखा और जो उन्हें उतने उपयोगी नहीं लगे उन्हें छोड़ दिया। किसी के साथ नए या पुराने होने के कारण कोई भेद भाव नहीं किया। इसीलिए उनके यहाँ राजेश जोशी, ज्ञानेंद्रपति सरीखे नये कवि भी और तुलसी और सूर जैसे पुराने कवि भी, आलोचना के विषय बने। नवलजी यह मानते थे कि कोई आलोचक अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी एक बौने रचनाकार को बड़ा नहीं कर सकता और न किसी बड़े रचनाकार को अपनी कोप दृष्टि से बौना कर सकता है। आलोचक किसी कवि की पहचान को तर्क और तथ्यों के सहारे पुख्ता करता है। वह कवि की सर्जना के मूल उपादनों तक पहुँचने की कोशिश करता है। रामविलास जी के पहले भी निराला की पहचान थी लेकिन उन्होंने हिंदी साहित्य में निराला के संबंध में एक धारणा निर्मित की, यह बहुत बड़ी बात है। नवलजी एक जगह कहते हैं, “रचना की परीक्षा के लिए किसी निष्ठापूर्वक किसी निर्धारित मार्ग का अनुसरण न करके आवश्यकता अनुसार मार्गों की तलाश की जाए और एक व्यापक संदर्भ में रखकर यह देखा जाए कि रचना मनुष्य और समाज के लिए सार्थक है या नहीं।”¹¹ एक तरफ यहाँ नवलजी आलोचना के रूढ़ प्रतिमानों का विरोध करते हुए आलोचना को फ्लेक्सिबल बनाना चाहते हैं तथा दूसरी तरफ रचना में सामाजिक मूल्यों की तलाश करते हैं। कोई भी रचनाकार मानवीय मूल्यों का संवाहक बनकर ही बड़ा रचनाकार बन सकता है। प्रेमचंद, निराला तथा मुक्तिबोध जैसे रचनाकार इसके अच्छे उदाहरण हैं। जैनेंद्र, अज्ञेय और निर्मल वर्मा जैसे रचनाकारों की प्रासंगिकता समाज से जुड़ाव के कारण ही है। नवलजी इसी विवेक के कारण सच्चे मार्क्सवादी थे। उनका मार्क्सवाद उन्हें वैचारिक और संवेदनात्मक रूप से समृद्ध करता है, विपन्न नहीं।

संदर्भ:

1. नंदकिशोर नवल, आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास, ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण 2019 : 93
2. डॉ. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना का आलोचक इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022: 251
3. नंदकिशोर नवल, मुक्तिबोध ज्ञान और संवेदना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021 : 9
4. वही : 29
5. वही : 85
6. वही : 115
7. नंदकिशोर नवल, निराला कृति से साक्षात्कार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021 : 8
8. वही : 7
9. नंदकिशोर नवल, निराला और मुक्तिबोध चार लम्बी कविताएँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017 : 2
10. योगेश प्रताप शेखर, अपूर्वानंद (सं.), लेख-आलेख, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2022: 48
11. वही : 59



स्त्री मुक्ति की चेतना और प्रेमचंद

○ सिंधु सुमन

मानवीय संवेदनाओं और सामाजिक सरोकारों से सम्पृक्त आंदोलनधर्मी क्रांतिकारी रचनाकार प्रेमचंद का युग विश्व और भारत के लिए राजनीतिक झंझावातों, आर्थिक उथल-पुथल और सामाजिक चेतना की क्रांतियों का युग था। संपूर्ण देश स्वाधीनता की अभिलाषा को मूर्त करने में जुटा था। तत्कालीन भारतीय समाज को राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा तो आंदोलित कर ही रही थी, आर्थिक और सामाजिक शोषण के विरुद्ध विद्रोह के अंकुर भी फूटने लगा था। इन्हीं परिस्थितियों में हिन्दी साहित्य को प्रेमचंद के रूप में एक ऐसा साहित्यकार मिला, जिसने शोषितों और पीड़ितों के अंतर में कुलबुलाती भावनाओं को वाणी दी तथा अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों और शोषण के विरुद्ध एक ऐसा आंदोलन छेड़ा, जो आज भी हमारे समाज की एक बड़ी आवश्यकता है। प्रेमचंद सिर्फ राजनीतिक गुलामी की बात नहीं करते; वह जब देश की आजादी की बात करते हैं तो वह केवल सत्ता हस्तान्तरण की नहीं, बल्कि देश की स्वाधीनता को भारत के आम आदमी की सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता से जोड़कर देखते हैं। ऐसे में किसानों-मजदूरों-दलितों के साथ-साथ नारी मुक्ति, समाज में स्त्री की हैसियत तथा उसके जीवन से संबंधित अन्य सवाल पूरी ईमानदारी के साथ प्रेमचंद साहित्य में बड़ी मजबूती से अपना स्थान पाते हैं।

जिस समय सरोजनी नायडू, एनीबेसेंट और हीराबाई सरीखी आदर्श नारियों के नेतृत्व में नारी जागरण का अभियान दिनों-दिन सशक्त और संगठित होता जा रहा था; नारी जागरण का आंदोलन सामाजिक दायरे से निकलकर साहित्यिक सीमा में प्रवेश कर रहा था; चाँद और माधुरी जैसी अनेक पत्रिकाएँ नारी जागृति का संदेश घर-घर पहुँचा रही थीं, उस समय प्रेमचंद एक पुरुष होने के बावजूद इस नवीन चेतना के संवाहक के रूप में नारी मुक्ति को साकार रूप देने में जुटे थे। अपने साहित्य के माध्यम से वे नारी जागृति के इस आंदोलन को गति प्रदान कर रहे थे।

प्रेमचंद युग प्रवर्तक साहित्यकार रहे हैं। उन्होंने भारतीय समाज की पृष्ठभूमि पर अपने समकालीन समाज का निर्माण किया। प्रेमचंद जानते थे कि नारी मुक्ति का प्रश्न बहुआयामी एवं जटिल है क्योंकि वह किसी वर्ग विशेष की मुक्ति से सम्बद्ध नहीं है। इसकी जड़ें तो सामाजिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों की गहराई में दृढ़तापूर्वक जमी हैं। इसलिए सामाजिक सोच में बदलाव लाए बिना नारी मुक्ति संभव नहीं है। साथ ही, स्त्रियों को दो मोर्चों पर एकसाथ लड़ना होगा। एक ओर उसे अपने अधिकारों की खातिर पुरुष वर्चस्व से टक्कर लेनी होगी तो दूसरी ओर उसे स्वयं अपने आप से, अपनी मानसिक गुलामी तथा जड़ संस्कारों से, अपनी रूढ़ संस्कार-बद्धता से जूझना होगा। उससे मुक्त हुए बिना नारी की वास्तविक मुक्ति संभव नहीं।

प्रेमचंद से पूर्व स्त्रियाँ साहित्य में प्रायः भोग-विलास की वस्तु अथवा पुरुषों की संपत्ति के रूप में चित्रित होती थीं। किंतु प्रेमचंद ने स्त्रियों को एक व्यक्ति के रूप में स्वीकारा। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से नारी पर हो रहे अत्याचारों के लिए उत्तरदायी रूढ़ियों और मान्यताओं पर निर्मम प्रहार किया। नारी का शोषण करने वाली, उसे पुरुषों से हीन समझने वाली पुरुषवादी मानसिकता की कटु आलोचना की। पुरुष वर्चस्व को चुनौती देते हुए प्रेमचंद स्त्री को पुरुष की तुलना में कई मायनों में श्रेष्ठ बताते हैं, “स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है जितना प्रकाश अंधेरे से।”¹ उनका मानना था कि, “पुरुष में थोड़ी-सी पशुता होती है, जिसे वह इरादा करके भी हटा नहीं सकता। वही पशुता उसे पुरुष बनाती है। विकास के क्रम में वही स्त्री से पीछे है। जिस दिन वह पूर्ण विकास को पहुँचेगा, वह भी स्त्री हो जायगा। वात्सल्य, स्नेह, कोमलता, दया इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है। और ये स्त्रियों के गुण हैं।”² नारी के इस सबल पक्ष पर प्रकाश डालते हुए वे खेद प्रकट करते हैं कि, “स्त्रियों को संसार अबला कहता है। कितनी बड़ी मूर्खता है। मनुष्य जिस वस्तु को प्राणों से भी प्रिय समझता है, वह स्त्री की मुट्ठी में है।”³

दरअसल प्रेमचंद अपने युगगत गाँधीवादी लहर में आकंठ डूबे हुए थे। प्रेमचंद गाँधीवादी जीवन-मूल्यों पर विश्वास रखते थे और गाँधी नारी की अदम्य शक्ति के सम्पूर्ण विकास के पक्षधर थे जीवन के हर क्षेत्र में उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने के लिए नारी का उन्होंने आह्वाहन किया और नारी ने भी उस आह्वाहन को प्रचंड प्रमाण में दाद दी। प्रेमचंद के साहित्य की स्त्री ‘कर्मभूमि’ में उतरकर पुरुष के कंधे-से-कंधा मिलाकर देश की आजादी के लिए संघर्ष करती है; उसे ‘गबन’ कर लाए गए पैसों से अपने पति की भेंट में मिला चन्द्रहार स्वीकृत नहीं है, वो एक गरीब किसान के दुःख-दर्द की सहभागी बन अपना पतिव्रता धर्म भी निभाती है। वो ‘बड़े घर की बेटी’ भी है और उस सारे पुरुष वर्चस्व वाले परिवार में मानो अकेली मानवीय गुणों से संयुक्त है। वो मजबूरियों में पड़े अपने परिवार के लिए समाज के सामंत वर्ग से बिना डरे ‘ठाकुर के कुँए’ पर जाकर तत्कालीन व्यवस्था को चुनौती देती है और कभी एक माँ बनकर अपने बच्चे के लिए खुद की जान भी लुटा देती है। प्रेमचंद ने नारी जीवन के प्रत्येक पक्ष को, उनकी प्रत्येक विषमता को, समस्या को, उनके चरित्र के प्रत्येक पहलू को चित्रित किया। चाहे त्याग, साहस, करुणा और सहनशीलता जैसे मानवीय गुण हों या अंधविश्वास, ईर्ष्या, द्वेष, धर्मभीरुता जैसे दुर्बल पक्ष सभी प्रेमचंद के यहाँ चित्रित हैं। नारी जीवन के अंधेरे पक्षों पर भी जब वह बात करते हैं तो उसे भी स्त्री-पुरुष के व्यक्तिपरक धरातल की जगह स्वतंत्रता आंदोलन और स्वाधीनता जागरण से जोड़कर एक बृहतर आयाम में ढाल देते हैं। ‘कर्मभूमि’ की सुखदा हरिजनों के मन्दिर प्रवेश आंदोलन का नेतृत्व करती हुई जेल जाती है। सुखदा की तरह ही सकीना, मुन्नी, बुढ़िया पठानिन, रेणुका देवी आदि स्त्रियाँ भी अंग्रेजी हुकूमत का विरोध करती हुई जेल जाती हैं। नैना तो जुलूस का नेतृत्व करते हुए शहीद ही हो जाती है। यहाँ नारी बलिदान और त्याग की एक और मंजिल पार करती हुई नजर आती है। वे स्त्री की स्थिति के प्रति इतने अधिक चिंतित रहते थे कि वे मानने लगे थे कि जिन स्त्रियों का अपना व्यक्तित्व, आदर्श, उत्साह नहीं उन्हें विवाह कर लेना चाहिए जबकि जो स्त्रियाँ विचारशील, कीर्ति, प्रतिष्ठा की आकांक्षी हैं उन्हें अविवाहित ही रहना चाहिए। तभी तो ‘गोदान’ की मालती देश और समाज के लिए, मानव कल्याण में अपनी शक्ति का उपयोग करने के लिए आजीवन अविवाहित रहने का व्रत लेती है।

1919 से 1929 के सत्याग्रहों में स्त्रियों ने पूरे उत्साह के साथ भाग लिया। जिसे प्रेमचंद ने अपने नारी चरित्रों द्वारा प्रदर्शित करने की कोशिश की। उन्होंने स्त्रियों में आने वाली इस नवीन राष्ट्रीय और राजनीतिक चेतना का स्वागत किया। साथ ही ‘नारी जाति के अधिकार’ (1931) शीर्षक लेख में भारत में नारी शक्ति के पूजन की परंपरा का स्मरण कराते हुए लिखा, “भारत अपनी माताओं का सदैव भक्त रहा है। मातृ पूजा उसके धर्म का एक मुख्य अंग है। क्या आज अपनी माताओं द्वारा विजयी होकर वह नारी जाति के स्वत्व को स्वीकार न करेगा?

... इस एक वर्ष के सत्याग्रह संग्राम ने सिद्ध किया कि भारत की देवियाँ अब भी धर्म और कर्तव्य की वेदी पर अपने को होम कर सकती हैं। यदि पुरुषों को अब भी उन पर शासन करने का उन्माद हो तो उसे शीघ्र ही दूर कर लेना चाहिए, क्योंकि वे चाहे दें या न दें, देवियाँ अपना स्वत्व लेकर रहेंगी। उन्हें हर एक विषय में पुरुषों के समान अधिकार होना चाहिए और इसका निर्णय देवियों पर ही छोड़ देना चाहिए कि वे अपने हितार्थ जो चाहे स्वत्व ले लें।”⁴ राष्ट्रव्यापी आंदोलनों के समय जब स्त्री चेतना विकासोन्मुख अवस्था में थी और स्त्रियों ने इन आंदोलनों में अपनी सक्रिय सहभागिता दर्ज करानी शुरू की तो प्रेमचंद “भारतीय महिलाओं में नवीन जाग्रति” (1932 ई.) शीर्षक टिप्पणी में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखते हैं, “भारतीय महिलाओं ने अपने कार्यक्रम से सिद्ध कर दिया है कि वे समाज के क्षेत्र में पुरुषों से कितनी आगे निकल गई हैं। विशेषकर जिन बंधनों से पुरुषों ने उन्हें जकड़ रखा था और ये उन पर शासन करते थे, उन बेड़ियों को तोड़ फेकने के लिए वे बहुत विकल हो रही हैं।”⁵

प्रेमचंद नारी की अपनी निजी अस्मिता और अधिकारों के प्रति आजीवन सचेष्ट रहे। उनके समय में नारी दोहरी दासता की शिकार थी। उसका न तो पारिवारिक संपत्ति में कोई हक था और न ही वह स्वयं अपनी जीविका अर्जित कर सकती थी। प्रायः लड़कियाँ शिक्षा से वंचित थीं। स्त्री का घर में स्थान गृहिणी के रूप में था और घर के बाहर वेश्या के कोठे पर। विधवा-विवाह, दहेज-प्रथा, अनमेल-विवाह, तलाक, नारी-स्वातंत्र्य जैसी विविध समस्याएँ नारियों के जीवन को नारकीय बना चुकी थी। नारी या तो घुट-घुट कर जीने को विवश थी; जैसे, निर्मला। या फिर वेश्या-जीवन अपनाना पड़ता था; जैसे, सुमन। एक बार वेश्यालय की राह पकड़ लेने पर नारी को पुनः सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलती थी। ‘सेवासदन’ जैसे उपन्यास और ‘वेश्या’, ‘दो कब्रें’, ‘नरक का मार्ग’, ‘एक्ट्रेस’ आदि कहानियाँ इसी समस्या का यथार्थ अंकन हैं। प्रेमचंद स्त्री स्वतंत्रता के पक्षधर थे। स्त्री को एक चेतन प्राणी मानते हुए उनके मानवीय अधिकारों की बात करते हैं। ‘नैराश्य लीला’ की नायिका कैलाशी का यह कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है, “कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझसे क्या चाहता है! मुझमें जीव है, चेतन है, जड़ क्यों कर बन जाऊँ। मुझसे यह नहीं हो सकता कि अपने को अभागिन, दुखिया, समझूँ और एक टुकड़ा रोटी खाकर पड़ी रहूँ मैं अपने आत्म-सम्मान की रक्षा आप ही कर सकती हूँ। मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाये, नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिए घूमता रहे कि किसी खेत में न जा पड़े। यह दशा मेरे लिए असहाय है।”⁶

प्रेमचंद समाज में नारी की स्थिति से पूर्णतः असंतुष्ट थे। तत्कालीन समाज सुधारकों ने नारी को जो दर्जा समाज में दिलाने का प्रयास किया था उसके अंतर्गत बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा समस्या, अनमेल विवाह, नारी शिक्षा जैसी समसामयिक समस्याओं को प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में बड़ी गंभीरता से उठाया। ‘एक आँच की कसर’, ‘उद्धार’, ‘सज्जनता का दण्ड’, ‘विद्रोही’ जैसी कहानियों में वे दहेज-प्रथा की भयावहता को स्पष्ट करते हैं। प्रेमचंद लिखते हैं, “हिंदू समाज की वैवाहिक प्रथा इतनी भयंकर हो गई है कि कुछ समझ में नहीं आता, उसका सुधार क्योंकर हो। विरले ही ऐसे माता-पिता होंगे, जिनके सात पुत्रों के बाद भी एक कन्या उत्पन्न हो जाए, तो वह सहर्ष उसका स्वागत करें। कन्या का जन्म होते ही उसके विवाह की चिन्ता सर पर सवार हो जाती है और आदमी उसी में डुबकियाँ खाने लगता है। अवस्था इतनी निराशामय और भयानक हो गई है कि ऐसे माता-पिताओं की कमी नहीं है जो कन्या की मृत्यु पर हृदय से प्रसन्न होते हैं, मानो सर से बला टली। इसका कारण केवल यही है कि दहेज की दर दिन-दूनी रात चौगुनी, पावस-काल के जल-वेग के समान बढ़ती चली जा रही है।”⁷ समाज सुधार का ढोंग करने वाले कई लोग स्वयं समय आने पर चोरी छिपे दहेज लेते थे। ऐसे प्रपंची समाज-सुधारक के संबंध में प्रेमचंद ‘एक आँच की कसर’ कहानी में लिखते हैं, “साहब हमें दहेज से सख्त नफरत है। यह मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है पर करूँ क्या बच्चे की अम्मीजान नहीं मानती।”⁸

दहेज न देने के कारण कई सारी लड़कियों का विवाह योग्य वर से नहीं हो पाता था। धनाभाव के कारण अधिकतर माता-पिता लाचार होकर दोहाजू, वृद्ध आदि के गले अपनी लड़कियों को बाँध देते थे। अनमेल विवाह और उसके भयानक दुष्परिणामों के बारे में प्रेमचंद ने 'तथ्य', 'भूत', 'नरक' का मार्ग, 'निर्मला' आदि में विस्तृत वर्णन किया है। अनमेल विवाह का परिणाम था- पतियों की मृत्यु और आजीवन नारी के लिए कष्टमय वैधव्य जीवन। 'प्रेम की होली' की गंगी चौदह वर्ष की अवस्था में विधवा हो जाती है। 'धक्कार' की मानी सोलह वर्ष में। 'नैराश्य लीला' की बाल-विधवा कैलासी के प्रत्येक कार्य को समाज संदेह की दृष्टि से देखता है और सामाजिक विधान के अनुसार उसे घुट-घुट कर जीवन लीला समाप्त करनी है। इस तरह विधवाओं की सामाजिक दशा अच्छी नहीं थी। 'धक्कार' की विधवा मानी का पुनर्विवाह होता भी है तो उसे सामाजिक भर्त्सना का शिकार होना पड़ता है और अंततः वह आत्महत्या कर लेती है। इस तरह प्रेमचंद अपनी रचनाओं के माध्यम से यह दिखाते हैं कि उस समय के समाज में विधवा-विवाह को प्रोत्साहन नहीं मिलता था।

नारी समाज के प्रति प्रेमचंद की स्नेहमय और सहानुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति सर्वविदित है। अतएव उन्होंने इनसे सम्बद्ध समस्याओं के लिए समाज को ही कठघरे में खड़ा करना चाहा है, व्यक्ति को नहीं। प्रेमचंद के प्रायः स्त्री पात्र सामाजिक समस्या लेकर अवतरित हुए हैं। इसलिए पथभ्रष्ट नारी दया का पात्र बनती है, घृणा का नहीं। वह पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं, जो कि सुधारा जा सकता है। वह प्रत्यक्ष रूप से समाज सुधार की भावना से अनुप्राणित दिखाई देते हैं। स्त्री जाति के प्रति उदार दृष्टिकोण रखने वाले प्रेमचंद सतीत्व और पवित्रता को ही नारी जीवन का आधार मानते हैं। उनका मानना था कि यदि नारी चरित्र से विघटित होती है तो उसके पीछे कुछ कारण होते हैं- पारिवारिक विघटन, धन का अभाव, पुरुषों की स्वार्थवृत्ति आदि। स्त्री के वेश्या रूप का वे चित्रण करते हैं। उनका मानना था कि नारी अपने मन से वेश्या नहीं बनती। बल्कि उसमें परिवार और समाज किसी-न-किसी रूप में दोषी अवश्य होते हैं। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में नारी को जहाँ भी पथभ्रष्ट दिखाया है वहाँ उन नारियों को उन्होंने घोर यंत्रणा सहते दिखाया है। प्रेमचंद की चिंतनधारा के अनुसार चाहे पत्नी हो या वेश्या, पुरुष समाज उसका भावनात्मक और शारीरिक शोषण करके अन्ततः उसके साथ छल करता है। 'वेश्या' कहानी में वेश्यागामी सिंगार सिंह से माधुरी का यह सवाल पूरे कुलीन समाज से पूछा गया है- "क्या वह नारी है? क्या नारीत्व के पवित्र मंदिर में उसका स्थान नहीं है? लेकिन तुम उसे उस मंदिर में घुसने नहीं देते। उसके स्पर्श से मंदिर की प्रतिमा भ्रष्ट हो जाएगी।"⁹ माधुरी यह भी जानना चाहती है कि क्या "तुम अपनी बहन या स्त्री को इस रूप में बाजार में बैठने दोगे?"¹⁰

अपने कथा साहित्य के जरिए प्रेमचंद स्त्री-विमर्श के प्रश्न को सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी आयामों पर उठाते हैं। नारी के प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण एवं व्यवहार के द्वैत को प्रेमचंद ने अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने अपने साहित्य में नारी मुक्ति की कामना करने वाले पुरुषों के प्रति लोलुपता का पर्दाफाश भी किया है। अपने ही परिवार की स्त्रियों के प्रति हमारे व्यवहार और संबंध से ही हमारी वास्तविक प्रगतिशीलता का प्रमाण मिलता है। नारी मुक्ति के कई उद्घोषक अपनी ही पत्नी और बहन को वह आजादी नहीं देते जिसे वे दूसरे परिवारों की स्त्रियों के लिए अपेक्षित मानते हैं। स्त्री पराधीनता को 'कुसुम' कहानी में इन शब्दों में रेखांकित करते हैं, "आदिकाल में स्त्री पुरुष की उसी तरह सम्पत्ति थी, जैसे गाय, बैल या खेतीबारी। पुरुष को अधिकार था, स्त्री को बेचे, गिरवी रखे या मार डाले। विवाह की प्रथा उस समय केवल यह थी कि वर पक्ष अपने सूर-सामंतों को लेकर सशस्त्र आता था और जो कुछ उसके हाथ लग जाता था, उसे भी उठा ले जाता था। वह स्त्री को अपने घर ले जाकर, उसके पैरों में बेड़ियाँ डालकर घर के अन्दर बन्द कर देता था। उसके आत्मसम्मान के भावों को मिटाने के लिए यह उपदेश दिया जाता था कि पुरुष ही उसका देवता है, सोहाग स्त्री की सबसे बड़ी विभूति है। आज कई हजार वर्षों के बीतने पर भी पुरुष के उस मनोभाव

में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पुरानी सभी प्रथाएँ कुछ विकृत या संस्कृति के रूप में मौजूद हैं।”¹¹

इस समय देश के सामाजिक और राजनीतिक गलियारों में स्त्री विमर्श की बातें चहुँओर हैं। नारी अस्मिता तथा समाज में उसकी दावेदारी का जो प्रश्न आज बहस का एक अहम मुद्दा बना हुआ है, भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान वह पृष्ठभूमि में था। ऐसे समय में प्रेमचंद हिन्दी के वह पहले लेखक रहे जिन्होंने नारी समस्या की जटिलता को समझकर समाज के रूढ़िवादी पितृसत्तात्मक ढाँचे को खुलेआम चुनौती देते हुए उस भारतीय पारंपरिक परिवार व्यवस्था पर चोट की, जिसके अंतर्गत नारी पग-पग पर तिरस्कृत हो अपमान के कड़वे घूँट पीने को बाध्य थी।

प्रेमचंद भारतीय नारी की दीन-हीन दशा का सबसे प्रमुख कारण उसकी आर्थिक पराधीनता को मानते थे। उनका मानना था कि पुरुषों के वर्चस्व वाले इस समाज में नारी को शोषण, अत्याचार तथा अन्याय से मुक्ति उसी समय मिल सकती है जब वह शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो। इसी तथ्य को उन्होंने अपने उपन्यासों ‘सेवासदन’ तथा ‘निर्मला’ में रेखांकित किया है। ‘सेवासदन’ में आर्थिक कारणों से ही सुमन का विवाह अधेड़ आयु के गजाधर के साथ कर दिया जाता है जो सुमन के पतन का कारण बनता है। वह अपने पति की संकीर्ण मनोवृत्ति से तंग आकर अपने नारी मूल्यों का विघटन कर वेश्या बन बैठती है। इसी प्रकार ‘निर्मला’ में दयनीय आर्थिक परिस्थितियों के कारण निर्मला का विवाह उसके पिता की आयु वाले तीन बच्चों के पिता मुंशी तोताराम से कर दिया जाता है जो एक जीवन के कारुणिक अंत का कारण बनता है। पति की मृत्यु के पश्चात आर्थिक स्तर पर पत्नी की विषम परिस्थितियों को प्रेमचंद ने ‘वरदान’ में सुवामा, विरजन, ‘निर्मला’ में उदयभानु की पत्नी, ‘प्रतिज्ञा’ में पूर्णा और ‘गबन’ में रतन के माध्यम से अत्यंत मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। ‘बेटों वाली विधवा’ में पति के मरने के बाद स्त्री का अपने लड़कों द्वारा जिस तरह अपमान होता है, उसके मूल में स्त्री की आर्थिक परावलंबता ही है। प्रेमचंद लिखते हैं- “फूलमती अपने कमरे में जाकर लेटी, तो उसे मालूम हुआ, उसकी कमर टूट गयी है। पति के मरते ही अपने पेट के लड़के उसके शत्रु हो जाएँगे, उसको स्वप्न में भी गुमान न था। जिन लड़कों को उसने अपना हृदय-रक्त पिला-पिलाकर पाला, वही आज उसके हृदय पर यों आघात कर रहे हैं। अब वह घर उसे काँटों की सेज हो रहा था। जहाँ उसकी कुछ कद्र नहीं, कुछ गिनती नहीं, वहाँ अनाथों की भाँति पड़ी रोटियाँ खाये, यह उसकी अभिमानी प्रकृति के लिए असह्य था।”¹²

इस तरह ‘कुसुम’ कहानी में नायिका कुसुम द्वारा किया हुआ स्त्री-पुरुष संबंधों का आर्थिक विश्लेषण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसके द्वारा प्रेमचंद ने स्त्री-शोषण का सही ऐतिहासिक विश्लेषण किया है। कुसुम के चार पत्रों को पढ़ने के बाद लेखक का हृदय छलछला उठता है। वह कुसुम के जीवन की त्रासदी से मर्माहत होकर लिखता है- “हम आज जिसे स्त्री-पुरुष में प्रेम कहते हैं, वह वही प्रेमी है, जो स्वामी को अपने पशु से होता है। पशु सिर झुकाए काम किए चला जाए, स्वामी उसे भूसा और खली भी देगा, उसकी देह भी सहलाएगा, उसे आभूषण भी पहनाएगा लेकिन जानवर ने जरा चाल धीमी की, गर्दन टेढ़ी की, मालिक का चाबुक पीठ पर पड़ा। इसे प्रेम नहीं कहते।”¹³ स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न प्रेमचंद अपने लेखों के माध्यम से भी उठाते हैं, “पुरुषों ने स्त्रियों को इतना सताया है कि अब वे माताएँ और गृहिणी न बनकर आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने पर तुली हैं। अगर पुरुष बच्चे पालना और खाना बनाना नहीं जानते तो स्त्री क्यों सीखे। वह खाना क्यों पकाये वकालत क्यों न करे, अध्यापिका क्यों न बने।”¹⁴ इसी प्रकार जनवरी 1931 ई. में लिखे एक लेख में हरिविलास शारदा के उस नये कानून का जिसके अंतर्गत महिलाओं का अपने पति की सम्पत्ति पर अधिकार सुनिश्चित हुआ, स्वागत करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं- “विधवाओं को अपने स्वर्गारोही पति की जायदाद पर अधिकार दिलाने का जो बिल मि. शारदा पेश करने जा रहे हैं उससे एक बड़े भारी सामाजिक

अन्याय का परिशोध होगा। हिन्दू समाज ने अपनी देवियों के साथ बहुत जुल्म किया और अब उसे इस जुल्म की जड़ खोदने में विलम्ब न करना चाहिए।”

नारी की स्वाधीनता और व्यक्तित्व के विकास के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता को प्रेमचंद महत्वपूर्ण मानते हैं, इसलिए स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता का स्वर उनके साहित्य में ज्यादा मुखर रूप से सुनाई देता है।

गोदान में धनिया, झुनिया तथा गोदावरी के माध्यम से प्रेमचंद ने नारी की आर्थिक चेतना को रेखांकित किया है। एक स्थान पर धनिया होरी को चेतावनी देती है, “तू समझता होगा, मैं इसे रोटी कपड़ा देता हूँ। आज से अपना घर सँभाल देख तो इसी गाँव में तेरी छाती पर मूँग दल कर रहती हूँ कि नहीं और उससे अच्छा खाऊँ पहनूँगी। इच्छा हो तो देख लो।”¹⁵ इसी प्रकार आर्थिक परवशता का जुआ उतार फेंकने को आतुर गोविन्दी सोचती है, “वह अब किसी के अधीन नहीं है वह अपनी गुजर भर के लिए कमा सकती है। दस बीस रुपये कमा लेना ऐसा क्या मुश्किल है। अपने पसीने की कमाई तो खाऊँगी। फिर तो कोई मुझ पर रोब न जाएगा। यह महाशय तो इसलिए इतना मिजाज करते हैं कि वह मेरा पालन करते हैं। मैं अब खुद अपना पालन करूँगी।”¹⁶

आर्थिक स्वावलंबन की इस पृष्ठभूमि में प्रेमचंद ने स्त्री-शिक्षा के महत्व पर जोर दिया है। नारी के सम्पूर्ण विकास के लिए वे स्त्री-शिक्षा को अत्यधिक महत्व देते हैं। स्त्री-शिक्षा को वे स्त्री मुक्ति की चाभी मानते हैं। उनका मानना था कि इसके अभाव में न वह अपने अस्तित्व का बोध कर सकेगी और न ही अपने अधिकारों की रक्षा कर पाएगी। उनके स्त्री संबंधी विचारों को उनकी धर्मपत्नी शिवरानी देवी व्यक्त करती हैं, “जब तक सब स्त्रियाँ शिक्षित नहीं होंगी और सब कानून-अधिकार उनको बराबर न मिल जायेंगे, तब तक महज बराबर काम करने से भी काम नहीं चलेगा।”¹⁷ कानूनी अधिकारों के अभाव में पुरुष उसकी कमाई ऐंठता रहेगा, शिक्षा के अभाव में वह अपने प्राप्त अधिकारों की भी सुरक्षा नहीं कर पाएगी। इसलिए प्रेमचंद स्त्री के लिए अनिवार्य शिक्षा के पक्षपाती हैं। ‘गबन’ उपन्यास में वह रतन के पति पं. इन्द्रभूषण से प्रश्न करवाते हैं, “आपके बोर्ड में लड़कियों की अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव कब पास होगा? जब तक स्त्रियों की शिक्षा का काफी प्रचार न होगा, हमारा कभी उद्धार नहीं होगा।”¹⁸ इसी प्रकार ‘गोदान’ में ‘वीमेन्स लीग’ के समारोह में प्रो. मेहता ने जो भाषण दिया, उसमें भी उन्होंने स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया है। वे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के लिए शिक्षा को अधिक उपयोगी समझते हैं। लेकिन स्त्री के लिए जिस शिक्षा की अनिवार्यता का वे पक्ष-पोषण करते हैं, उनकी दृष्टि में वह ऐसी होनी चाहिए जो स्त्रियों में उदात्त भावों की स्थापना कर सके। उनके अनुसार आपकी विद्या और आपके अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है।”¹⁹ प्रेमचंद के विचार में स्त्रियाँ शिक्षा के बल पर सशक्त बन सकती हैं। उन्होंने फरवरी 1931 में अपने लेख में स्त्री अधिकारों पर लिखा है, “पुरुषों ने नारी जाति के स्वत्वों का अपहरण करना शुरू किया लेकिन राष्ट्रीयता और सुबुद्धि की जो लहर इस समय आई हुई है, वह इन तमाम भेदों को मिटा देगी और एक बार फिर हमारी माताएँ उसी ऊँचे पद पर आरूढ़ होंगी, जो उनका हक है।”²⁰ शिक्षा के संदर्भ में प्रो. मेहता के माध्यम से वे कहते हैं, “नहीं कहता देवियों को विद्या की जरूरत नहीं है। है और पुरुषों से अधिक।”²¹ प्रेमचंद अनिवार्य शिक्षा के साथ-साथ समानाधिकारों के प्रस्तावों का सदैव अनुमोदन करते हैं। शारदा बिल के प्रस्तावक श्री हरबिलास शारदा को उन्होंने लिखा था, “आपका यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा, करोड़ों महिलाएँ आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी सदैव कृतज्ञ रहेंगी। उन्हीं के साथ मैं भी आपका कृतज्ञ हूँ।”²²

प्रायः नारी विषयक दृष्टि अंतर्विरोधों का शिकार होती है। प्रेमचंद में भी ये अंतर्विरोध मौजूद थे, जिसकी अभिव्यक्ति उनके साहित्य में हुई है। किन्तु इन अंतर्विरोधों के बावजूद उनकी नारी विषयक दृष्टि में निरंतर परिवर्तन हुआ है और जीवन के दूसरे क्षेत्रों की तरह यहाँ भी उनकी दृष्टि प्रगतिशीलता की ओर उन्मुख है। लेकिन इन अंतर्विरोधों को जाने-समझे बिना प्रेमचंद के नारी-चरित्रों को नहीं समझा जा सकता और न ही उनके

नारी-संबंधी दृष्टिकोण को। प्रेमचंद के 'सेवासदन' की सुमन आरंभ में कितनी तेजस्विनी है, उसके मन में पुरुष-समाज के प्रति विद्रोह की भावना भरी हुई है, पर अंत में वह परंपरागत आदर्शों की बलि चढ़ जाती है। 'रंगभूमि' की सोफिया, 'गबन' की जालपा, 'कर्मभूमि' की सुखदा और 'गोदान' की मालती जैसी सतेज और विद्रोहिणी नारियाँ भी अंततः परंपरागत आदर्शों की शिकार हो जाती हैं। आश्चर्य होता है जब प्रेमचंद 'प्रेमा' में 1907 में विधवा-विवाह का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण करने के बाद अपने परवर्ती उपन्यासों में इससे बचते रहे। जबकि वे विधवा-विवाह के प्रबल समर्थक ही नहीं थे बल्कि स्वयं भी उन्होंने एक विधवा से विवाह किया था। 'प्रेमा' के रूपांतरण 'प्रतिज्ञा' में उन्होंने विधवा विवाह वाले प्रसंग को निकाल दिया। लेकिन 'गोदान' में गोबर और झुनिया के विवाह में तो कोई क्रांतिकारिता नहीं है, किंतु सिलिया और मातादीन के विवाह में प्रेमचंद एक सामाजिक क्रांति की ओर बढ़ते अवश्य दिखाई देते हैं। प्रेमचंद अपनी कई रचनाओं में अपने समय की सीमा को लाँघते नजर आते हैं। इस संदर्भ में प्रेमचंद की 'बालक' कहानी उल्लेखनीय है। 'बालक' कहानी की नायिका गोमती को गंगू (जो मामूली नौकर है) यह जानते हुए अपनाता है कि गोमती की कोख में जो बच्चा है वह उससे नहीं है। गंगू जो अनपढ़, गरीब एवं मामूली आदमी है, एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है जो प्रेमचंद की प्रगतिशील एवं मानवतावादी दृष्टिकोण का सही प्रतिनिधित्व करता है। गंगू-गोमती से कहता है, "मैंने तुमसे इसलिए विवाह नहीं किया कि तुम देवी हो, बल्कि इसलिए के मैं तुम्हें चाहता था और सोचता था कि तुम भी मुझे चाहती हो। यह बच्चा मेरा बच्चा है। मैंने एक बोया हुआ खेत लिया, तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था।"²³ यहाँ प्रेमचंद परंपरागत रूप से चली आ रही नारी के प्रति पवित्रतावादी दृष्टिकोण का खंडन करते हैं। यह एक बड़ी बात है। प्रेमचंद को आमतौर पर परंपरागत भारतीय नारी का आदर्श प्रस्तुत करनेवाला रचनाकार माना जाता है, पर ऐसा नहीं है। उनके अधिकतर नारी पात्र अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं। यह सही है कि उत्पादन से सीधे जुड़ी श्रमजीवी महिलाएँ ज्यादा 'बोल्ड' हैं। मध्यवर्गीय स्त्रियों में इतना दमखम नहीं है पर वे भी बाद में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए प्रतिबद्ध दिखती हैं। प्रेमचंद की स्वाधीनता आंदोलन की कहानियों में भी महिलाएँ ही आगे हैं। दलितों में भी विद्रोह की मशाल महिलाओं के हाथ में ही है।

इस तरह प्रेमचंद की रचनाशीलता में स्त्री अपनी जिंदगी से जुड़े सारे अहम सवालों के साथ आती है और भरपूर लेखकीय संवेदना भी पाती है। उनकी रचनाएँ स्त्रियों के मन में झाँकने की पूरी कोशिश करती है और उन्हें अलग व्यक्ति के रूप में समझने की चेष्टा भी करती हैं। निःसंदेह उनकी नारी विषयक दृष्टि में अंतर्विरोध भी हैं और उनकी सीमाएँ भी। किंतु यह सीमा सिर्फ प्रेमचंद की ही नहीं उस युग की भी थी क्योंकि तब क्रांति का ब्लूप्रिंट पेश करना संभव न था। अतः ऐसे समय में प्रेमचंद ने इस पुरुषसत्तात्मक समाज में नारी के अस्तित्व, उसकी अस्मिता, आत्मसम्मान और उसके समानाधिकार, कुल मिलाकर स्त्री-मुक्ति की चेतना के प्रश्न को जिस निर्भीकता से उठाया वह निश्चय ही क्रांतिकारी है।

संदर्भ :

1. प्रेमचंद, 'गोदान', अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्करण : 2013, पृ. 142
2. प्रेमचंद, 'कर्मभूमि', अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्करण : 2012, पृ. 140
3. वही, पृ. 170
4. प्रेमचंद, 'नारी-जाति के अधिकार', शीर्षक लेख, सम्पा./हंस, फरवरी 1931 में प्रकाशित, पृ. 249-50 पर संकलित।
5. प्रेमचंद, 'भारतीय महिलाओं में नवीन जागृति' की टिप्पणी, सम्पा./हंस, दिसंबर 1932 में प्रकाशित, पृ. 253-54

पर संकलित।

6. मानसरोवर, भाग-3, 'नैराश्य-लीला', डायमंड पॉकेट बुक्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, संस्करण : 2007, पृ. 41-42
7. मानसरोवर, भाग-3, 'उद्धार', पृ. 24
8. मानसरोवर, भाग-3, 'एक आँच की कसर', पृ. 59
9. मानसरोवर, भाग-2, 'वेश्या', पृ. 33
10. मानसरोवर, भाग-2, 'वेश्या', पृ. 32
11. मानसरोवर, भाग-2, 'कुसुम', पृ. 10
12. मानसरोवर, भाग-1, 'बेटों वाली विधवा', पृ. 69
13. मानसरोवर, भाग-2, कुसुम, पृ. 9
14. प्रेमचंद, 'विविध-प्रसंग', भाग-3, 'महिला जगत' के अंतर्गत संकलित टिप्पणी से
15. प्रेमचंद, 'गोदान', पृ. 102
16. वही, पृ. 171
17. शिवरानी देवी प्रेमचंद, 'प्रेमचंद घर में', रोशनाई प्रकाशन, पश्चिम बंगाल, कोलकाता, प्रथम संस्करण, 2005, पृ. 184
18. प्रेमचंद, 'गबन' अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्करण : 2014, पृ. 72
19. प्रेमचंद, 'गोदान', पृ. 144
20. प्रेमचंद, 'नारी जाति के अधिकार' शीर्षक लेख से।
21. प्रेमचंद, 'गोदान', पृ. 144
22. शिवरानी देवी, 'प्रेमचंद घर में', पृ. 156-157
23. मानसरोवर, भाग-2, 'बालक', पृ. 142



दिव्या में स्त्री चेतना की अनुगूँज

○ जगमोहन सिंह

समय के साथ-साथ स्त्री जीवन की जटिलताएँ बढ़ी हैं। वर्तमान में स्त्रियों ने पुरानी मान्यताओं को धत्ता बताते हुए अपने आप को और क्रियान्वय किया है। 21वीं सदी की स्त्रियाँ समय से समझौता करने को तैयार नहीं हैं। वे समय के साथ चलने को अग्रसर हैं। साथ ही रुढ़िवादी परंपराओं से उन्होंने मुँह मोड़ा है। खेल में उन्होंने नया कृतिमान स्थापित किया है और यह बताया है कि शारीरिक शक्ति के समक्ष भी वह असहाय नहीं है। वर्तमान में कई जगह स्त्रियों की उपस्थिति उनकी असहनीयता को तुच्छ सिद्ध करती है। हाँलाकि, मार्ग में जटिलताएँ आई हैं, किन्तु हार मानने की प्रवृत्ति से उन्होंने मुँह फेर लिया है। यशपाल द्वारा रचित 'दिव्या' उपन्यास स्त्री-चेतना का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है। स्त्री की दशा-दुर्दशा को दर्शाते हुए यहाँ उसके तर्कपूर्ण वार्तालाप को दर्शाया गया है। स्त्री अपने अधिकार के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं है। तर्क के आधार पर उसमें निर्णय लेने की प्रवृत्ति विद्यमान है। वह दवाब में आकर कोई भी काम नहीं करना चाहती है। सबसे बढ़कर वह अपने अस्तित्व को लेकर जागरूक है। 'दिव्या' उपन्यास में कई ज्वलंत प्रश्नों की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। डॉ चंद्रकांत कहते हैं, "दिव्या की समस्या जिस तरह नारी की समस्या है, उसी तरह दिव्या का संघर्ष व्यक्ति से अधिक वर्ण और धर्म से अधिक है।" व्यक्ति वर्ण और धर्म के मोह-पास में आजीवन बंधा रहता है। दिव्या इस वर्ण और धर्म के मोह-पास में बंधी, छटपटाती मुक्त होने का भरसक प्रयास करती है, किन्तु इतना सहज नहीं है इस मोह-पास के बंधन से मुक्त होना। दिव्या सब कुछ सहते हुए, द्वीप की तरह प्रज्ज्वलित रहकर अपना प्राप्य चाहती है। अपने प्रकाश से जग को प्रज्ज्वलित कर व्यथा पाती है, परंतु अपनी आह से बाहरी जीवों को मर्मांतक अवस्था में नहीं देख सकती। यशपाल 'दिव्या' के माध्यम से कई प्रश्नों की पोटली पाठक के समक्ष खोलते हैं। निर्णय लेने की शक्ति का विकास वे पाठक के मष्तिष्क में ही चाहते हैं। दिव्या ही नहीं मल्लिका, सिरौ और रत्नप्रभा का आश्रय लेकर यशपाल ने स्त्री-चेतना की मिशाल प्रस्तुत की है। ऐतिहासिक कल्पना के आधार पर निर्मित 'दिव्या' उपन्यास में स्त्री-चेतना की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। 'दिव्या' उपन्यास में घटनाएँ काल्पनिक होकर भी यथार्थ के एकदम नजदीक है। कहना ना होगा कि यथार्थ से कहीं बढ़कर है। नवल किशोर यशपाल के महत्व को उद्घाटित करते हुए कहते हैं, "विचार की एक नयी दिशा अपने उपन्यासों के जरिये उन्होंने दी : उन्होंने हिंदी पाठक की चेतना को बड़ी दूर तक प्रभावित किया और उसकी धारणाओं को मानववादी अभिमुखदा दी।" ² 'दिव्या' उपन्यास में चित्रित प्रत्येक स्त्री का चरित्र जितना कल प्रासंगिक था उतना ही आज भी प्रासंगिक है। दृष्टिकोण में बदलाव के साथ विचारों की शृंखला में बदलाव की अपेक्षा अवश्य की जा सकती है। इसमें दो राय नहीं है।

'दिव्या' उपन्यास में प्रत्येक स्त्री पात्र स्व-निर्भर है या स्व-निर्भरता की दौड़ में प्रयासरत है। मल्लिका,

रत्नप्रभा, सिरो एवं स्वयं दिव्या समाज की खोखली मान्यताओं के समक्ष झुकती नहीं, बल्कि समाज से लोहा लेते हुए नव-निर्माण की ओर सचेष्ट रहती है। वे पितृसत्तात्मक समाज को धत्ता बताते हुए अपना प्राप्य चाहती हैं। इसी संदर्भ में राजीवलोचन नाथ शुक्ल की उक्ति है, “यशपाल नारी-स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर रहे हैं। वे नारी को सामाजिक चुनौतियों से सामना करने की प्रेरणा देते हैं।”³ पितृसत्तात्मक समाज से स्त्रियों का विद्रोह ‘दिव्या’ उपन्यास में जगह-जगह प्रस्फुटित हुआ है। ‘दिव्या’ उपन्यास में जहाँ परिस्थितियाँ प्रतिकूल दिखती हैं स्त्रियाँ समाज से लोहा लेते हुए परिस्थितियों को अनुकूल बनाने का सचेष्ट प्रयास करती हैं। समाज की यह कैसी व्यवस्था है? जहाँ स्त्रियों को हमेशा कमजोर समझा जाता है। उसे पर-निर्भर घोषित कर दिया जाता है। वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित सामंती समाज स्त्रियों को सम्मान और सुरक्षा तो दूर की बात उसे बेसहारा रहने पर मजबूर कर देता है और जब-तब स्त्रियों के समक्ष विकट परिस्थितियाँ उत्पन्न कर उसे चरित्रहीन कहने से भी नहीं चूकता। एक स्त्री स्वतंत्र होकर जीना चाहती है, किन्तु उसके अधिकार रूपी पंख को सामंती-समाज मरोड़ देता है। ‘दिव्या’ में सामंती-समाज के तले घुटती स्त्रियों की जिजीविषा को प्रकट किया गया है।

मल्लिका नृत्य की देवी, कला की अधिष्ठात्री को समय-समय पर समाज की कुठित विचारों तले दबना पड़ता है। वह हार नहीं मानती। वह अपनी कला को राष्ट्र के कोने-कोने में अपनी शिष्याओं के माध्यम से पहुँचाती है। यही नहीं शिष्याओं के मार्ग भटक जाने पर, समझाने से न समझने पर, उन्हें अपनी छत्रछाया से मुक्त कर देती है। वह कला की साधना संयम से करने पर बल देती है। कला का अपमान होता देख व्यथित होकर वह अपनी अपूर्व प्रिय शिष्या मादुलिका को प्रासाद छोड़ने के लिए कह देती है, “आचार्य, कला का इससे भीषण अपमान और क्या हो सकता है? मैंने प्रतिहारियों को आज्ञा दी, मादुलिका को प्रासाद से बहिष्कृत कर दें। आर्य ! अपने हाथों यत्न से पोषण कर, उसे कला के कठिन रहस्यों से अवगत करा कर मादुलिका को यों दूर कर देने का मुझे उतना ही दुःख है जितना अपने गर्भ की कन्या रुचिरा के वियोग का, परंतु आर्य, कला का अनादर मल्लिका नहीं सह सकती।”⁴

मल्लिका कला की अधिष्ठात्री देवी है। वह जानती है कि मानव के लिए कला का क्या महत्व है? वह कला को संरक्षित करने हेतु एक उत्तराधिकारी चाहती है, परंतु मल्लिका के पृथुसेन के प्रेम-पास में पड़ने और उच्छृंखल हो जाने के कारण उसे अपनी आश्रय से मुक्त कर देती है। वह रूद्रधीर के समक्ष कला के महत्व को उजागर करते हुए कहती है, “ज्ञानी आर्य जानते हैं, कला एक साधना है। जो साधना के लिए अपनी प्रवृत्तियों का दमन नहीं कर सकता, वह पूर्णता नहीं पा सकता। कला सूक्ष्म भावना द्वारा ही पोषित होती है। वह हीन जन के अधिकार की वस्तु नहीं।”⁵ मल्लिका कला के मर्म को समझती है। इसी कारण अपनी व्यथा को रोक नहीं पाती है। यह तथ्य विचारणीय है कि कला भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्राण है। सृष्टि के आदि से ही कला के महत्व को स्वीकारा गया है। कला भारतीय जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। यशपाल ‘दिव्या’ उपन्यास में कला का अदभुत दृश्य प्रस्तुत करते हैं तथा मल्लिका एवं दिव्या (अंशुमाला) के माध्यम से कला की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। जिस तरह चित्त का अव्यवस्थित रहने से कई विकार उत्पन्न हो जाते हैं उसी तरह कला अव्यवस्थित होकर नहीं, बल्कि व्यवस्थित होकर, साधना में नित प्रयासरत रहकर प्राप्त की जाती है। यशपाल मल्लिका का आश्रय लेकर कला और समाज का हराश इस तरह प्रस्तुत करते हैं, “कला व्यवस्थित चित्त की वस्तु है परंतु परिस्थितियों के कारण सागल में व्यवस्थित-चित्त कोई रह ही नहीं गया। कला के पोषक कुलवर्ग समाज से प्रताड़ित और संतप्त होकर विरक्ति का आश्रय ले बैठे हैं। आज सागल में शृगालों का राज्य है और सिंह अप्रतिभ होकर कन्दरा में छिप रहे हैं। समृद्धि और अधिकार के प्रयोग से अनभिज्ञ अकुलीन जन नये पाये सम्मान के उन्माद से विलास में लिप्त हैं। सूक्ष्म कला में उनकी गति कहाँ ? और जनमानस विलास के उस विकृत रूप से विरत होकर, भोग को केवल अनाचार का मूल जानकर, विरक्ति में शांति लाभ करने

की आशा से मुण्डीधर्म के निर्वाण की मिथ्या शांति में आश्रय ढूँढ़ता है।”⁶ यहाँ मल्लिका का दूरदर्शी होना स्पष्ट दृष्टव्य है। वह कला को किसी की अनुचर नहीं मानती। उसे सागल की चिंता है। सागल की चिंता अर्थात् राष्ट्र की चिंता ने उसके हृदय को विचलित किया हुआ है। वह कला की रक्षा के लिए निकल पड़ती है और देश भ्रमण करते हुए रत्नप्रभा के प्रासाद (मथुरापुरी) में पहुँच जाती है। वहाँ उसकी साध पूरी होती है। वह कला की देवी अंशुमाला को अपने उत्तराधिकारी के रूप में चुन लेती है।

सीरो ‘दिव्या’ उपन्यास की एक ऐसी पात्र है जिसके हृदय में आत्मसम्मान की भावना प्रबल है। वह पुरुष के आश्रय में रहना स्वीकार नहीं करती है। वह अपना संबल स्वयं है। पराश्रय की भावना से उसका हृदय कलुषित हो जाता है। कहीं-कहीं वह उच्छृंखल भी हो जाती है, जहाँ उसका चरित्र थोड़ा दब जाता है; हाँलाकि, स्त्री-विमर्श की दृष्टि से सीरो का महत्व कम नहीं है। सीरो पृथुसेन के आश्रय में बंधकर रहने से इनकार कर देती है। वह उन्मुक्त होकर जीना चाहती है। सीरो सदियों से चले आ रहे सामंती-समाज पर कुठाराघात करती है। सामंती-समाज स्त्रियों को सदैव पुरुषों के अधीन रखकर देखने का पक्षधर रहा है। सीरो स्त्री-चेतना, स्त्री स्वतंत्रता की ज्वलंत उदाहरण है। केवलमात्र पृथुसेन की अंगसेवा के लिए प्रस्तुत रहने से वह इनकार करती हुई कहती है, “मैं तुम्हारी क्रीतदासी नहीं हूँ। तुम मेरे आश्रित हो, मैं तुम्हारी आश्रित नहीं हूँ। मैं तुम्हारे पिंजरे में बद्ध सारिका भी नहीं हूँ। केवल तुम्हारी अंगसेवा के लिए दासी भी मैं नहीं हूँ। !.....तुम वेश्याओं से विलास नहीं करते ? कितनी दासियाँ तुम्हारी पर्यंक-सेवा के लिए हैं? भोग के भिन्न-भिन्न सुखों और रसों के लिए तुम्हें कितनी नारियाँ चाहिए ? मेरे लिए भी संसार में केवल तुम ही एक पुरुष नहीं हो ? तुम जैसे अनेक और तुमसे भी श्रेष्ठ अनेक ! मैं द्विज-कुल की पत्नी-दासी नहीं हूँ। मेरी धमनियों में यवन विजेता का रक्त है। मैं तुम्हारे वंश रथ की धुरी खींचने के लिए बछड़े उत्पन्न करने वाली गाय भी नहीं। यदि तुम मेरा अपमान करोगे, तो मेरे लिए विस्तृत जनसमाज है। तुम्हें सेनापति बना सकती हूँ तो दूसरों को भी महासेनापति बना सकती हूँ।”⁷ सीरो की यह ललकार कई प्रश्नों पर प्रहार करती है। वह पुरुषवादी विचारधारा पर कुठाराघात करते हुए यह जतलाना चाहती है कि स्त्री को असहाय समझकर उसपर अपना आधिपत्य जतलाने की प्रवृत्ति से अब पुरुषों को सतर्क रहना होगा। पुरुषों को अपनी मानसिकता बदलनी होगी। स्त्री केवल दासी, अनुचर या अनुगामी नहीं है, बल्कि उसमें भी निर्णय लेने की शक्ति है। स्त्री चाहे तो तख्ता पलटने का सामर्थ्य भी रखती है। सदियों से अपमान का घूँट पीकर रहने की प्रवृत्ति अब उसमें नहीं है। स्त्री निर्णय स्वयं ले सकती है। यही नहीं पृथुसेन के दिव्या और सीरो दोनों को अपना लेने के प्रस्ताव से वह तिलमिला उठती है और सर्पिणी की भाँति फुटकार कर कहती है, “आर्यों में स्त्री केवल भोग्य संपत्ति और दासी है। वह तो अपने प्रियतम को किसी के साथ बाँट नहीं सकती। वह तो अपने प्रियतम के हृदय की एकछत्र रानी और अन्तःपुर की एकमात्र स्वामिनी बनेगी।”⁸ सीरो का बहुपत्नी प्रथा के प्रति विरोध उचित ही है। वह भली-भाँति जानती है कि बहुपत्नी प्रथा की विकृतियाँ क्या हैं? कोई भी स्त्री अपने पति को मार्ग भटकता हुआ और बाँट कर नहीं देख सकती है। और जब पृथुसेन उसपर अपना आधिपत्य जतलाते हुए बात-बात पर टोकता है, तब वह विद्रोह कर देती है। स्त्री-चेतना की दृष्टि से सीरो का चरित्र महत्वपूर्ण है। सीरो की बेचैनी को वर्तमान आधुनिक स्त्री की बेचैनी के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ स्त्रियाँ अपनी स्वतंत्रता के लिए नित्य प्रयासरत हैं।

शूरसेन प्रदेश (मथुरापुरी) की राजनर्तकी रत्नप्रभा का व्यक्तित्व तेज से पूर्ण है। उसमें निर्णय लेने की शक्ति है। स्त्री होने के कारण स्त्री की पीड़ा से वह अनभिज्ञ नहीं है। उसका हृदय उदार है। वह दासी बनी दारा(दिव्या) का उद्धार करती है और अपने प्रासाद में आश्रय देती है। वह जानती है कि स्त्री होना ही संसार का सबसे बड़ा नियती-कर्म है। अंशुमाला(दिव्या) को अपने प्रासाद में आश्रय प्रदान करने और उसकी दिन-ब-दिन प्रसारित होती अपूर्व प्रतिभा से अर्जित भोग-विलास की वस्तुओं से वह उब जाती है। वह सुख-भोग से विक्षिप्त सी

हो जाती है। मथुरा नगरी ही नहीं मगध, कौरव, कठ और मद्र तक अंशुमाला की कला की प्रतिभा के कारण रत्नप्रभा की ख्याति बढ़ जाती है। वह प्रतिदिन मिलने वाले उपहारों से खिन्न होकर सोचती है, “मेरे जीवन से आकर्षण का प्रयोजन और फल है ही क्या? द्रव्य ही तो मेरा प्रयोजन है! फिर न्यूनता क्या है; अभाव क्या है? परंतु मन न मानता। न्यूनता की अनुभूति कहती-धन का उपयोग क्या है? धन का उपयोग भोग में है। वह उसे किस प्रकार भोगे? सुंदर वस्त्र, आभूषण, भव्य भवन सब कुछ है, परंतु वे क्या संतोष देते हैं? वे जीवन का लक्ष्य नहीं, केवल उपकरण मात्र हैं। उन्हें देखता ही कौन है? ऐसे ही जैसे पिंजरा स्वर्ण का रहने पर भी महत्व कुछ पणों की सारिका का ही होता है।”⁹ रत्नप्रभा की यह सोच यूँ ही नहीं है। वह जीवन के मर्म को समझती है। वह सीरो की तरह उच्छृंखल नहीं है। वह स्त्री के अस्तित्व को दाम्पत्य के सूत्र में स्वीकार करती है। दांपत्य में बंधकर एक स्त्री की पूर्णता को वह श्रेष्ठ मानती है। अपने को देकर दूसरे के अधिकार में बंधना भी स्त्री की श्रेष्ठता का प्रमाण है। केवल उच्छृंखल हो अपनी स्वतंत्रता के लिए अपने अस्तित्व को मिटा देना स्त्री का धर्म नहीं है। स्त्री देकर पाती है और पाकर उसकी श्रेष्ठता और बढ़ती है। एक वेश्या से अधिक कुलवधू का महत्व उसकी दृष्टि में श्रेष्ठ है। उसकी उक्ति है, “वेश्या देती है अपना अस्तित्व और केवल पाती है द्रव्य। परंतु पराश्रिता कुलवधू अपने समर्पण के मूल्य में दूसरे पुरुष को पाती है, किसी दूसरे पर भी अधिकार पाती है। वेश्या का जीवन मोटी बत्ती और राल मिले तेल से पूर्ण दीपक की, अनुकूल वायु में अति प्रज्वलित लौ की भाँति या उल्कापात की भाँति क्षणिक तीव्र प्रकाश करके शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। कुलवधू का जीवन मध्यम प्रकाश से चिरकाल तक टिमटिमाते दीपक की भाँति है। ममता भरी शरण के हाथ, प्रतिकूल झंझावात से उसकी रक्षा करते हैं। यह अपने निर्वाण से पूर्व अपने अस्तित्व से दूसरे दीप जला कर अपना प्रकाश उसमें देख पाती है। स्वयं उसका निर्वाण हो जाने पर भी उसका प्रकाश बना रहता है। ऐसी परंपरा ही मनुष्य की अमरता है।”¹⁰ रत्नप्रभा की दृष्टि में एक स्त्री का स्वतंत्र होने के लिए प्रयासरत रहना ही श्रेष्ठ नहीं है, बल्कि परिवार में रहकर अपने यश को बढ़ाना भी श्रेयष्कर है। वह चिरकाल से चली आ रही दांपत्य परंपरा की समर्थक है। एक स्त्री की पूर्णता दाम्पत्य जीवन में बंधकर ही सार्थक होती है। इस दाम्पत्य जीवन के प्रगाढ़ बंधन के कारण ही स्त्री का अस्तित्व सदैव जीवित रहता है। स्त्री अपने शरण रूपी प्रकाश से दूसरों को आलोकित करती है। प्रेरणादायिनी बनकर प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपना सर्वस्व लुटाकर दूसरों की सुश्रूषा कर मुस्कुराते रहती है। यही मानुष-धर्म है। यही स्त्री-धर्म है। स्त्री-धर्म के रक्षार्थ ही रत्नप्रभा अंशुमाला से दाम्पत्य जीवन को स्वीकारने के लिए बार-बार आग्रह करती है। मारिश के अंशुमाला के प्रति अनुराग को देखकर रत्नप्रभा दोनों का मेल करा देने का हर संभव प्रयास करती है, परंतु अंशुमाला नहीं मानती। अंशुमाला की दुविधा से परिचित हो रत्नप्रभा कहती है, “मूर्खा, श्वास रोके कब तक तू गहन तल के एकांत में पड़ी रहेगी? तेरे सम्मुख जीवन का मार्ग है और तेरी प्राणशक्ति तुझे उस ओर ले जा रही है। तू स्वयं अपने से कब तक युद्ध करेगी।”¹¹ रत्नप्रभा स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य संबंध को श्रेष्ठ संबंध मानती है। वह स्त्री की मर्यादा को पुरुष के संसर्ग से जोड़कर देखती है।

‘दिव्या’ उपन्यास की पात्र दिव्या स्त्री-चेतना की दृष्टि से एक सशक्त पात्र है। दिव्या स्त्री-विमर्श की एक ऐसी मशाल है जो अपनी ज्योति से सारी मान्यताओं, प्रथाओं, परंपराओं को ढाहती हुई दृष्टिगत होती है। दिव्या वयोवृद्ध महापंडित धर्मस्थ देव शर्मा की प्रपौत्री ही नहीं, बल्कि स्त्री के कई संघर्षपूर्ण पड़ावों से गुजरते, दारुण पीड़ा को भोगते एक न सुलझी आख्यान भी है। दिव्या एक स्त्री की ऐसी कथा-व्यथा है जहाँ संसार की कोई सेवा उसकी सुश्रूषा नहीं कर सकती। सामंती-समाज पर कुठाराघात करते हुए दिव्या का चरित्र निर्मित हुआ है। वह एक ऐसी स्त्री की दर्द भरी कथा है जिसे कहीं भी आश्रय प्राप्त नहीं होता। हर जगह वह ठुकराई जाती है। दिव्या जहाँ भी पहुँचती है पुरुष-वर्ग उससे अपना संबंध स्थापित करने का प्रयास करता है। बौद्ध-धर्म में उसे शरण नहीं मिलती। एक स्त्री को बौद्ध-धर्म शरण प्रदान नहीं कर सकता, जबकि एक वेश्या बौद्ध-धर्म

में शरण लेने की अधिकारिणी है। यह कैसी विडंबना है ? ‘दिव्या’ में इसकी विषद मंत्रणा हुई है।

दिव्या का विद्रोह सागल में मनाए जाने वाले मधुपर्व से आरंभ होता है। उपन्यास के आरंभ से ही उसका विद्रोही रूप, उसके हृदय का अन्यमनस्क भाव कई सवाल खड़ा करता है। दास पुत्रों का यवन कन्याओं की पालकी में हाथ देना और फिर यवन और दास पुत्रों में झड़प उसके क्षुब्ध होने का मुख्य कारण है। दास और यवनों के बीच का भेद उसके हृदय को व्यथित कर देता है। वह इस प्रथा के विरुद्ध अपनी मूक व्यथा व्यक्त करती है। वह दास पुत्र पृथुसेन की व्यथा को धर्मस्थ के समक्ष प्रकट करती है, किन्तु निर्णय अनिर्णीत ही रहता है। दिव्या असमानता की भावना से भर उठती है। उसे यह बिल्कुल भी उचित प्रतीत नहीं होता कि एक के अधिकार पर दूसरा मजे लूटे। दिव्या का यह विद्रोही रूप स्त्री-चेतना की दृष्टि से विशिष्ट है। दिव्या का प्रतिकार संपूर्ण स्त्री-जाति का संबल है, जहाँ प्रतिरोध करने की सीख उजागर हो रही है। दिव्या का दास पुत्र पृथुसेन पर आसक्त होना सामंती-समाज की चली-चलाई प्रथा के विरुद्ध विद्रोही रूप ही है। दिव्या जानती है कि पृथुसेन से उसका परिणय नहीं होने वाला है। फिर भी वह अपने प्रेम को शिखर पर ले जाती है। वह जानती है कि दास पुत्र पृथुसेन और यवनों में मैत्रीपूर्ण सौहार्द असंभव व्यापार है, किन्तु फिर भी वह अपने प्रेम के प्रति अडिग रहती है। यही प्रेम बाद में उसके अस्तित्व के क्षरण का कारण बनता है। तदनन्तर जीवन के कई दारुण पड़ावों से गुजरकर स्त्री के अस्तित्व की स्वतंत्रता के लिए वह सचेष्ट रहती है। हर जगह उसे उपेक्षा मिलती है। पृथुसेन का सीरो के साथ प्रेमप्रलाप सुनकर भी वह अपनी प्रेम की मर्यादा को बनाए रखते हुए उसकी दूसरी पत्नी बनना स्वीकार करते हुए कहती है, “देव जाने आर्य को क्या हो गया ? आर्य के लिए सीरो यदि उतनी ही काम्य हो गई है तो भी वे मेरी अवज्ञा क्यों कर रहे हैं ? मैं सीरो के साथ सख्य भाव से सपत्नीत्व स्वीकार करूँगी। सभी कुलीन आर्यों के परिवार में अनेक पत्नियाँ हैं। क्या सीरो भी मेरे साथ आर्य की पत्नी नहीं बन सकती? एक वृक्ष की छाया में अनेक प्राणी विश्राम पाते हैं; गजराज की अनेक पत्नियाँ होती हैं; उसी प्रकार आर्य की भूजा के आश्रय में हम दोनों रहेंगी।”¹² यह है दिव्या का निश्छल प्रेम जहाँ स्वार्थ का लेशमात्र भी स्थान नहीं है। दिव्या पृथुसेन के प्रेम में आसक्त होकर, उसे प्राप्त करके अपने जीवन को धन्य समझना चाहती है। पृथुसेन का दिव्या की सुध न लेना, उससे मिलने न आना ...उसकी व्यथा को बढ़ा देता है। वह अपना क्षोभ छाया के समक्ष उजागर करते हुए कहती है, “आर्य के प्रासाद में बीसियों दासियाँ अनेक सेवा-कार्यों के लिए हैं, क्या मेरे लिए वहाँ स्थान नहीं है ?”¹³ प्रेम की निश्छलता के कारण ही दिव्या की उक्ति इस प्रकार क्षोभ से भर उठती है। यही नहीं दिव्या का दास पुत्र पृथुसेन को आर्य कहना समानता की भावना को बजाय रखने का सशक्त प्रमाण है। यशपाल दिव्या के माध्यम से समाज में व्याप्त ऊँच-नीच की भावना का एक तरह से प्रतिकार कर रहे हैं। एक संभ्रांत कुल की युवती का एक दास-पुत्र को अपने समतुल्य समझना और समाज से लोहा लेकर उसका प्राप्य दिलवाने के लिए कटिबद्ध होना श्रेष्ठ सहृदयता का प्रमाण है। दिव्या का समानता की भावना से आप्लावित हृदय स्त्री-चेतना की मिशाल नहीं तो ओर क्या है ?

गर्भ ठहर जाने पर कुल-मर्यादा के रक्षार्थ दिव्या अपने प्रासाद को त्याग देती है। वह नहीं चाहती है कि उसके परिजन कष्ट का अनुभव करें। दिव्या को मलाल इस बात का है कि “आर्य मोक्षा का गर्भ परिवार के लिए उल्लास का कारण है और मेरा गर्भ कलंक है। क्योंकि मेरे गर्भ का पिता नहीं।”¹⁴ पृथुसेन के प्रासाद में अपने अधिकार के लिए दिव्या जाती है, किन्तु वहाँ से खाली हाथ ही लौट आती है। वह स्त्री की दयनीय स्थिति से क्षुब्ध हो अपना आक्रोश छाया के समक्ष प्रकट करते हुए कहती है, “किससे भय है ? भय किससे नहीं है ? माताल वृक ठीक ही कहता है, अम्मा ! कठोर धीर रुद्रधीर, कोमल-पृथुसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक: नारी के लिए सब समान है। जो भोग्या बनने के लिए उत्पन्न हुई है, उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ। उसे तो सब भोगेंगे ही। भय किससे नहीं। क्या तात से भय नहीं ? महापितृत्व से भय नहीं ? वे मुझे आर्य रुद्रधीर

को देना चाहते थे। मैंने स्वेच्छा से पृथुसेन को आत्मसमर्पण किया, उसका फल यह है।”¹⁵ कितनी दारुण स्थिति है। दिव्या के माध्यम से यशपाल कहना चाहते हैं कि स्त्रियों को हर जगह उपेक्षा मिलती है। सभी उसे अपने आश्रय की खोखली चादर ओढ़ाकर पराश्रित बना देते हैं। दिव्या का यह कथन पितृसत्तात्मक समाज पर करारा व्यंग्य है। दिव्या का अपना निर्णय स्वयं लेना स्त्री-चेतना की दृष्टि से एक ललकार है। स्त्रियों को स्वयं अपना वर ढूढ़ने की स्वतंत्रता है। उसमें भी निर्णय लेने की शक्ति है। इसकी मुखर विवेचना ‘दिव्या’ उपन्यास के माध्यम से प्रकट हुई है। दिव्या का अपने पितामह का प्रतिकार कर रूद्रधीर से परिणय अस्वीकार कर देना स्त्री-चेतना का उत्कृष्ट उदाहरण है। दिव्या अपने भाग्य का निर्णय स्वयं लेना चाहती है। जयशंकर प्रसाद के नाटक ‘ध्रुवस्वामिनी’ अपने अयोग्य पति को अस्वीकार कर स्त्री-चेतना की मशाल बहुत पहले ही जला चुकी थी। ‘उद्धरण, “मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-संपत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो।”¹⁶ जब रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को उपहार में देना चाहता है तब वह अपना रोष इस तरह व्यक्त करती है, “निर्लज्ज! मद्यप! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं (ठहरकर) नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्मसम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।”¹⁷ ध्रुवस्वामिनी का प्रतिकार उसी कड़ी में दिव्या का प्रतिकार है जिसने स्त्री-चेतना की मशाल को जलाए रखा है।

दिव्या का दारा दासी बनकर दारुण पीड़ा का भोग करना अपने अस्तित्व को बनाए रखने की प्रबल इच्छा शक्ति का द्योतक है। दिव्या दासी बनकर भी अपने पुत्र के लिए जीना चाहती है, परंतु वहाँ भी उसे शरण नहीं मिलती है, क्योंकि वह स्वतंत्र नारी नहीं है। स्थवीर की उक्ति है, “वेश्या स्वतंत्र नारी है देवी।”¹⁸ अर्थात् केवल मात्र एक वेश्या को शरण दी जा सकती है, अन्यथा नारी हर जगह बंधी हुई है। उसका अपना कुछ भी नहीं है। दारा मंथन करती है, “वह स्वतंत्र थी ही कब ? अपनी संतान को पा लेने की स्वतंत्रता के लिए ही उसने दासत्व स्वीकार किया। अपना शरीर बेचकर उसने इच्छा को स्वतंत्र रखना चाहा परंतु स्वतंत्रता मिली कहाँ? कुल-नारी के लिए स्वतंत्रता कहाँ ? लेवल वेश्या स्वतंत्र है।”¹⁹ दिव्या का क्षोभ अनुचित नहीं है। नारी जन्म से ही परतंत्र हो जाती है। उसे हर जगह बंधन में बाँधकर देखने की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। वह निर्णय स्वयं नहीं ले सकती। दिव्या नारी की स्वतंत्रता के लिए मानों ललकार भर कह उठती है, “मैं वेश्या बनूँगी।”²⁰ समाज की बनाई यह कैसी प्रथा है जहाँ एक नारी वेश्या बनने को आतुर हो उठती है ? अपनी स्वतंत्रता के लिए वह दकियानूसी विचारधाराओं को तोड़कर फेंक देना चाहती है। यह समाज में फैले विचारधाराओं के प्रति एक तमाचा है जहाँ नारी केवल मात्र एक वस्तु है, भोग्या है। दिव्या की टीस यहाँ पूरे नारी समाज की टीस बनकर उभरी है। दारा अपने पुत्र को खोकर रत्नप्रभा के आश्रम में अंशुमाला के रूप में अदभुत कला का प्रदर्शन करती है। दासत्व की दारुण पीड़ा से मुक्त होकर उसके चरित्र का नव-निर्माण होता है। गरिमा श्रीवास्तव कहती हैं, “दिव्या में यशपाल ने प्रगतिशील नारी ‘अंशुमाला’ पर विश्लेषण परक दृष्टि डाली है।”²¹ अंशुमाला बनी दिव्या घोर पीड़ा की त्रासदी से मुक्त होकर अपने अतीत को भूलने का भरसक प्रयत्न करती है और अपने नृत्य कला को दिन-ब-दिन मौजते जाती है। इधर समाज का प्रत्येक व्यक्ति उसे प्राप्त करना चाहता है। वह किसी की परवाह नहीं करती, उपेक्षा का भाव लिए अपने नृत्य में खोई रहती है। वह कला को ही सर्वस्व मानकर अपने जीवन को उसके लिए अर्पण कर देने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। इधर समाज में अंशुमाला के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया उसे ना पाकर क्षोभ से भर कह उठती है, “अंशुमाला वेश्या नहीं, केवल नृत्य की काष्ठ पुत्तलिका है। वह प्रस्तर के देवता के सम्मुख नृत्य का अनुष्ठान करने योग्य नृत्य का यंत्र-मात्र है। उसका लास्य, स्मित

और कटाक्ष केवल कला का अनुष्ठान मात्र है, मनुष्य के संतोष की वस्तु नहीं। उसके अपने जीवन में कुछ नहीं, वह किसी के लिए कुछ नहीं। कामना के रूप में जीवन की ऊष्मा से वह हीन है।”²² इसके पश्चात् भी अंशुमाला विचलित नहीं होती। वह सुख-दुःख, प्रेम-प्रलाप, दाम्पत्य संबंध, समाज की दकियानूसी विचारधारा से निवृत्ति चाहती है। वह मुक्ति चाहती है। नारी-मुक्ति चाहती है। स्वतंत्रता चाहती है और घृणा वश नारी के प्रति अपना दृष्टिकोण रखते हुए कहती है, “नारी रूप से वह सभी पुरुषों के सम्मुख भोग्य है। यही उसका आकर्षण है भोग्य !”²³ नारी का यही आकर्षण रूप दिव्या के घृणा का मुख्य कारण है। वह हर जगह से ठगी जा चुकी है। अब वह किसी का आश्रय नहीं चाहती। वह आत्मनिर्भर होकर जीना चाहती है। सागल की राजनर्तकी मल्लिका अंशुमाला को अपने उत्तराधिकारी के लिए सागल ले जाती है, किन्तु संपूर्ण जन-समाज दिव्या को आचार्य कुल की महादेवी का आसन ग्रहण करने नहीं देता। उसे वेश्या कहकर दुत्कारा जाता है। वह स्वेच्छा से वहाँ से चली जाती है। सागल आकर एक बार फिर दिव्या अपने आप को निरीह अवस्था में पाती है। वह पांथशाला में आश्रय ग्रहण करती है। उसका मस्तिष्क बेचैन हो उठता है। वह पूरी स्त्री-जाति की कारुणिक दशा को लेकर चिंतित हो उठती है। उसी क्षण महासामंत रूद्रधीर उसे कुलवधू के आसन पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उसकी उक्ति है, “देवी, तुम्हारा स्थान नर्तकी वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुलकन्या हो। तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुलमाता के आसन पर है।”²⁴ रूद्रधीर के वक्तव्य से दिव्या तनिक भी विचलित नहीं होती। वह कहती है, “आचार्य, कुलवधू का आसन, कुल माता का आसन, कुलमहादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है,.....ज्ञानी आचार्य कुलवधू का आसन, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रयमात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं उसे भोग करने वाली पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी।”²⁵ इस तरह दिव्या शालीनता से कुलवधू के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है।

दिव्या बौद्ध-संघ के अपार करुणा को भी अस्वीकार कर देती है। पहले ही बौद्ध-संघ स्त्री को शरण न दिए जाने के कारण दासी रूप में वहाँ से लौटाई जा चुकी है। दिव्या का मोह-भंग वहाँ से पहले ही हो चुका है। दिव्या कपित स्वर में भिक्षु पृथुसेन से पूछती है, “भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है।”

भिक्षु ने धीमे स्वर में उत्तर दिया- “भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।”²⁶ यह सुनने के बाद दिव्या इस तरह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है, “भन्ते अपने निर्वाण धर्म का पालन करें।” नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।”²⁷ दिव्या का यह कथन कि नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है। स्त्री-चेतना की दृष्टि से अतुलनीय है। स्त्री को केवल मात्र भोग्या, कुल को सवारने वाली, पथ के साथ चलने वाली समझे जाने के विरुद्ध यहाँ कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। जिस तरह यह श्रृष्टि स्वतंत्र है। कभी भी कुछ भी घट सकता है। नारी भी उसी तरह स्वतंत्र है। दिव्या मारिश का आश्रय ग्रहण कर लेती है। वह शांति चाहती है। वह राजपाट, नियम बंधन नहीं चाहती। उसके हृदय में जीवन को जीवन की तरह जीने की आकांक्षा है। वह समानता की आकांक्षिणी है। वह नारीत्व अर्पण करने के साथ-साथ पुरुष को पुरुषत्व अर्पण करता हुआ भी देखना चाहती है। वह आदान-प्रदान चाहती है। मिथ्या वाद-विवाद नहीं चाहती। वह चाहती है स्वतंत्र रूप से अपने विचारों को रखना। देवी बनकर रहना वह नहीं चाहती। दिव्या की प्रबल इच्छाएँ संपूर्ण नारी-चेतना को झकझोरने में समर्थ हैं। सबसे बढ़कर दिव्या शांति चाहती है। एक दारुण अवस्था से गुजरती नारी की शांति चाहती है। वह मारिश की विचारधारा के समक्ष अपना सर्वस्व अर्पण करती है और उसे अपना संबल समझकर स्त्री-चेतना, नारी-मुक्ति के लिए एक कदम और बढ़ाती है। मारिश भी एक कदम आगे बढ़कर दिव्या के संसर्ग के लिए कह उठता है, “मारिश निर्वाण के मिथ्या चिरंतर सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख-दुःख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी

शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है।”²⁸

‘दिव्या’ उपन्यास में स्त्री-चेतना के आलोड़न को स्पष्ट ही सुना जा सकता है। यहाँ नारी को अपना नारीत्व अर्पण करने के साथ-साथ पुरुष को पुरुषत्व अर्पण करते हुए भी दिखाया गया है। स्त्री-पुरुष के सामंजस्य से ही सृष्टि की क्रियाएँ सुचारू रूप से क्रियान्वित होती हैं। समाज, परिवार, कुल-मर्यादा की प्रतिष्ठा दोनों के सान्निध्य में है। नारी परतंत्र नहीं है। इसकी मुखर विवेचना उपन्यास में प्रकट हुई है। सदियों से चली आ रही दासत्व की पीड़ा का ‘दिव्या’ उपन्यास मुखर विरोध करता है। उपन्यास में स्त्री-चेतना के नए द्वार खुलें हैं। स्त्रियों के प्रति बनी-बनाई दृष्टिकोण के विरुद्ध इस उपन्यास में अनुगूँज है। यहाँ उत्थान-अवरोध के साथ-साथ विचारों का सुंदर जुड़ाव स्त्री-चेतना की दृष्टि से सराहनीय है। ‘दिव्या’ उपन्यास स्त्री-चेतना का नया अध्याय है। आज पूरा राष्ट्र जिस नारी-मुक्ति का राग अलाप रहा है उसे यशपाल ने बहुत पहले ही ‘दिव्या’ के माध्यम से प्रकट कर दिया था। डॉ. योगेश सूरी कहती हैं, “इस अर्थ में इनको हम नारी की अस्तित्व के संरक्षक मान सकते हैं।”²⁹

संदर्भ :

1. बादिबड़ेकर, डॉ चंद्रकांत, उपन्यास : स्थिति और गति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ. 47
2. किशोर, नवल, आधुनिक हिंदी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1997, पृ. 154
3. सिंह, कुंवरपाल/विसरिया, अजय, संपादक, हिंदी उपन्यास जनवादी परंपरा, अंश प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 91
4. यशपाल, दिव्या, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2016, पृ. 133
5. वही, पृ. 132-133
6. वही, पृ. 133-134
7. वही, पृ. 128
8. वही, पृ. 65
9. वही, पृ. 100
10. वही, पृ. 100
11. वही, पृ. 116
12. वही, पृ. 67
13. वही, पृ. 67
14. वही, पृ. 69
15. वही, पृ. 74
16. प्रसाद, जयशंकर, ध्रुवस्वामिनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 22
17. वही, पृ. 23
18. यशपाल, दिव्या, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2016, पृ. 92
19. वही, पृ. 93
20. वही, पृ. 93

21. श्रीवास्तव, डॉ. गरिमा, हिंदी उपन्यासों में बौद्धिक विमर्श, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 1999, पृ. 92
22. यशपाल, दिव्या, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2016, पृ. 102
23. वही, पृ. 112
24. वही, पृ. 157
25. वही, पृ. 157
26. वही, पृ. 158
27. वही, पृ. 158
28. वही, पृ. 158
29. सूरी, डॉ. योगेश, यशपाल के उपन्यासों में नारी जीवन की समस्याएँ, चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं., 1994, पृ. 249



रंगमंचीय रूप संरचना का स्त्री पक्ष

○ अपर्णा वेणु

किसी भी रंगमंचीय प्रस्तुति का सबसे अनिवार्य तत्व है उसकी रूप संरचना। रूप एक ऐसा तत्व है जिसके मूल में कलात्मकता और सौन्दर्यशास्त्रीय चेतना निहित है। तथाकथित रंगमंच के सिद्धांत, शिल्प एवं सौन्दर्य तत्वों की निर्मिति पुरुष-प्रधान दृष्टि से होने के कारण सदियों से उसकी रूप संरचना में स्त्री की सृजनात्मक शक्ति तथा उसके संवेदनाओं की नैसर्गिक अभिव्यक्ति का सदा अभाव रहा है। ऐसी एक अवस्था में स्त्रीपक्षीय विचारों को साथ लेकर चलने वाली समकालीन महिला रंगकर्मियों ने तथाकथित रंगमंच की रूप-संरचना में निहित पुरुष-केन्द्रता को तोड़कर स्त्री की सृजनात्मक शक्ति को विभिन्न आयामों के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लिंगस्थितीय विभेदन व पुरुष-सत्तात्मक विचार तत्वों द्वारा रंगमंच पर निर्मित स्त्री-बिंबों के स्थान पर स्त्री-स्वत्व की गहराई को समाविष्ट करने वाले नूतन बिंबों की अन्विति स्त्रीपक्षीय रंगकर्म की अपनी विशेषता है। रंगमंचीय प्रस्तुति के रूप-विधान के अंतर्गत प्रमुखतः प्रदर्शन-स्थल, मंच-व्यवस्था, रंग सामग्री, प्रकाश योजना, ध्वनि विन्यास आदि विभिन्न तत्व आते हैं। समकालीन महिला रंगकर्मियों की नाट्य प्रस्तुतियों के संदर्भ में देखा जाय तो इन तत्वों के स्तर पर कई नवीन प्रयोग करते हुए पूरे रंगमंच की रूप-संरचना को एक नवीन परिप्रेक्ष्य के साथ प्रयुक्त करने के प्रयास दिखाई देते हैं। प्रस्तुत आलेख में भारत के विभिन्न भाषाई व प्रादेशिक रंगमंच से जुड़ने वाली महिला निर्देशकों की कुछ बहुचर्चित एवं बहुमंचित नाट्य-प्रस्तुतियों को अध्ययन का आधार बनाया गया है।

प्रदर्शन स्थल अथवा रंगस्थल किसी भी रंगमंचीय कार्य का केंद्रस्थल होता है और अंततः उस कार्य के स्वरूप, स्तर और सार्थकता को निर्धारित करनेवाला होता है। वरिष्ठ रंग आलोचक श्री नेमीचन्द्र जैन के शब्दों में “प्रदर्शन के लिए किसी न किसी प्रकार का, खुला या बंद स्थायी अथवा अस्थायी, छोटा या बड़ा, रंगभवन और उसमें एक मंच अथवा रंगस्थल सर्वथा आवश्यक है, जिसके बिना नाटक को जीवंत रूप नहीं दिया जा सकता। और यह महत्वपूर्ण बात है कि संसार में कहीं भी नाटक और रंगमंच की चर्चा रंगशाला या रंगस्थल की चर्चा के बिना अधूरी ही रहती है, चाहे वह भरत का नाट्यशास्त्र हो अथवा प्राचीन यूनानी नाटक का विवेचन। वास्तव में नाटक और अभिनय-प्रदर्शन का स्वरूप बहुत हद तक रंगशाला के स्वरूप से निर्धारित होता है। सभी तरह के नाटक सभी तरह की रंगशालाओं और उसके मंचों पर नहीं प्रस्तुत किये जा सकते और नाटक लेखन से लगाकर अभिनय और मंचीकरण की बेशुमार रूढ़ियाँ, पद्धतियाँ, कार्यविधियाँ रंगशाला और मंच के अनुसार बंटी है और उनमें परिवर्तनों के साथ बदलती जाती है।” समकालीन भारतीय रंगमंच के संदर्भ में देखा जाय तो महिला निर्देशकों ने अपनी सृजनात्मकता, सौन्दर्यबोध एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के प्रदर्शन-स्थलों को रंगमंचीय प्रस्तुति के लिए प्रयुक्त किए हुए दिखाई देते हैं।

प्रदर्शन-स्थल की दृश्यमान संरचना को केंद्र में रखकर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुछ महिला रंगकर्मियों ने अपनी रंगमंचीय प्रस्तुतियों के लिए ऐसे प्रदर्शन-स्थलों को स्वीकार किया है, जो प्रदर्शन-स्थलों के तथाकथित स्वभाव से किसी न किसी प्रकार भिन्न हैं तथा दर्शकीय आदतों को प्रश्नीकृत करने वाले हैं। यहाँ प्रदर्शन स्थल की प्रयुक्ति की दो विशेष प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं— पहली, प्रचलित सर्वमान्य प्रदर्शन स्थल की अलग ढंग से प्रयुक्ति है तो दूसरी, एक विशिष्ट प्रदर्शन-स्थल वाली संकल्पना को ही प्रश्नीकृत करने वाले प्रयोग हैं। स्त्रीपक्षीय रंगकार्यों से जुड़ने वाली अधिकांश रंगकर्मियों ने प्रदर्शन स्थल के लिए प्रोसीनियम स्टेज को अपनाया है, जो आधुनिक काल से लेकर भारतीय रंगकर्म के क्षेत्र में सर्वव्याप्त है। प्रदर्शन-स्थल का यह वर्षों से प्रचलित स्वरूप दर्शकों की दृष्टि-आदतों में गहरे रूप में छपा हुआ है। सालों से पुरुषसत्ता द्वारा संचालित एवं नियंत्रित रंगमंचीय प्रस्तुतियों के लिए प्रयुक्त इस विशेष प्रदर्शन-स्थल की संरचना के भीतर स्त्री का प्रतिनिधित्व पुरुष के अनुबंध मात्र के रूप में ही प्रतिष्ठित होता दिखाई देता है। इसमें महिला पात्रों की गतियाँ एवं दैहिक विन्यास बिल्कुल नियंत्रित एवं परिसीमित भी है। महिला रंगकर्मियों ने प्रोसीनियम के इस परिसीमित एवं नियंत्रित स्थिति को बदलने की कोशिश की है। उदाहरण के लिए उषा गांगुली द्वारा निर्देशित ‘हम मुख्तारा’, ‘रुदाली’ (हिंदी), रमनजीत कौर द्वारा निर्देशित ‘बावरे मन के सपने’ (हिंदी), सी. वी. सुधी द्वारा निर्देशित ‘आनुनाल इल्लात्ता पेंनुनाल’ (मलयालम), वी. पद्मा मंगई द्वारा निर्देशित ‘पच्चा मण्णु’ (तमिल), रसिका अगाशे द्वारा निर्देशित ‘म्यूजियम ऑफ स्पीशिस इन डेंजर’ (हिंदी) आदि नाट्य-प्रस्तुतियों को ले सकते हैं। इन नाट्य प्रस्तुतियों में महिला पात्रों की संख्या अधिक है तथा ये महिला पात्र बिना किसी लिंगपरक नियंत्रण से पूरे स्टेज का इस्तेमाल स्वतंत्र रूप से करती हुई अभिनीत दिखाई देती हैं। सी.वी. सुधी द्वारा निर्देशित ‘प्रवचका’ (मलयालम) नाट्य प्रस्तुति में इस तथाकथित प्रोसीनियम स्टेज को एक अलग ढंग से प्रयुक्त करते हुए पूरे मंच की दृश्यमान संरचना को नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रस्तुति में मंच की एक तरफ जमीन से ऊपर एक फलक लटकाया गया है जो और एक छोटा मंच जैसा दिखाई देता है। लटकाया गया छोटा मंच सत्ता को सूचित करने वाला रूपक प्रतीत होता है। नाटक के पुरुष पात्र, जो सत्ता के प्रतीक हैं, लटकाए गए छोटे मंच के ऊपर खड़े होकर अभिनय करते हैं तथा स्त्री पात्र, जो दमितों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जमीन या असली मंच पर खड़ी होकर अपनी भूमिका अदा करती हैं। यहाँ एक ओर प्रोसीनियम स्टेज का तथाकथित स्वरूप नवीन आयाम के साथ पुनर्रूपायित हो जाता है तो दूसरी ओर दर्शकीय अनुभूति का पारंपरिक परिप्रेक्ष्य परिवर्तित भी हो जाता है। हिंदी के नाटक हम मुख्तारा (उषा गांगुली), और कितने टुकड़े (कीर्ति जैन), उमराव (अनुराधा कपूर), म्यूजियम ऑफ स्पीशिस इन डेंजर (रसिका अगाशे), नटी बिनोदिनी (अमाल अल्लाना), रूप अरूप (त्रिपुरारी शर्मा), कन्नड़ का नाटक अग्निपथ (बी. जयश्री), मलयालम के नाटक प्रवचका (सी.वी. सुधी), घोरराक्षसम (सुरभि), लेबर रूम (के.वी. श्रीजा) आदि सशक्त स्त्रीपक्षीय राजनीति को उठाने वाली अन्तर्वस्तुओं से सम्पन्न हैं। इन नाटकों की प्रस्तुति भी तथाकथित प्रदर्शन स्थलों में ही हुई है। किन्तु ये नाट्य प्रस्तुतियाँ समग्र रूप से रंगमंच की प्रचलित संरचना में निहित स्त्री-विरोधी तत्वों को प्रश्नीकृत करने वाली हैं। यहाँ सत्ता के फलक पर खड़े होकर, उसी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करने वाली ये प्रस्तुतियाँ प्रतिरोध की एक अलग शैली या प्रक्रिया को सामने रखती हैं।

अनुराधा कपूर द्वारा निर्देशित हिंदी नाटक ‘विरासत’ प्रदर्शन स्थल के तथाकथित द्विआयामी स्वरूप को ही तोड़ने वाला एक रंगमंचीय प्रयोग है। यह सामन्ती संयुक्त परिवार के भीतर के जीवन के विविध पक्षों एवं परिवार के पतन को अभिव्यक्त करने वाली नाट्य प्रस्तुति है, जिसका रूप विधान अतिथ्यार्थवादी शैली में हुआ है। इस प्रस्तुति के लिए एक ऐसे प्रदर्शन स्थल को चुना गया है, जिसकी चारों तरफ दर्शक बैठ सकते हैं। प्रत्येक स्थल पर बैठकर प्रदर्शन देखने से दर्शकीय दृष्टि व अनुभूति भी बदलती है तथा पूरे प्रदर्शन का परिप्रेक्ष्य भी

बदलता है। इस नाट्य प्रस्तुति का सेट एक पारंपरिक घर के समान बनाया गया है। एक तरफ बैठने पर कथा रसोई घर के परिप्रेक्ष्य से देख सकते हैं तो दूसरी तरफ से देखने पर बरामदे के परिप्रेक्ष्य में। दर्शक अपनी इच्छानुसार कहीं भी बैठकर प्रदर्शन देख सकते हैं। मध्यांतर के समय में दर्शकों से स्थान बदलकर बैठने का निर्देश भी दिया जाता है। इसके संबंध में खुद अनुराधा जी ने व्यक्त किया है- मैं चाहता था कि अभिनेता यथासंभव दर्शकों के करीब हों। बैठने की व्यवस्था इस तरह से की गई थी कि आप या तो किचन में हों, पूजा कक्ष के पास या झूले के पास।

एक विशिष्ट प्रदर्शन स्थल वाली संकल्पना को ही तोड़ने वाली एकल नाट्य प्रस्तुति है माया कृष्ण राऊ द्वारा निर्देशित व अभिनीत अंग्रेजी नाटक 'द वॉक'। इसकी यही विशेषता है कि इस नाटक के लिए कोई विशेष प्रदर्शन स्थल की व्यवस्था नहीं की गयी है। मंच पर या लोगों के बीच किसी भी जगह इस नाटक का प्रस्तुतीकरण किया जा सकता है। इसका मंचन समाज में स्त्रियों के खिलाफ हो रहे बलात्कार एवं अन्याय के प्रतिरोध के रूप में हुआ है। स्त्रियों के प्रति होने वाले अत्याचार हर जगह समान है। किसी भी स्पेस में स्त्री सुरक्षित नहीं है। इस विचार को तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने वाली इस नाट्य प्रस्तुति में प्रदर्शन स्थल का यह अव्यवस्थित स्वभाव खुद एक रूपक के समान व्यवहृत होता दिखाई देता है। सुषमा देशपांडे द्वारा निर्देशित एवं अभिनीत मराठी एकल नाटक है 'व्हय मि सावित्री बाई'। इस नाट्य प्रस्तुति का रूपविधान बहुत ही लचीला है यानी इसके प्रदर्शन के लिए कोई विशिष्ट निर्धारित मंच व्यवस्था की जरूरत नहीं है। इसका रूपायन इसी ढंग से हुआ है कि यह किसी भी प्रदर्शन स्थल के लिए उपयुक्त हो। केरल की रंगकर्मी श्रीलता कडाविल द्वारा निर्देशित एवं अभिनीत एकल नाट्य प्रदर्शन है 'इको ऑफ द डे'। इकोफेमिनिसम के विचारों से ओतप्रोत इस नाट्य प्रदर्शन में स्त्री और प्रकृति के बीच के गहरे संबंध को अभिव्यक्त करने के लिए श्रीलताजी ने असली पेड़, पौधे, मिट्टी, ट्री हट, सीढ़ी आदि से भरे एक स्थल को प्रदर्शन के लिए अपनाया है। यहाँ स्त्री के दैहिक अस्तित्व एवं पर्यावरण के बीच के जैविक संबंध को तथा प्रकृति के साथ स्त्री की एकात्मकता को अभिव्यक्त करने में यह प्रदर्शन स्थल बिल्कुल संगत दिखाई देते हैं।

प्रदर्शन स्थल के सांस्कृतिक संदर्भ को केन्द्र में रखकर विचार करने से यह बात स्पष्ट होती है कि कुछ महिला रंगकर्मियों ने अपने कुछ विशेष नाटकों के प्रदर्शन के लिए ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले प्रदर्शन-स्थलों को चुना है जो नाटक की विषय-वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए बिल्कुल उपयुक्त है। उदाहरण के लिए सजिता मठतिल द्वारा निर्देशित 'मत्स्यगंधी' (मलयालम) एवं वी पद्मा मंगई द्वारा निर्देशित 'पच्चा मण्णु' (तमिल)। 'मत्स्यगंधी' नाटक में केरल के मछुआरे समूह की स्त्रियों की समस्याओं को अभिव्यक्त किया गया है। अतः निर्देशक ने इस प्रदर्शन को समुद्र तट पर असली मछुआरे समूह के रहने वाले प्रदेश में भी जाकर प्रस्तुत किया था। इसी प्रकार 'पच्चा मण्णु', जिसकी विषयवस्तु कन्या शिशु हत्या पर केंद्रित है। नाटक तमिलनाडु के ऐसे इलाकों में खेला गया, जहाँ धार्मिक संस्कार के रूप में कन्या शिशु हत्या होती रहती है। कीर्ति जैन द्वारा निर्देशित 'और कितने टुकड़े' इसी कोटि में आने वाली प्रस्तुति है। विभाजन के हिंसात्मक स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाले इस नाटक को निर्देशिका ने लाहौर तथा पंजाब के कुछ ऐसे प्रदेशों में जाकर प्रस्तुत किया जहाँ के लोगों को अपने पूर्व पीढ़ी की जनता द्वारा झेले गए विभाजन की भयावह स्थिति का अनुभव कथाओं की जानकारी है।

प्रदर्शन स्थल के समान मंच-व्यवस्था या सेट एवं रंग-सामग्री या प्रोपर्टीस का भी नाट्य प्रस्तुति में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। स्त्रीपक्षीय रंगकर्म से जुड़ने वाली रंगकर्मियों ने अपनी नाट्य प्रस्तुतियों में ऐसी मंच व्यवस्था व रंग सामग्रियों को प्रयुक्त किया है जिनमें स्त्रियों की सृजनात्मक शक्ति एवं उनके निजी अनुभवों की प्रामाणिकता विद्यमान है। नीलम मानसिंह चौधरी के निर्देशन में प्रस्तुत नाटक 'किचन कथा' (पंजाबी) में एक

विस्तृत रसोई घर के रूप में स्टेज का सेट बनाया गया है। पूरा नाटक उन महिलाओं की कहानी बताता है जिनके लिए रसोईघर एक अभयारण्य है। उनके लिए यह एक ऐसा स्थान है जहाँ वे स्वयं का बोझ हटा सकती हैं और ऊर्जा एकत्रित कर सकती हैं। साधारण भारतीय रसोई घरों में व्यवहृत वस्तुओं को ही यहाँ रंग-सामग्रियों के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस नाटक की यही विशेषता है कि इसमें भोजन, सब्जियाँ, बर्तन, चाकू, मटकी आदि साधारण स्त्रियों के दैनिक जीवन से जुड़ने वाली वस्तुएँ स्त्रियों के निजी विशेष भावनाओं एवं मनोविकारों को सूचित करने वाले रूपक प्रतीत होते हैं। एक साधारण स्त्री अपना अधिकांश समय रसोई घर और उसके आसपास ही बिताती है। रसोई घर से जुड़े अनुभव-संसार प्रत्येक स्त्रियों के अंतर्गत उपस्थित होते हैं। उन्हीं अनुभवों को यहाँ नीलम मानसिंह ने रंगमंच पर प्रयुक्त किया है।

अनुराधा कपूर के निर्देशन में प्रस्तुत नाटक 'विरासत' में सेट और प्रोपर्टीस को अतिथ्यार्थवादी रूप से प्रयुक्त किया गया है। मंच व्यवस्था एक पारंपरिक घर की संरचना में बनाया गया है, जिसके भीतर प्रेक्षागृह की योजना भी की गयी है। यहाँ दर्शकों को भी घर की दिनचर्या का हिस्सा बनाया गया दिखाई देता है। चाहे बर्तन धोना हो या खाना बनाना, घर के काम नाटक में वैसे ही चलते रहते हैं जैसे वे वास्तविक जीवन में करते हैं बिना किसी के प्रवेश या निकास से प्रभावित हुए। घर में व्यवहृत नित्योपयोगी साधनों को यहाँ रंग सामग्रियों के रूप में उपयुक्त किया गया है। सजिता मठतिल द्वारा निर्देशित 'मत्स्यगंधी' और के.वी. श्रीजा द्वारा निर्देशित 'कलमकारियुडे कथा' (मलयालम) आदि नाट्य प्रस्तुतियों में भी कथा संदर्भ के अनुकूल यथार्थवादी ढंग से रंगसामग्रियों को चुना गया है। 'कलंकारियुडे कथा' की अंतर्वस्तु मिट्टी के बर्तन बनाकर अपनी आजीविका चलाने वाली एक स्त्री की कहानी पर केंद्रित है। अतः इसमें एक साधारण कुम्हार स्त्री का घर, बर्तन बनाने वाला चक्र, मिट्टी के बर्तन, आसपास के फूल, पौधे ये सब प्रयुक्त किए गए हैं, जो नाटकीय अभिव्यक्ति को काफी प्रभावशाली बनाती है। 'मत्स्यगंधी' में मछुआरे स्त्रियों के जीवन और संघर्षों को दिखाया गया है। इसलिए रंग-सामग्रियों के रूप में मछुआरों के जीवन परिस्थितियों से संबंधित साधनों को प्रयोग में लाया गया है, जिनमें समुद्र-तट की बालू, मछली पकड़ने का जाल, रसोई के बर्तन, चाकू आदि प्रमुख हैं। मछली बेचने वाली स्त्रियों के सिर पर जो मछली भरकर ले जाने का बड़ा बर्तन होता है, उस बर्तन को नाटक के विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त किया गया है। उदाहरण के लिए बर्तन के भीतर बैठकर अभिनेत्री उसे नाव के रूप में प्रयुक्त करती है। इसके साथ-साथ बड़े नाव को दिखाने के लिए प्रतीकात्मक ढंग से कागज की नाव को प्रयुक्त किया गया है।

उषा गांगुली द्वारा निर्देशित 'हम मुख्तार' नाटक में रंगसामग्रियों को प्रतीकात्मक ढंग से प्रयुक्त किया गया है। उदाहरण के लिए उस नाटक में रंग-बिरंगे फीतों से बनायी हुई चोटियाँ मंच के ऊपर दिखाई गयी हैं। चोटियाँ ग्रामीण स्त्रियों की वेशभूषा एवं श्रृंगार का भाग है, अतः परंपरा का सूचक भी है। यह (चोटी) रंग-सामग्री जो स्त्री-पात्रों के साथ अटूट रूप से जुड़ी हुई है, वहीं चोटियाँ नाटक के और एक प्रसंग में स्त्रियों के गले को घोंट देती हुई दिखाई देती हैं। अर्थात् जिस परंपरा ने स्त्रियों को पाला-पोसा वही परंपरा स्त्रियों का गला भी घोंट देती है। पूरी मंच व्यवस्था को प्रतीकात्मक ढंग से प्रयुक्त किया हुआ और एक नाटक है सी.वी. सुधी द्वारा निर्देशित 'आनुडल इल्लात्ता पेनुडल'। इस नाट्य-प्रस्तुति में मंच के मध्यस्थल में घुमावदार सीढ़ियाँ स्थापित की गयी हैं। ये सीढ़ियाँ नाटक के अन्यान्य प्रसंगों में विभिन्न प्रतीकों व बिम्बों के रूप में उपस्थित होती हैं। नाटक के एक प्रसंग में स्त्री यौनिकता तथा उससे संबंधित जो परंपरागत नैतिक धारणाएँ हैं, उसकी जटिलताओं को सूचित करने में सीढ़ियों का घुमावदार स्वभाव बिलकुल संगत दिखाई देता है। एक दूसरे प्रसंग में वहीं घुमावदार सीढ़ियाँ शोषित एवं उत्पीड़ित स्त्रियों के लिए एक मुक्त वैकल्पिक स्पेस बनता हुआ प्रतीत होता है। इस नाटक में मकडोत नामक स्त्री पात्र एक पेड़ के रूप में अपने आप को रूपांतरित करने वाला सररियलिस्टिक

प्रसंग दिखाई देता है। पेड़ उर्वरता तथा स्त्रैण ऊर्जा का सूचक है। यहाँ सीढियाँ पेड़ के भौतिक शरीर के रूप में तथा प्रदर्शनकारी देह उसमें निहित विशेष स्त्रैण चेतना के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यहाँ मंच व्यवस्था तथा अभिनेत्री की प्रदर्शनकारी देह के बीच का अटूट संबंध संप्रेषण को ज्यादा मार्मिक बनाती हुई दिखाई देती है। नाटक के अन्य संदर्भों में ये सीढियाँ स्त्रियों के निजी अनुभवों को संप्रेषित करने वाले फलक के रूप में भी उपस्थित होती हैं। सी.वी. सुधी ने अपने 'पुनर्जनी' नाटक में भी मंच व्यवस्था और रंग सामग्रियों को प्रतीकात्मक ढंग से प्रयुक्त किया है। इस नाटक में प्रयुक्त सभी सामग्रियाँ बहुत बड़ी आकृति में बनायी गयी है। ये रंग-सामग्रियाँ अभिनेताओं को छोटा बनाती हैं। प्रचलित सत्तात्मक-संरचना की दमनकारिता को सूचित करने के लिए ही ऐसी बड़ी सामग्रियों को मंच पर लाया गया है।

'नटी बिनोदिनी' नाटक में निर्देशक अमाल अल्लाना ने रंग सामग्रियों का उपयोग आलंकारिक व प्रतीकात्मक ढंग से किया है। उदाहरण के लिए बूढ़ी बिनोदिनी नाटक के प्रत्येक दृश्य में अपने हाथ में एक सफेद कमल के फूल को लेकर मंच पर उपस्थित होती है। यहाँ कमल न केवल बंगाल का सबसे आम फूल है, बल्कि यह बिनोदिनी के शाश्वत मासूमियत का भी संकेत देता है। साथ ही यहाँ कीचड़ से खिलने की कमल की सहज प्रकृति के सकारात्मक पक्ष को बिनोदिनी के संघर्षपूर्ण जीवन व उसकी सजीवता के साथ जोड़कर प्रतीकात्मक ढंग से दर्शाया गया है। इसी तरह नाटक के एक प्रसंग में अपनी आत्मकथा लिखने वाली बिनोदिनी अपने नाट्य गुरु व उपदेशक श्री गिरीश घोष के भूत से संवाद करती है। यहाँ गिरीश घोष को व्हील चेयर में बैठकर चलने वाले विकलांग व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। व्हील चेयर तो असल में गिरीश घोष के लिए एक रूपक है, जिनका थिएटर बिनोदिनी के जाने के बाद लगभग अपंग हो गया था। मल्लिका तनेजा द्वारा निर्देशित एवं अभिनीत स्त्रीपक्षीय नाट्य प्रदर्शन है 'थोड़ा ध्यान से' (हिंदी और अंग्रेजी)। व्यंग्य शैली में प्रस्तुत यह नाट्य प्रदर्शन उन लोगों पर सवाल उठाता है जो महिलाओं के वस्त्रधारण को उनके साथ होने वाले बलात्कार व शारीरिक हिंसा से जोड़कर देखते हैं। इस प्रदर्शन में विभिन्न किस्म के ऐसे वस्त्रों को रंग सामग्रियों के रूप में उपयुक्त किया गया है जो भारतीय महिलाएँ अपने दैनंदिन जीवन में पहनती हैं। जो वस्त्र पितृसत्तात्मक समाज के लिए महिला उत्पीड़न का उपकरण है वही वस्त्र यहाँ नाटक में मल्लिका तनेजा के लिए पितृसत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध खड़ा करने की सशक्त सामग्री बन जाती है।

माया कृष्ण राऊ द्वारा निर्देशित 'खोल दो' तथा सुषमा देशपांडे द्वारा निर्देशित 'व्हय मि सावित्री बाई' निम्मी राफेल द्वारा अभिनीत 'निद्रावत्वम' इन तीनों नाट्य प्रस्तुतियों में बहुत कम प्रोपर्टीस और सेट का इस्तेमाल करते हुए पूरे प्रदर्शन का रूपायन किया गया है। बिना किसी रंग-सामग्री के सहारे ही माया राऊ ने अपनी प्रस्तुति 'खोल दो' का रूपायन किया है जिसमें उनके लिए नाट्याभिव्यक्ति का माध्यम मात्र अपना शरीर है। सुषमा देशपांडे ने भी अपनी नाट्य प्रस्तुति में सेट और प्रोपर्टीस को कम ही महत्व दिया है। एकालाप शैली का संवाद और शारीरिक चेष्टाएँ ही उनके लिए संप्रेषण का माध्यम है। देह और आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से रूपायित नाट्य संरचना ही 'निद्रावत्वम' की विशेषता है जिसमें कोई रंगसमग्री का उपयोग नहीं किया गया है। केरल की रंगकर्मी सुरभी की नाट्य प्रस्तुतियों में भी स्टेज सेट, प्रोपर्टीस, कोस्ट्यूम आदि का प्रयोग बहुत कम मात्रा में ही पाया जा सकता है। वे ग्रोतोवस्की की पुवर थिएटर वाली संकल्पना से प्रभावित हैं। प्रदर्शक की देह को उसकी गतियों को तथा देहागत अभिव्यक्ति को वे महत्वपूर्ण मानती हैं।

प्रकाश, संगीत एवं ध्वनि-व्यवस्था रंगमंचीय प्रस्तुति का अनिवार्य अंग है। नाट्य-प्रस्तुति को एक कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रयुक्त करने में प्रकाश एवं ध्वनि-व्यवस्था का योगदान महत्वपूर्ण है। प्रमुख रंग-आलोचक रीतारानी पालीवाल ने नाट्य प्रस्तुति में प्रकाश योजना की के महत्व को सूचित करते हुए कहा है- "अभिनय-कला तथा उसके मध्यम गति को पूर्णतः व्यंजित करने के लिए पर्याप्त तथा समुचित प्रकाश की

आवश्यकता होती है। प्रकाश-व्यवस्था के माध्यम से दृश्यात्मक रूप में चाक्षुष संरचना तथा देश काल एवं घटना-स्थल को व्यंजित करने में सहायता ली जाती है। प्रकाश-व्यवस्था का प्रयोजन दृश्यबोध का सर्जन है। उसके द्वारा घटना-स्थल, संरचना एवं मनोभाव (मूड) की सृष्टि के साथ ही नाटकीय शैली-तत्त्व का व्यक्तीकरण किया जाता है।”² ध्वनि एवं संगीत योजना को भी रंगमंच पर महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। रंगमंच पर वातावरण को यथार्थता प्रदान करने के लिए ध्वनि एवं संगीत का प्रयोग अत्यंत आवश्यक है। तकनीकी उपलब्धियों के विकास के साथ ही आज की नाट्य-प्रस्तुतियों में ध्वनि-प्रभावों का विशेष महत्त्व बढ़ा है। कुछ महिला रंगकर्मियों की नाट्य प्रस्तुतियों में प्रकाश एवं ध्वनि व्यवस्था के क्षेत्र में कुछ विशेष प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए उषा गांगुली निर्देशित हम मुख्तार नाटक की प्रस्तुति में बलात्कार की घटना को दिखाते समय लाल रंग के प्रकाश का इस्तेमाल किया गया है। लाल रंग स्त्रियों के मासिक रक्त से संबंधित है। मासिक रक्त स्त्रैणता या स्त्रीत्व की जैविकता का सूचक है। बलात्कार का मतलब स्त्री के अपने स्त्रीत्व के ऊपर किया जाने वाला अत्याचार। इसलिए बलात्कार की अभिव्यक्ति के उपयुक्त रंग लाल का प्रयोग दर्शकों के लिए एक अनन्य दृश्यानुभूति प्रदान करने में सफल रहा है। के. श्रीलता द्वारा निर्देशित एवं अभिनीत ‘इको ऑफ द डे’ नामक मलयालम नाट्य-प्रस्तुति में प्रकृति और स्त्री के बीच के अटूट संबंध को अभिव्यक्त किया गया है। इसलिए इस नाट्य-प्रस्तुति में कृत्रिम प्रकाश से भी ज्यादा महत्ता प्राकृतिक प्रकाश को दिया गया है। जलती मशाल, दीपक आदि स्रोतों के सहारे प्रस्तुतीकरण को रूपायित किया गया है जो स्त्री और प्रकृति के संबंध की नैसर्गिकता को घोषित करने में काफी समर्थ दिखाई देते हैं। सी.वी.सुधी द्वारा निर्देशित ‘आनुनाल इल्लाता पेनुनाल’ सुरभी द्वारा निर्देशित ‘घोराक्षस’ में तथा के.श्रीलता के द्वारा निर्देशित ‘इको ऑफ द डे’ आदि नाट्य-प्रस्तुतियों में प्रकृति और स्त्री से जुड़े प्रसंगों में हरे रंग का प्रकाश फैलाया गया है। हरा रंग उर्वरता का प्रतिनिधि है। उर्वरता स्त्री की अपनी नैसर्गिक विशेषता है। अतः हरा रंग स्त्री की उर्वरता, प्रकृति के साथ उसके गहरे संबंध आदि को अभिव्यक्त करने में बिलकुल सक्षम है। प्रकाश योजना के समान कुछ नाट्य-प्रदर्शनों में ऐसे संगीत एवं ध्वनि-विन्यास पाए जाते हैं जो स्त्रीत्वपरक विशेषताओं के अनुकूल हैं। नीलम मानसिंह चौधरी, वी. पद्मा मंगई तथा के.वी. श्रीजा के नाट्य-प्रदर्शनों में कुछ ऐसे लोक गीतों का प्रयोग किया गया है, जो गाँवों में पारंपरिक रूप से स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। ऐसे लोक गीत स्त्रियों के अपने स्वाभाविक एवं स्वत्वपरक अनुभवों की अनन्य माहौल मंच पर रूपायित करने के लिए बिलकुल संगत दिखाई देते हैं। इसी प्रकार के.वी.श्रीजा के द्वारा निर्देशित ‘कलंकारियुडे कथा’ नाट्य-प्रस्तुति में संवादों के रूप में कहीं-कहीं छोटे-छोटे गीतों का इस्तेमाल किया गया है। माया राऊ द्वारा निर्देशित ‘खोल दो’ नाट्य-प्रस्तुति में पूरा प्रदर्शन पार्श्व-संगीत के साथ समन्वित करके रूपायित किया गया है। वीणापाणी चौला निर्देशित नाट्य प्रस्तुतियों में पारंपरिक वाद्यों की ध्वनियों को नाट्याभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है। नीलम मानसिंह ने अपने प्रदर्शन ‘द लाइसेंस’ में लाइव म्यूजिक का प्रयोग किया है। मंच के एक विशेष जगह पर बैठकर कलाकार लोक वाद्यों के साथ लोक गीतों का आलापन नाटक के बीच-बीच में करते हैं। नगीन तनवीर द्वारा निर्देशित ‘राजरक्त’ नाटक में भी बंगाल के भक्तिमय लोक गीतों का आलापन लाइव ढंग से किया गया है। इसी प्रकार रसिका अगाशे द्वारा निर्देशित ‘म्यूजियम ऑफ स्पीशिस इन डेंजर’ नाट्य-प्रस्तुति में भी लाइव म्यूजिक की व्यवस्था की गयी है, जिसमें काफी लोकप्रिय फिल्मी गानों को शामिल किया गया है। इस नाटक में स्त्रियों की समस्याओं को व्यंग्य रूप में अभिव्यक्त किया गया है। अतः बीच-बीच में, लोकप्रिय फिल्मी गीतों का प्रयोग बिलकुल संगत दिखाई देता है। केरल की प्रमुख रंगकर्मी आशा देवी द्वारा निर्देशित एकल नाट्य-प्रस्तुति है ‘ब्रोकन इमेज्स’ जो गिरीश कर्नाट की रचना पर आधारित है। इसमें पात्र के साक्षीमन के रूप में एक और अदृश्य पात्र मौजूद है। इस अदृश्य पात्र को प्रस्तुत करने के लिए अभिनेत्री की ही आवाज को रिकॉर्ड करके प्रयुक्त किया गया है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि समकालीन महिला नाट्य-निर्देशकों ने अपनी नाट्य-प्रस्तुतियों के माध्यम से भारतीय रंगमंच के तथाकथित पुरुष केंद्रित परिप्रेक्ष्य को परिवर्तित करने का वैकल्पिक कदम उठाया है। महिला निर्देशकों द्वारा रूपायित नाट्य प्रस्तुतियों की रूप संरचना पर सूक्ष्मता से विचार करने पर दो बात स्पष्ट होती है। पहला इन निर्देशकों ने प्रदर्शन स्थल, मंच व्यवस्था, रंग सामग्री, प्रकाश एवं ध्वनि योजना इत्यादि नाट्य प्रस्तुति के रूप विधान से संबंधित विभिन्न पहलुओं पर अन्यान्य प्रयोग करते हुए रंगमंच पर सदियों से अंतर्भूत पुरुष-कल्पित रूढ़-प्रारूपित छवियों को तोड़कर स्त्रियों की विशेष संवेदनशीलता एवं अनुभूति स्तर को उजागर करने का प्रयास किया है। तो दूसरा इन स्त्रीपक्षीय हस्तक्षेपों से भारतीय रंगमंच के क्षेत्र में एक प्रति-दृश्य-संस्कृति एवं नवीन सौंदर्यबोध आविर्भूत होता दिखाई भी देता है।

संदर्भ :

1. नेमीचंद्र जैन, रंगदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983, पृ. 73
2. रीतारानी पालीवाल, रंगमंच नया परिदृश्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 64



स्त्री अस्मिता

- ज्योति वर्मा (शोधार्थी)
- अमृता (शोध पर्यवेक्षक)

अस्मिता, मनुष्यता के विकासक्रम में मानवीय भूमिका को उसकी भीतरी और बाह्य चेतना के साथ रेखांकित करने वाली मनःस्थिति है। जैसे-जैसे मनुष्य अधिक प्रगतिशील, विज्ञानसम्मत और धार्मिक सहिष्णुता के स्तर पर विकसित हुआ वैसे-वैसे अस्मिताओं ने अपने जीवनानुशासन और समालोचनात्मक दृष्टि को भी विकसित किया। अस्मिता की खोज बाह्य और आंतरिकता के विभाजन से हटकर एक समाज वैज्ञानिक विकास में अपनी कसौटी की खोज है। मनुष्यता के इतिहास के साथ हम शोषण, उत्पीड़न, लैंगिक असमानता और सत्ता केन्द्रीयकरण का इतिहास भी पल्लवित होते देखते हैं। सदियों से होते आये लैंगिक दमन और असमतामूलक राजनीति ने स्त्री-अस्मिता के अध्ययन को नवीन सामाजिक दर्शन का एक जरूरी हिस्सा बना दिया है।

अस्मिता का हेतु और उसका ध्येय सामाजिक ही होता है। प्रथमतः व्यक्ति सामाजिक परिस्थिति और संबंधों में अपनी पहचान और उपस्थिति को सुनिश्चित करता है और फिर निजी स्तर पर अपने स्वत्व को सामाजिक अभिप्राय के साथ संयुक्त करने का प्रयास करता है। यह चरणबद्ध न होकर निरन्तर समानान्तर प्रक्रियाएँ हैं। जिस तरह से समाज व्यक्ति के उपयोग और उसकी उपादेयता को परिभाषित करता है उसी तरह व्यक्ति भी समाज की आकांक्षाओं और उसके दायित्व का वहन करता है। यह एक समूहगत प्रणाली है। समस्या तो तब आती है जब कोई एक पक्ष दूसरे पक्ष पर नियंत्रण करने या हावी होने की भावना से संचालित होता है। यदि व्यक्ति समाज पर बलपूर्वक हावी होता है तो वह समाज की मौलिक संरचना को ध्वस्त करता है। जैसे-जैसे विभिन्न मानवीय तौर तरीकों ने अपनी पहचान को बढ़ाया, उसे नये रीति-रिवाजों से जोड़ा और धार्मिक, वैज्ञानिक मान्यताओं के साथ घुला-मिला दिया वैसे-वैसे अस्मिताएँ व्यावहारिक रूप से कठोर और तल्लू तेवर वाली होती गयी। यह मनुष्य की बौद्धिक क्षमता और उसका व्यक्तित्व, सामाजिक परिस्थिति और जीवन को विकृत करता है। इससे न्याय और समूहगत धारणाओं के हास की प्रवृत्ति बढ़ती है जो कि अनुचित है। अस्मिता के सवाल व्यक्तिगत पहचान के साथ-साथ सामाजिक अस्तित्व और स्थापत्य के भी सवाल हैं। बिना सामाजिक भूमिका के अस्मिता के सवाल भी सम्बोधित नहीं किये जा सकते। इसलिए अस्मिता के सवाल जितने व्यक्तिगत पहचान को तलाशने के हैं उतने ही समाज के द्वारा बनायी गयी असमानता और विषम अस्तित्वहीनता के भी हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि अस्मिता जितनी स्वयं के प्रति प्रश्नाकुल होती है उतनी ही समाज के प्रति मुखर भी होती है। ध्यान रहना चाहिए कि स्वयं की पहचान और गौरव का अर्थ स्वयं से निःसंगता नहीं है। वस्तुतः सामाजिक अंतर्विरोधों के बीच व्यक्तिगत सत्ता का वस्तुगत सत्ता के साथ एक द्वन्द्वात्मक योग है। जैसा कि अभय कुमार दुबे कहते हैं “यह एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति और समुदाय यह बताते हैं कि वे खुद को क्या समझते हैं। अस्मिता का यह दायरा अपने आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ले लेता है जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी सीमा तक

जा सकते हैं।”¹

इन संदर्भों का आधार लेकर यह एक बात कही जा सकती है कि अस्मिता वैयक्तिकता, निजता, अहंता के साथ अपनी केन्द्रीय शक्ति के होने का बोध कराती है। और साथ ही वह भौतिकता की अन्य अनुभूतियों और समाज चिंतन की लोक उन्मुखता से जुड़े हुए अन्य पहलुओं से भी संबंध रखती है। यह समय-समय पर अपना परिवेश, अनुशासन और उसकी व्याख्या बदलती रहती है। यही वजह है कि कभी एक दूसरे के साथ संयुक्त होकर, कभी समानांतर रहकर और कभी प्रतिगामी बनकर व्यक्ति और समूह दोनों ही अस्मिता प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्षरत रहते हैं। अस्मिता के प्रति यही बहुआयामी तनाव इन्हें दिशाहीन होने से बचा ले जाता है। यह सही है कि आज के औद्योगिक शहरीकरण और पूँजीवादी आधुनिकता के दौर में अस्मिता के प्रश्न अधिक जटिल और विपर्यस्त हैं। इससे उनकी संघर्ष और प्राप्ति अधिक दुष्कर और सूक्ष्म हो गयी है। इस स्थिति को विश्लेषित करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं, “अब इस आइडेंटिटी नाम के तत्व ने अजब संकट खड़ा कर दिया है। अस्मिता जितनी मेरी है उतनी ही मेरे परिवेश और परम्परा की भी है। उसमें वर्ग, वर्ण, क्षेत्र, धर्म, लिंग, परम्पराएँ सभी कुछ घुसे और घुले मिले हैं।”²

अस्मिता संघर्ष की शुरुआत किसी भी वर्ग, जाति, परिवार, वंश, समुदाय, क्षेत्र, संगठित संस्था और यहाँ तक कि राष्ट्र के स्वयं को दमित, आक्रांत, वंचित और उत्पीड़ित होने के आधारभूत एहसास से शुरू हो जाती है। जिसमें अन्य सभी केन्द्रीय और प्रतिनिधि ताकतों के सामने सबसे बड़ा उद्देश्य अपनी पहचान और अधिकारों की रक्षा का होता है। ऐसे ही सत्ता के नियंत्रणवादी और शोषणवादी चरित्र के सम्मुख विवश और वंचित संस्कृतियाँ अपना स्वर मुखरित करने लगती हैं। इस संदर्भ में अर्चना वर्मा कहती हैं, “अस्मिता एक हद तक संबद्धता, सरोकार, लगाव और अपनत्व का प्रश्न भी है। जिसे अंग्रेजी में सेंस आफ बिलांगिंग कहा जाता है।”³

हम यह जानते हैं कि चाहे साहित्य का पक्ष हो या फिर सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य, वास्तविक मुद्दा हमेशा मानवीय विवेक और लोकाग्रहों के प्रगतिमूलक विकास का रहा है। जब तक किसी भी नागरिक, राजनीतिक, रचनाकार और संस्कृतिकर्मी की विचारधारा अनुभूत सांसारिकता से युक्त नहीं होगी, जब तक वह अंतरसंघर्ष से नहीं जुड़ेगी तब तक बाहरी टकरावों और विरोधों का सामना भी नहीं कर सकेगी। किसी कारण से अस्मिता प्राप्ति का संघर्ष बहुत बार हिंसक अभियानों और आत्महन्ता प्रवृत्तियों की ओर भी मुड़ जाता है जैसा कि अमर्त्यसेन कहते हैं, “अस्मिता को प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा हिंसा को जन्म देती है। अपनी अस्मिता पर आये खतरे के समक्ष अन्य भावनाएँ जैसे सहानुभूति, सहनशीलता, सद्भावना इत्यादि क्षीण हो जाती हैं तो पहचान की भावना हत्याएँ भी करवा सकती है। किसी समूह के अंग होने की पहचान और यह कि हम दूसरों से अलग हैं कई दफा दूसरे समूहों से दूरियाँ और उनसे भिन्न होने का भाव भी पैदा करता है।”⁴

अभिप्राय यह है कि पहचान जब भी आपत्तिग्रस्त होती है और कुछ संगठित शक्तियों द्वारा अपने नैसर्गिक अधिकार और समान विकास के अवसरों को छिनता हुआ देखती है तो संघर्ष का आवेग प्रतिहिंसा में भी बदल जाता है। सत्तासमर्थित उपेक्षा या समुदाय विशेष द्वारा प्रायोजित निषेध और अवमानना उत्पीड़ित और परिधगत समाज को किसी भी असंगठित आंदोलन के स्वरूप में बदल सकते हैं।

नामवर जी कहते हैं कि एक व्यक्ति या समाज बहुत सारी अस्मिताओं को लेकर पैदा होता है। उनमें से कोई एक प्रतिनिधि अस्मिता उस व्यक्ति और समाज का नेतृत्व करती है और बाकी सभी अस्मिताएँ उस एक अस्मिता की लक्ष्य प्राप्ति के लिए सहयोगी का काम करती हैं। हालांकि कभी-कभी यह भी होता है कि सभी अस्मिताएँ एक साथ आपस में टकराव की स्थिति में आ जाएँ जो कि व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक है। ऐसे में समुदाय को व्यक्ति और व्यक्ति को समुदाय का शत्रु मान लिया जाता है।

राजेन्द्र यादव इस विषय में लिखते हैं, “अस्मिता अपनी निजी पहचान के साथ-साथ उस क्षेत्र और समाज

की पहचान भी है जो हमारे संदर्भ तय करते हैं। यह संदर्भ जाति, वर्ग, रंग, नस्ल, क्षेत्र, भाषा, जेंडर तथा पेशे इत्यादि के रूप में हमारे अंतरंग (साइकी) के हिस्से हैं।”⁵

तो ऐसे हम देखते हैं कि अस्मिता बोध का लक्ष्य और स्वप्न स्पष्ट है- कि अपनी चेतना और व्यक्ति निष्ठा की प्रतीति, अपने अस्तित्व के प्रति संवेदनशील ईमानदारी और अभिव्यक्ति को अपने जीवनमूल्यों तथा सामाजिक सरोकारों के अनुकूलन में बनाये रखना।

वर्तमान में अस्मिता विमर्शों की विचारधारा और मुद्दे अलग-अलग होने के बावजूद सभी आंदोलन अस्मिता आंदोलन का दावा जरूर करते हैं। हालांकि इस अस्मिता का स्वरूप सभी के लिए एक जैसा और सुपरिभाषित नहीं है। जब कोई समुदाय अपनी अस्मिता तलाशने की कोशिश करता है तो उसके सामने ये सवाल सहज ही आ जाते हैं कि ‘हम कौन हैं?’ और दूसरे समुदायों के मुकाबले हमारी समाज में क्या हैसियत है? या हमारे बीच क्या सह संबंध है? इन सवालों से टकराकर ही व्यक्ति/समुदाय अपनी अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया की शुरुआत करता है।

स्त्रियाँ अपने अस्मिता के लिए जिन सवालों से टकराती हैं और परस्पर वाद-विवाद करती हैं उसे ही स्त्री विमर्श के रूप में देखा जाता है। सामान्य शब्दों में कहें तो स्त्री के अस्तित्व को रसोई व बिस्तर के गणित से परे स्थापित करने की मुहिम ही स्त्री अस्मिता है। स्त्री अस्मिता का मतलब है- स्त्री-पुरुष के बीच घटने वाले संबंधों को बिना नकारे, उसके पारस्परिक संबंध से मुक्ति। नारी तुम केवल श्रद्धा हो, देवी माँ, सहचरि प्राण जैसे ब्रह्म वाक्यों को सुनते हुए होश संभालने वाले इस सामाजिक मानस को परिवर्तित कर देना अकल्पनीय बात थी, लेकिन पिछले कुछ दशकों में उभरे सामाजिक अस्मिता के आन्दोलनों ने स्त्री की छवि, स्त्री की सामाजिक स्थिति और स्त्री के बारे में प्रचलित रूढ़िगत और मिथकीय अवधारणाओं को तोड़ा है।

आधुनिकताबोध और सांस्कृतिक विमर्श की मानवाधिकारवादी पद्धतियों ने स्त्री-चिंतन की वैचारिकी को अस्पष्टता और आकस्मिकता से बाहर निकाला है। जहाँ सामाजिक समीकरण में पुरुष की सत्ता प्रधान इकाई के रूप में सुरक्षित और सम्मानित मानी जाती है। वहाँ स्त्री-जीवनशैली का मूल स्वर नगण्य और अनसुना ही रहता है। उसकी चुप्पी ही उसका शृंगार और सेवा ही संस्कार माने जाते हैं। यदि वह स्वयं को अभिव्यक्त कर सकती है और अपने अस्तित्व के लिए चुनौती दे सकती है तो उस समूचे सांस्कृतिक एकीकरण का प्रतिरोध कर रही होती है जिसमें परंपराओं और रीतियों के नाम पर निरंकुशता का पोषण होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जब स्त्री मुखर होती है तब वह समस्त असमानताओं के लिए परिवार, समाज और समुदाय से अपना विरोध दर्ज करा रही होती है।

इसके जरिए स्त्री के स्वत्व और वैचारिक चेतना को या तो किसी पौराणिक भावुक नियतिवाद में झोंक दिया जाता है या तो किसी भ्रमित रहस्यवादी उपभोग में ढकेल दिया जाता है। किसी भी वर्ग की सत्ता अपनी अधीनस्थ समाजिकता के साथ जैसा व्यवहार करती है उससे उस सत्ता की मनुष्यता के प्रति प्रामाणिकता और उत्तरदायित्व का पता चलता है। जैसा कि निवेदिता मेनन कहती हैं, “खूब लड़ी मर्दानी वो तो झांसी वाली रानी थी” इस पंक्ति का क्या अर्थ निकलता है; वास्तविकता में यह उस सूरत में भी जब कि एक औरत ऐसे अपरिमित शौर्य और वीरता का प्रदर्शन कर रही है उसके इस गुण को नारी सुलभ गुण नहीं माना जा रहा था यानी कुल मिलाकर बहादुरी का गुण पुरुषों की ही विशेषता कहलाती है। फिर भले ही कितनी भी औरतें बहादुरी का प्रदर्शन करती रहें और कितने ही पुरुष पीठ दिखाकर भाग खड़े होते रहें।”⁶

सदियों से उसके जिस ‘स्व’ का अपहरण पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने किया था उसे अब वह वापस पाने के लिए प्रयासरत है। स्त्री मुक्ति की बात करते हुए ये जानना जरूरी है कि स्त्री को किससे मुक्ति चाहिए? किसने उसे अधीन बना कर रखा है? और स्त्री भी अधीन बनी रही, इसके क्या कारण हो सकते हैं? रमणिका

गुप्ता लिखती है कि, “एक साझी व्याख्या तो स्त्री की समझ में आ ही गई है कि पुरुष ने उसके मन को गुलाम बनाने से पहले उसे परिवार, ब्याह, संतान और समाज की लक्ष्मण रेखाओं के बाड़े में कैद करके उसके शरीर को गुलाम बनाया और उसे सभी अधिकारों से वंचित किया। पुरुष को जब जरूरत हो तो प्यार, आलिंगन व चुंबन के हथियार का इस्तेमाल कर या उसके रूप का बखान कर उसे गौरवान्वित किया- सर्वोत्तम करार किया, लेकिन उसके सब अधिकार छीन लिए ताकि वह उसी के प्रति समर्पित रहे। किन्तु, आज समय बदल रहा है, वह इस छद्म को पहचान गई है। आज वह घर, परिवार, पुरुष का सुरक्षात्मक छाता, रिश्तों की भावनात्मक बेड़िया- सभी को नकार अपनी अस्मिता के निर्माण के लिए जूझने लगी है।”

यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि स्त्री-स्वतंत्रता की बुनियादी प्रक्रिया स्वत्व की खोज और इतिहास की सर्वसमावेशी नियति में स्वयं को रेखांकित करती है। सत्ता की पितृसत्तात्मक तकनीक अपने ढंग से काम करती है वह स्त्री के सौंदर्य को उसके ही विरुद्ध इस्तेमाल करके उसे मनुष्य से पदार्थ होने की ओर ढकेल रही है ताकि वह निजी अधिकारों और मुक्ति की पद्धति से विचलित हो जाये।

कुमकुम राय ने लिखा है कि, “एक तरफ हमें गार्गी जैसी महिला दार्शनिकों की चर्चा मिलती है वहीं इस बात के बहुत थोड़े प्रमाण मिलते हैं कि शिक्षा प्रसार के औपचारिक संस्थानों में बतौर छात्रा या शिक्षिका, महिलाएँ भी उपस्थित थीं। दूसरे शब्दों में, ऐसी महिलाएँ भी संभवतः नियमित बौद्धिक गतिविधियों में हिस्सेदारी करने के बजाय सिर्फ गाहे-बगाहे ही अपनी उपस्थिति दर्ज कराती थीं।” इस स्थिति को और इस व्यवस्था को व्यवस्थित करने में मनु महाराज कैसे पीछे रहते। उन्होंने स्त्रियों को उपनयन संस्कार में शामिल होने से रोका। चूँकि उपनयन संस्कार पवित्र ज्ञान प्राप्ति का प्रारम्भिक बिंदु था। इसे और गहरे स्थापित करने के लिए उन्होंने कई विकल्प भी सुझाए; जैसे- ‘स्त्रियों के लिए विवाह करना पुरुषों के उपनयन के समकक्ष है, पति की सेवा करना छात्र होने के समान है और घर के कामों को संपन्न करना पवित्र अग्नि की पूजा अर्चना के समान है’ (मनुस्मृति, प्रकरण 2-67) कुमकुम राय ने लिखा है कि “ऐसे निर्देशों को स्वीकार कर लेने का मतलब होता है कि कोई भी गैर घरेलू काम को नारीत्वहीन और गैर पत्नी कार्य माना जाता।”

अनामिका ने पितृसत्ता के नजरों में स्त्री की जो छवि निर्मित है उसकी बानगी प्रस्तुत किया है-

‘पढ़ा गया हमको / जैसे पढ़ा जाता है कागज
बच्चों की फटी कापियों का / ‘चनाजोर गरम’ के लिफाफे के बनने से पहले
देखा गया हमको / जैसे कि कुप्त हो उनींदे
देखी जाती है कलाई घड़ी / अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद
सुना गया हमको / यों ही उड़ते मन से
जैसे सुने जाते हैं फिल्मी गाने सस्ते कैसैटों पर / ठसाठस्स ठुंसी हुई बस में
भोगा गया हमको / बहुत दूर के रिश्तेदारों के दुःख की तरह।’

और आखिरकार इन स्थितियों से अफना कर लिखती हैं कि-

हे परमपिताओं / परमपुरुषों-
बख्शो, बख्शो, अब हमें बख्शो!

आज स्त्री मजबूर नहीं है, वह अपना अस्तित्व समझने लगी है। उसे यह पता हो गया है कि उसकी गतिशीलता को बाधित करने के लिए ही पुरुष-सत्तात्मक समाज वर्जनाओं की बेड़ियाँ गढ़ता रहा है। स्त्री की ममता को उसकी कमजोरी मानकर पुरुष ने उसकी ममता ग्रन्थि को बेड़ी बनाकर स्त्री को गतिहीन कर दिया। उसकी कोख, उसकी देह और उसके सेक्स पर किसी एक पुरुष के आधिपत्य का सिद्धांत इसलिए गढ़ा गया कि उन्हें एक ‘वस्तु’ बना दिया जाय और वे खुद भी अपने को वस्तु ही समझें। इसके लिए पितृसत्तात्मक समाज

ने रिश्तों का जंजाल बुना और इन रिश्तों की मर्यादा को त्याग और ममता से सींचने का ठेका पुरुषों ने स्त्रियों को दे दिया। पुरुष जब मन करे तो रिश्तों को तोड़ ले लेकिन स्त्री नहीं तोड़ सकती। अगर वह तोड़ देती है तो उसे वाचाल तथा हठधर्मी कहकर, उसे डायन कहकर सरेआम नंगे पूरे गाँव में घुमाए जाने का रिवाज पुरुष जाति ने बनाया। लेकिन स्त्री भी अब खुलकर बोलने लगी है, वह अब ताल ठोंक कर कह रही है कि हाँ मैं बुरी औरत हूँ। निरुपमा दत्त ने लिख है कि, “तुम मेरे शहर आओगे/ तो बुरी औरतों की फेहरिस्त में मेरा नाम भी दर्ज पाओगे/ मेरे पास है वह सब कुछ/ जो एक बुरी औरत के पास होना/ बेहद जरूरी है/ मुँह में जलती आग/ धड़कता दिल/ थिरकती रग-रग/ हाथ में छलकता जाम/ पाँव चले सड़क/ ऊपर खुला आसमान/ सहने का मेरा हौसला बेमिसाल है/ मेरे पास कहने को पूरा आसमान है।”

जब स्त्री के अन्दर इतना आत्मसम्मान आ जाता है तभी वह निर्णय ले पाती है। निर्णय लेने के अधिकार को ही पन्ना नायक ‘स्त्री मुक्ति’ कहती है—

“दो पैरो में से / कौन-सा एक पैर

खौलते पानी में रखूँ / और कौन-सा जमी हुई बर्फ पर

यह निर्णय लेने का अधिकार / यानि ‘स्त्री मुक्ति’।

वर्तमान में स्त्री अस्मिता स्त्रीवाद की वैचारिकी के साथ साहित्य में अत्यंत विश्वसनीय रूप से एक सतत संघर्ष यात्रा और आंदोलन के रूप में निरंतर समृद्ध हो रही है। स्त्री लेखन सामाजिकता और दैहिकता के प्रश्नों को समांतर लेकर चलते हुए पितृसत्ता पर तर्कपूर्ण प्रहार कर रहा है। स्त्री साहित्य, स्त्री चेतना को केवल भावनात्मक कसौटी पर नहीं बल्कि बौद्धिकता के मानदण्ड पर परखता है। यह बौद्धिकता स्त्री के प्रति पितृसत्तात्मक मानसिकता की संकीर्ण और क्षुद्र सोच के प्रखर विरोध पर आधारित है। समकालीन परिदृश्य में असंख्य स्त्री रचनाकार स्त्री के सच और स्वप्न को जिस यथार्थवादी दृष्टिकोण, प्रामाणिकता व विश्वसनीयता से लिख रही है, वह हिन्दी में अभूतपूर्व है। इनके लेखन के केन्द्र में स्त्री जीवन की ज्वलंत समस्याएँ हैं तथा उन मर्यादाओं की तीखी आलोचना है, जिन्होंने हमेशा स्त्री समाज का खुला शोषण व दमन किया है। हिन्दी का स्त्रीवादी साहित्य स्त्री को व्यवस्था की गुलामी से मुक्त करके उसे एक आत्मनिर्णायक स्वतंत्र व्यक्ति की अस्मिता के रूप में स्थापित करने का महत्वपूर्ण व सार्थक प्रयास है।

आधुनिक नारी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुई है। अब उसने अपने अस्तित्व व अस्मिता को पहचानते हुए परम्परागत रूढ़ ढाँचे को तोड़ा है। इस तरह यह आधी आबादी अपने सकारात्मक संघर्ष के बाद विकासोन्मुख आमूल-चूल परिवर्तन के लिए उद्यत है।

सन्दर्भ :

1. भारत का भूमण्डलीकरण, संपादक- अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, 2007, पृ. 455
2. हंस, राजेन्द्र यादव, जून 2003, पृ. 9
3. अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा, मेधा बुक, जनवरी 2008, पृ. 32
4. हिंसा और अस्मिता का संकट, अनुवादक महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, पृ. 19-20
5. हंस, राजेन्द्र यादव, जून 2003, पृ. 9
6. नारीवादी राजनीति, संघर्ष एवं मुद्दे, निवेदिता मेनन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ. 9
7. संपादकीय ‘खरी-खरी बात’ से, ‘युद्धरत आम आदमी’ संपा. रमणिका गुप्ता पूर्णांक 108, 2011



स्त्री की प्रगति में परिवार का योगदान : 'छूटे पन्नों की उड़ान' के संदर्भ में

○ अंजली

स्त्रियों के लिए अपने बारे में लिखना हमेशा से चुनौतीपूर्ण रहा है। पश्चिमी और भारतीय समाज व्यवस्था में ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि स्त्री की अपनी कोई स्वतंत्र पहचान, अस्मिता या सत्ता (एजेंसी) नहीं थी। यदि वह कहीं निर्णायक पदों पर थी तो पैतृकवाद के चलते थी। ऐसे में स्त्री की स्थिति बहुत ही विचारणीय हो जाती है क्योंकि वह पितृसत्ता से संचालित होती है। किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य ने स्त्रियों को ऐसे अवसर दिए हैं जिससे वे अपने जीवन को व्यक्त कर पाईं। हालाँकि 20वीं सदी के आरंभिक लेखन पर हाल में हुए शोध कार्यों से 'अबलाओं का इंसफ' (लेखिका स्फुरना देवी) और 'सरला : एक विधवा की कहानी' (दुखिनीबाला) जैसी आत्मकथाएँ प्रकाश में आई हैं, जिससे हमें उस समय की स्त्रियों की चिंताओं के बारे में पता चलता है। कृष्णानन्द गुप्त आत्मकथा की सार्वकालिक विशेषता के बारे में लिखते हुए कहते हैं कि "आत्म-कथा साहित्यिक शैली और रूढ़ियों से परे की वस्तु है। कविता अथवा उपन्यास की प्रथा-सम्मत शैली जिस दिन पुरानी पड़ जाती है, उस दिन उनके प्रति हमारा आकर्षण भी कम हो जाता है। कला की वस्तुएँ हमें सदैव एक-सा आनंद प्रदान नहीं कर सकतीं। उनके प्रति हमारा आकर्षण अधिकांश में उनकी अभिनवता पर अवलंबित है। जहाँ पुरानी पड़ी, उनके प्रति हमारा प्रेम भी घट जाता है; परंतु आत्म-कथा चिर-नवीन वस्तु है। उसका संबंध सीधा मनुष्य-प्रकृति से है, जो सत्य और चिरंतन है। इसी से आत्म-कथाएँ हमें अच्छी लगती हैं। सत्य को पाने की आशा से हम उन्हें पढ़ते हैं। मनुष्य स्वभाव से ही सत्य प्रिय है।" शायद यही कारण है कि बीसवीं सदी के आरंभ में भी और बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में स्त्री लेखन में आत्मकथा लेखन में निरंतरता दिखाई देती है। स्त्री लेखन में अब तक परिवार और समाज की भूमिका और संरचना का आलोचनात्मक रूप देखने को मिलता है किन्तु अब परिवारों की सुधारात्मक भूमिका भी रेखांकित की जानी है। जिसने समय के साथ स्त्रियों को शिक्षित किया और उन्हें अपने बारे में सोचने-समझने और आत्मनिर्भर होने लायक बनाया।

आत्मकथा ने विमर्शवादी साहित्य में अपनी मुख्य पहचान बनाई है, क्योंकि स्त्री के बारे में अभी तक साहित्य में जो लिखा गया है वह स्त्री की एक मुकम्मल तस्वीर प्रस्तुत नहीं करता। साहित्य में स्त्री की जब तक वास्तविक छवि का चित्रण नहीं होगा, तब तक उनके प्रति परिवार और समाज में भी एक अधूरी छवि विद्यमान रहेगी। जो साहित्य के उद्देश्य पूर्ति में बाधक रहेगी। साहित्य एक ओर जहाँ व्यक्ति के मन का रंजन करता है वहीं वह मनुष्य के मन का परिष्कार भी करता है। वह आदमी को मनुष्य बनाने का काम करता है। आज के समय में स्त्री आत्मकथाएँ भी अपनी इसी भूमिका का निर्वहन कर रही हैं। इसी संदर्भ में यहाँ अनीता भारती की 2018 में प्रकाशित आत्मकथा का समालोचनात्मक अध्ययन किया जा रहा है।

अनीता भारती चर्चित स्त्री लेखिका और एक्टिविस्ट हैं, जिन्होंने अपने कॉलेज के समय से ही छात्र-छात्राओं

के साथ मिलकर उनके अधिकारों के लिए काम किया। उसके बाद भी उन्होंने निरंतर स्त्री से जुड़े कई संगठनों के माध्यम से लगातार स्त्रियों के मुद्दों को उठाया। अपने लेखन के माध्यम से उन्होंने स्त्रियों की चिंताओं को अपने विचारात्मक लेखन, कहानी, कविताओं में व्यक्त किया है। उन्होंने स्त्री अध्ययन से जुड़ी पुस्तकों का सम्पादन भी किया है। 'छूटे पन्नों की उड़ान' आत्मकथा के माध्यम से लेखिका ने अपनी माँ और पिता के शिक्षा में सहयोग और आगे बढ़ने की प्रेरणा के बारे में लिखा है। लेखिका की माँ ने अपनी दूसरी शादी के वक्त होने वाले पति के सामने यही शर्त रखी कि वे अपने बच्चों को खूब पढ़ाना चाहती है, जिसके लिए लेखिका के पिता ने जी तोड़ मेहनत की। बच्चों को पढ़ाने के लिए उनकी माँ और पिता दोनों ने प्रयास किए। पिता जहाँ एक ओर नुकसान उठाकर भी निरंतर अपना व्यवसाय स्थापित करने का प्रयास करते हैं, वहीं माँ घर में लिफाफे बनाने का काम करती थी ताकि बच्चों की शिक्षा में कोई बाधा न उत्पन्न हो। लिफाफे बनाने के लिए जो पत्रिकाएँ और अखबार रद्दी में आते थे उनसे लेखिका को और उनके सभी भाई-बहनों को पढ़ने का चस्का लगा और इस आदत का उन्हें भावी फायदा अपनी शिक्षा में मिला। आत्मकथाकार लिखती हैं, “हम सबको पढ़ते देख उन्हें आंतरिक खुशी होती थी। अपने बचपन में वे बहुत पढ़ना चाहती थीं पर नहीं पढ़ पायीं, इसलिए वे पढ़ाई की कीमत समझती थीं। जहाँ एक ओर यह रोजगार हमें अपनी माँ के साथ सभी भाई-बहनों को काफी करीब ले आया। वहीं दूसरी ओर इस लिफाफे बनाने के घरेलू रोजगार ने हम सब भाई-बहनों को सोचने-समझने, तर्क-वितर्क और जीवन में अपने सिद्धांत बनाने व चुनने लायक बनाया।”²

लेखिका के सातवीं कक्षा में आने पर उनकी माँ ने अपनी आत्मकथा लिखवानी शुरू कर दी। उनकी माँ शुरू से ही गलत चीजों के प्रति विद्रोही प्रवृत्ति रखने वाली रही और साथ ही पढ़ने-लिखने-समझने में होशियार रही। अपने पहले पति की बदतमीजी की शिकायत उन्होंने पुलिस से कर दी थी और वह उस व्यक्ति के साथ रहना भी नहीं चाहती थी; इसलिए उनकी पहली शादी टूट गयी थी। उनकी माँ के व्यक्तित्व में हम देख सकते हैं कि वे काफी खुदार और परिश्रमी स्त्री रही जिन्होंने अपने बच्चों के भविष्य को बेहतर बनाने के लिए सब तरह के परिश्रम किए। लेखिका बताती हैं कि उनकी माँ की मानसिक विक्षिप्तता की बीमारी भी भविष्य के प्रति असुरक्षा की भावना थी क्योंकि उनके पिता का व्यवसाय बार-बार असफल हो जाता और निरंतर बच्चों के पढ़ाई-लिखाई के खर्चे बढ़ रहे थे। रहने के लिए भी बार-बार जगह बदलनी पड़ रही थी ऐसे में उन्हें लगता था कि उनके बच्चों का क्या होगा? “वे हमेशा हमारे बारे में सोचती रहतीं। उन्हें हम सब बच्चों की चिंता हर समय सताती रहती थी। अगर हम भाई-बहनों को स्कूल से आने में थोड़ी-सी भी देर हो जाती तो वे पड़ोसियों को गाली देने लगतीं और जोर-जोर से रोने बैठ जातीं। शायद इसका कारण भाई जी (लेखिका के पिता) के बार-बार व्यवसाय फेल होने से उनमें अपने और अपने बच्चों के भविष्य के प्रति असुरक्षा की भावना कहीं अन्दर गहरे बैठ गयी थी।”³ माँ की मानसिक विक्षिप्तता इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि उनको कई बार शाहदरा के मानसिक स्वास्थ्य अस्पताल में भर्ती कराया गया लेकिन माँ के घर में होने की अहमियत को जानते हुए लेखिका लिखती हैं, “माँ बीमार थीं तो क्या घर में तो होती तो थीं। उनके अस्पताल में भर्ती होने के बाद तो हम छोटे भाई-बहन एकदम निपट अकेले हो जाते। मैंने अपने कई साल स्कूल से घर आने के बाद दोपहर को एकदम निपट अकेले काटे हैं। और इन निपट अकेले दिनों में कई बार मेरे साथ दुर्व्यवहार होते-होते बचा।”⁴ लेखिका का घर ऐसे मोहल्ले में था जहाँ रहनेवाले लोगों तक पढ़ाई-लिखाई की बहुत कम पहुँच थी इसके बावजूद भी उनकी माँ अपने बच्चों की पढ़ाई की कितनी चिंता करती थी। वे सिर्फ अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति ही नहीं बल्कि मोहल्ले में रहने वाले अन्य परिवारों को भी समझाती थीं कि अपनी लड़कियों को घरेलू काम में झोंकने की बजाय पढ़ने-लिखने स्कूल भेजे ताकि उनका जीवन बेहतर हो सके। उनकी बातों का असर मोहल्ले में कुछ लोगों पर हुआ भी, लोगों ने भी अपने बच्चों को स्कूल भेजना शुरू किया। इसीलिए लेखिका

लिखती हैं, “शिक्षा मनुष्य के सोचने समझने देखने की शक्ति में बदलाव ला देती है। मेरी माँ के नजरिये में भी पढ़ने लिखने का बहुत असर हुआ। वह हम सब भाई-बहनों को अपने से ज्यादा पढ़ाना-लिखाना चाहती थीं।”⁵

अक्सर देखा जाता है कि अभिभावक छोटे बच्चों के प्रति सचेत नहीं रहते हैं जिस कारण बच्चों की शिक्षा और उनके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। किन्तु लेखिका की माँ अपने बच्चों की कही हर बात पर भरोसा भी करती थीं और अपने बच्चों की सुरक्षा के लिए सचेत रहती थीं जिससे उनके बच्चे बचपन में स्कूल में कठोर व्यवहार करने वाले शिक्षकों से और आस-पड़ोस के लोगों के मौखिक या शारीरिक दुर्व्यवहार से बच पाते थे। ऐसी ही यौन शोषण की घटना की शिकायत जब लेखिका अपनी माँ से बचपन में करती है तो लेखिका की माँ आरोपी पड़ोसी को मारने के लिए ईंट उठा लेती है और बच्ची से दूर रहने की चेतावनी देती है। बच्चों की सुरक्षा और चिंता तथा पति के व्यवसाय के निरंतर असफल होने के कारण वे मानसिक रूप से विक्षिप्त भी हो जाती है। माँ को इलाज के लिए शाहदरा के पागलखाने में भर्ती कराने के बाद लेखिका आस-पड़ोस की भाभियों की मदद और देखभाल के कारण कई बार बाल-शोषण से बच पाती हैं।

स्कूल में बड़े बच्चों द्वारा छोटे बच्चों को परेशान करने की घटना के कारण भी लेखिका स्कूल जाने से बचती थीं लेकिन जब उनके पिता और बड़े भाई अशोक द्वारा इस पर ध्यान दिया गया तो लेखिका पुनः स्कूल जाने में रुचि दिखाने लगी। लेखिका इस तरह बहुत ही बारीकी के साथ बच्चों के जीवन में हो रहे बदलाव और बदलाव के कारण बच्चों के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभाव को रेखांकित करती है। वे पढ़ाई में अपने भाई के सहयोग से ही सातवीं कक्षा उत्तीर्ण कर पाई और आगे की उच्चतर शिक्षा ले पाई। इसलिए देखा जा सकता है कि परिवार का उनके जीवन में बहुत ही सकारात्मक योगदान है। वे लिखती हैं, “कभी-कभी किसी के एक छोटे-से सचेत हस्तक्षेप से किसी की दुनिया व समाज बदल जाते हैं। खासकर यह बात उन दलित बच्चियों पर लागू होती है, जो घरों में पैदा तो होती हैं, पर नजरअंदाजगी का जीवन जीती हैं।”⁶

कॉलेज जाने पर अनीता अपने अनुभवों के बारे में बताती हैं कि उनकी माँ को अनीता के बारहवीं पास कर लेने के बाद लेखिका की आगे की पढ़ाई की कितनी चिंता थी और वे अपनी बिगड़ी मानसिक हालत में भी लड़की को आगे पढ़ाने के लिए बराबर पति से कहती थी। तब लेखिका के बड़े भाई अशोक ने स्वयं माता सुंदरी कॉलेज में बी.ए. के दाखिले के लिए फार्म भरने और कॉलेज में दाखिला कराने में सहयोग किया। इसी तरह कॉलेज स्वयं आने-जाने के समय बसों की अनियमितता के कारण उन्हें भीड़ भरी बस में जाना पड़ता था जिसमें लड़कियों से सब उम्र के पुरुष छेड़छाड़ करते थे। जिसका हल उनके पिताजी (पैटर्न मास्टर) ने निकाला और उन्होंने कॉलर और कमर पर बेल्ट लगाने वाले दो सूट स्वयं सिलकर दिए जिनमें चुन्नी ओढ़ने की जरूरत नहीं होती थी। इसके बारे में लेखिका बताती हैं कि “मेरे पिता ने मेरी ड्रेस में बस थोड़ी हेरफेर करके मुझे ऐसी ड्रेस बना दी जिसने मुझमें आत्मविश्वास भर दिया। अब बस में केवल बैग ही संभालना होता था चुन्नी नहीं। बेल्ट और कॉलर वाले सूट ने मुझे शरीर से जितना मुक्त किया उतना मन से भी मुक्त किया।”⁷ लेखिका के भाई अशोक ने भी संकोची स्वभाव कम करने और आत्मविश्वासी बनाने में योगदान दिया। उन्होंने लेखिका को इस बात के प्रति भी आगाह किया कि नाटकों का शौक पढ़ाई के बाद भी पूरा किया जा सकता है। देखा जा सकता है कि लेखिका की शिक्षा में सहयोग के साथ-साथ भाई ने उसे शिक्षा के अलग-अलग पड़ावों पर मार्गदर्शन भी किया कि रचनात्मक गतिविधियाँ पूरक होनी चाहिए; शिक्षा के मूल्य पर उन्हें नहीं अपनाना चाहिए। इस प्रकार कह सकते हैं कि भाई उन्हें वास्तविकता के प्रति लगातार सजग भी कर रहा था।

दलित समुदाय के युवक-युवती के लिए कॉलेज की शिक्षा तक पहुँच पाना जितना मुश्किल होता है, उतना ही मुश्किल उसमें बने रहना भी होता है। कॉलेज स्तर की विद्यार्थियों के दाखिले संबंधी कई अनियमितताओं

को लेखिका और उनके 'मुक्ति' संगठन के साथियों ने अपने प्रयासों से हल करवाया। कॉलेज में ही भिन्न-भिन्न तरह के अनुभवों से अनीता को आगे बढ़ने और पढ़ने की प्रेरणा मिली। जैसे अपने आधुनिक किस्म के कपड़ों को पहनने के बारे में वे बताती हैं कि सब भाई-बहनों की पढ़ाई के खर्चे और माँ की मानसिक विक्षिप्तता की बीमारी के चलते उन्हें कॉलेज पहनकर जाने लायक कपड़े नहीं मिल पाते थे। ऐसे में पिताजी एक्सपोर्ट कंपनी से रिजेक्टेड कपड़े बच्चों के पहनने के लिए ले आते थे जिसमें ऐसे फैशनेबल कपड़े (पैन्ट-टीशर्ट) ही होते थे। यहाँ देखा जा सकता है कि लेखिका का परिवार सभी तरह की तंगियों के बावजूद परिवार के बच्चों की शिक्षा को बनाए रखने के लिए प्रयास करता है। इसी में पिताजी द्वारा कंपनी से रिजेक्टेड कपड़े लेखिका के लिए पहनने के लिए लाना भी एक प्रयास है। परिवार के बारे में लिखते हुए रचनाकार बताती हैं, “हम जिन गरीब और अनपढ़ परिवारों से आते थे, उन परिवारों में लड़के ही पढ़ जाँ यह क्या कम था। लड़कियों की तो बात ही छोड़ दो। अक्सर लड़कियों की शिक्षा पर लड़कों के बाद ध्यान दिया जाता है। पर मेरे माता-पिता हम सब भाई-बहनों की पढ़ाई के लिए बहुत सजग थे, खासकर माँ। उन्हीं की मेहनत का परिणाम था कि बहुत गरीबी-मुश्किलें-बाधाएँ होते हुए भी हम सब पढ़ निकले।”⁸

हमारे जीवन की दिशा क्या होगी, यह हमारे अपने निर्णय से तय होता है कि हमें किससे विवाह करना है और हमारा पार्टनर हमारे साथ कितना सहयोग करेगा। इसी संदर्भ में लेखिका आत्मकथा में अभिव्यक्त करती हैं कि शिक्षित और सामाजिक कार्यकर्ता होने के कारण उन्होंने तय कर लिया था कि वे किसी जीवन साथी के रूप में उनके विचारों और भावनाओं की कद्र करने वाले और ईमानदार पुरुष से ही शादी करेंगी जो ईमानदार हो और जिसे लेखिका द्वारा किए गए सामाजिक कार्यों से परहेज न हो। लेखिका को ऐसे जीवन साथी के रूप में राजीव एक पीस एक्टिविस्ट के रूप में मिले जिन्होंने उनके जीवन के सभी निर्णयों में सहयोग किया और जीवनसाथी की तरह हमेशा साथ निभाया। लेखिका का राजीव से अंतरजातीय विवाह होने के कारण राजीव के घर के लोग काफी समय तक नाराज रहे लेकिन राजीव के मजबूत साथ के कारण उनके परिवार के लोग भी धीरे-धीरे लेखिका को अपनाने लगे और उनके विवाह को अनीता के ससुराल वालों ने भी स्वीकार कर लिया।

लेखिका को अपने घर में माता-पिता का सहयोग और विवाह के पश्चात ससुराल में उन्हें पति का निरंतर सहयोग मिलता रहा है। जिस कारण, वे अपनी शिक्षा पूरी कर पाई और आत्मनिर्भर हो सकी। लेखिका बचपन में बहुत ही संकोची और अंतर्मुखी स्वभाव की थी। जिसे दूर करने में उनके माता-पिता के साथ-साथ भाई बहनों ने भी सहयोग दिया। सामान्यतः स्त्री की मोबिलिटी समाज में कम होती है क्योंकि उसके जीवन को लेकर और घर से बाहर की दुनिया को लेकर अनुभव कम होते हैं। लेकिन यदि उन्हें घर से बाहर की दुनिया के अनुभव हो तो स्त्री में भी संकोची और अंतर्मुखी स्वभाव की बजाय आत्मविश्वास आता है। आत्मविश्वास के लिए जरूरी है कि स्त्री को समाज में सभी स्तरों पर सहयोग प्राप्त हो। परिवार तो फिर समाज की मूलभूत इकाई है, यदि परिवार में स्त्री पर अपेक्षित ध्यान दिया जाए। उसे वक्त के अनुसार हर तरह से आत्मनिर्भर बनाया जाए तो स्त्री के साथ-साथ उससे समाज की प्रगति भी होगी क्योंकि स्त्री समाज का आधा हिस्सा है। इसलिए लेखिका अनीता भारती की आत्मकथा में उनके परिवार और हमसफर के रूप में राजीव का निरंतर सहयोग उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

लेखिका की प्रगति को यहाँ इस रूप में आँका जा सकता है कि परिवार के सहयोग से जहाँ एक ओर उनके व्यक्तित्व का विकास होता है, वहीं दूसरी तरफ वे सिर्फ अपनी प्रगति से ही निश्चित नहीं हो जाती; बल्कि समाज में आगे बढ़कर उन स्त्रियों के लिए भी सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में आवाज उठाती है जो सक्षम नहीं है। लेखन के माध्यम से भी लेखिका ने स्त्रियों के मुद्दों को उठाया है और उनके अधिकारों की पैरवी की है।

संदर्भ :

1. प्रेमचंद (संपादक), हंस : आत्मकथा अंक, भूमिका पुरुषोत्तमदास मोदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, जनवरी-फरवरी 1932 ई., तृतीय आवृत्ति 2014 : 168.
2. अनीता भारती, छूटे पन्नों की उड़ान, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2018 : 17.
3. वही : 17
4. वही : 23.
5. वही : 27.
6. वही : 33.
7. वही : 42.
8. वही : 54.



लघु पत्रिका 'उत्तरार्द्ध' में साहित्य विमर्श

○ सुरेश चन्द्र

साहित्य विमर्श साहित्य-जगत् का केन्द्रीय मुद्दा है। काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र के रूप में प्राचीन काल से साहित्य विमर्श होता आ रहा है। साहित्य विमर्श रचनाकार, आलोचक और पाठक तीनों के लिए बराबर उपयोगी होता है। लघुपत्रिका आन्दोलन की महत्वपूर्ण कड़ी रही 'उत्तरार्द्ध' पत्रिका के सम्पादकों ने इस पत्रिका में साहित्य विमर्श को प्रमुखता से स्थान दिया है। इस पत्रिका में प्रवेशांक से ही साहित्य विमर्श को अपेक्षित स्थान मिला है। एक तरफ सम्पादकों ने सम्पादकीयों में स्वयं साहित्य विमर्श किया तो दूसरी ओर अपने समय के स्थापित साहित्यकारों के साहित्य विमर्श केन्द्रित लेख प्रभूत संख्या में प्रकाशित किए हैं। 'उत्तरार्द्ध' पत्रिका में हुए साहित्य विमर्श पर प्रकाश डालने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है।

इस पत्रिका का प्रवेशांक साइक्लोस्टाल्ड रूप में अक्टूबर, सन् 1971 ई. में प्रकाशित हुआ था। पत्रिका का प्रवेशांक बृजेन्द्र कौशिक और महेन्द्र नेह के संयुक्त सम्पादकत्व में अस्तित्व में आया था। इसमें सम्पादकीय 'प्रारम्भ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इस सम्पादकीय में गम्भीर साहित्य विमर्श किया गया है। साहित्य का प्रयोजन मूल्यों के पुनर्स्थापन तथा मुक्ति संघर्ष के सन्दर्भ में निर्धारित किया गया है। साहित्य सृजन देश के नागरिकों को सही सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना प्रदान करने के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि देने के उद्देश्य से होना चाहिए। सम्पादकीय की अग्रांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं,

“विश्व के हर कोने में मूल्यों की पुनर्स्थापना एवं मुक्ति संघर्ष का प्रारम्भ हो चुका है। अतः आवश्यक है कि देश को सही सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना प्रदान करने के लिए साहित्य सृजन अनुकूल पृष्ठभूमि दे।”

'उत्तरार्द्ध' पत्रिका के अंक-4 में महेन्द्र नेह का 'नयी रचनाशीलता : नये विभ्रमों के बीच' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। जैसा कि लेख के शीर्षक से बोध हो रहा है, लेखक ने इस आलेख में साहित्य जगत् में विद्यमान भ्रमशीलता का उद्घाटन करते हुए रचनाशीलता को भ्रममुक्त बनाने की बात कही है। महेन्द्र नेह का मानना है कि पूँजीपति या उसका गुलाम लेखक और वामपंथी संशोधनवादी लेखक भ्रम की स्थिति पैदा करते हैं। इस स्थिति में महेन्द्र नेह रचनाकारों के लिए संघर्ष की सही दिशा और कार्यनीति निर्धारित करने का विचार रखते हैं। उनके शब्द हैं-

“आज की परिस्थितियों में मात्र आन्दोलन और संघर्ष की बातें करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि संघर्ष की सही दिशा और कार्यनीति क्या है? बिना यह तय हुए शोषक ढाँचे पर सही समय पर सही चोट होना कठिन है। जनता के अपने प्रतिबद्ध रचनाकारों को आज पूँजीवादी-सामन्ती व्यवस्था द्वारा फैलाये जा रहे भ्रमों और दमन के विरुद्ध भी हर मोर्चे पर निर्ममता से लड़ना है, वरना विकल्प संदृष्टि वाली बात एक छलावा ही रहेगी।”

पत्रिका के अंक-4 में ही रमेश उपाध्याय का 'व्यवस्था विरोध : कुछ जरूरी मुद्दे' लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक ने इस लेख में व्यवस्था विरोध के लिए लेखन की अपर्याप्तता पर विचार किया है। उनके मतानुसार व्यवस्था विरोधी लेखक को आवश्यक अनुशासन में रहते हुए शारीरिक रूप से क्रांति में भागीदारी करनी चाहिए।

पत्रिका के अंक-5 में प्रकाशित ओमप्रकाश ग्रेवाल का 'हिन्दी प्रगतिशील साहित्यधारा में बिखराव' शीर्षक लेख हिन्दी प्रगतिशील साहित्यधारा विषयक अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस निबन्ध में उन्होंने समकालीन हिन्दी की प्रगतिशील साहित्यधारा में व्याप्त बिखराव अथवा एकसूत्रता के अभाव के कारणों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि व्यवस्था-विरोध के लिए अनेक वर्गों के लोग उठ खड़े होते हैं। लेकिन इस विरोध के अन्तर्गत उनके सोचने-समझने के तरीके अलग-अलग रहते हैं, जिससे उनके बीच मतभेद विद्यमान रहते हैं। विभिन्न वर्ग-हितों की विसंगति से उत्पन्न इन मूलभूत मत-भेदों के परिणामस्वरूप हिन्दी का प्रगतिशील साहित्यिक मोर्चा बिखरा हुआ और कमजोर है।

पत्रिका के अंक-8 में सुधीश पचौरी का 'जनवादी समीक्षा की समस्याएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में सुधीश पचौरी की साहित्यिक दृष्टि का पैनापन और परिवेश की गहरी समझ का परिचय मिलता है। इसमें जनवादी समीक्षा के मार्ग में आने वाली समस्याओं पर विवेकपूर्ण विचार किया गया है।

पत्रिका के अंक-14 में प्रकाशित शिवराम का 'सृजन प्रक्रिया की समस्याएँ' शीर्षक लेख सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है। लेखक ने इस लेख में सृजन प्रक्रिया की समस्याओं का उल्लेख करने से पहले साहित्य शास्त्र विषयक अपनी अनेक मान्यताओं को लिपिबद्ध किया है। सबसे पहले उन्होंने साहित्य को परिभाषित किया है। वे व्यक्ति की अनुभव को साहित्य सृजन का आधार मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि, "अनुभव व्यक्ति के मनोमय संसार में अभिव्यक्त होने के लिये अकुलाते-छटपटाते रहते हैं। वह उन्हें अभिव्यक्त करने को उत्सुक और प्रयत्नशील रहता है। यह अभिव्यक्ति जब कलात्मक रूप धारण कर, अन्तर्दृष्टि और विवेक की सीमाओं, क्षमताओं के अनुकूल प्रांजल, उदात्त और उज्ज्वल होकर भाषा के माध्यम से निश्चित स्वरूप ग्रहण करके प्रकट होती है तो उसे साहित्यिक रचना कहा जाता है। वह रचना-कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध या और कुछ भी हो सकती है।"³

इस लेख में शिवराम ने रचनाकर्म की परिपक्वता पर विचार किया है। उनके अनुसार रचनाकर्म को परिपक्व बनाने वाले चार तत्व हैं- रचनाकार की अन्तर्दृष्टि का विकास, रचनाकार की आभ्यन्तर शक्तियों की क्षमता का विकास, रचनाकार की जीवन-जगत् से तादात्म्य की व्यापकता और रचनाकार द्वारा कला का अनवरत अभ्यास।

यद्यपि जागरूकता जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। रचनाकार मानव समाज का पथप्रदर्शक होता है। वह समाज को मानव सभ्यता के उत्तमोत्तम स्तर पर पहुँचाने का उपक्रम करता है। इसलिए उसका जागरूक होना शेष व्यक्तियों की तुलना में अधिक महत्व का होता है। शिवराम ने जागरूक रचनाकार की विशेषताएँ भी बतायी हैं। उनके शब्द हैं-

"कोई रचनाकार यदि अपने रचनाकर्म के प्रति सचेत है, अपने रचना दायित्वों के प्रति सचेत है, वह क्या, क्यों, किसके हित में और किसके लिए लिख रहा है के प्रति सचेत है तो ऐसे रचनाकार को जागरूक कहा जायेगा।"⁴

साहित्य में अन्तर्वस्तु के प्रकटीकरण के लिए शिल्प की आवश्यकता होती है। शिल्प के घटकों में भाषा प्रधान भूमिका में रहती है। शिवराम ने इस लेख में साहित्य की अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में विचार करने के साथ उसके शिल्प के प्रधान घटक भाषा पर भी अपना विचार प्रस्तुत किया है। रचनाकार के उक्त आधारों पर जागरूक होने के साथ शिवराम रचनाकार के लिए अपनी सृजन भाषा का अच्छा ज्ञाता होना भी जरूरी मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि, "जिस भाषा में वह अभिव्यक्ति कर रहा है उसका बेहतर ज्ञान हासिल करना होगा। निश्चय ही

यह काम श्रमसाध्य है।”⁵

सफलता हर कोई पाना चाहता है और चाहिए भी। साहित्य-जगत् में सफलता के लिए साहित्यकार साहित्य की गुणवत्ता के स्थान पर तिकड़मबाजी को महत्त्व देने लगे हैं। व्यावसायिक प्रकाशन संस्थान लाभ के लालच में इस तिकड़मबाजी के घटक बन चुके हैं। शिवराम ने प्रस्तुत लेख में साहित्य-जगत् की इस दुरावस्था में हो रही साहित्य की हानि का विस्तार से विवेचन किया है। साहित्य का समकालीन विकृत परिवेश अपरिपक्वता की दशा में ही साहित्यकारों के मन में सफलता की ललक पैदा कर रहा है। सफलता की यह ललक साहित्यकार को गैरजिम्मेदार बनाती है। शिवराम के प्रस्तुत लेख की अग्रांकित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं-

“वे अपने सीमित अनुभव से यही जान पाये होते हैं कि दूसरे क्षेत्रों की तरह साहित्य के क्षेत्र में भी स्थापित होने के लिए कुशल रचनाकर्म इतना जरूरी नहीं है, अधिक जरूरी हैं तिकड़में और एप्रोच। इसलिए बहुत से रचनाकार रचनाकर्म की बारीकियों, विधियों, समस्याओं, उपयोगिताओं के अध्ययन को समृद्ध और विकसित करने के श्रम साध्य कर्म की उपेक्षा करते पाये जाते हैं। वे बिना ऐसा श्रम किये ही सफलता की ऊँचाइयों को छू लेना चाहते हैं और सफलता की यह ललक उन्हें अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति लापरवाह और गैरजिम्मेदार बनाती है।”⁶

शिवराम ने एस लेख के अन्त में सृजन-प्रक्रिया की छः समस्याएँ बतायी हैं। उन्होंने लिखा है : “सृजन की समस्याएँ ग्रहण प्रक्रिया एवं रचना प्रक्रिया के मर्म को समझने, रचना दायित्व के प्रति सजग रहने, रचनाकार के सामाजिक दायित्व के प्रति सजग रहने एवं रचनाकर्म के विकास की समस्याएँ हैं। अर्थात् सूचीबद्ध रूप में,

1. आभ्यन्तर शक्तियों की क्षमताओं के विकास की
2. जीवन-जगत् के निकट, व्यापक और संवेदनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की
3. वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि हासिल करने की
4. कला के अनवरत अभ्यास की
5. भाषा को समृद्ध करने की
6. अपने दायित्वों के प्रति सजग बने रहने की समस्याएँ हैं।”⁷

पत्रिका के अंक-16 में प्रकाशित हिन्दी के यथार्थवादी समीक्षक शिवकुमार मिश्र ने अपने ‘वर्तमान परिवेश में यथार्थवादी कला का दायित्व’ शीर्षक लेख में समसामयिक परिवेश पर विचार करते हुए इस परिवेश में यथार्थवादी कला के दायित्व का उद्घाटन किया है। शिवकुमार मिश्र के अनुसार महाघात तथा महाविनाशकारी अस्त्रों के माध्यम से मनुष्यता की आध्यात्मिक-सांस्कृतिक और भौतिक उपलब्धियों को नष्ट कर देने की बनायी जा रही योजना की वास्तविकता को अभिव्यक्ति प्रदान करना यथार्थवादी कला का दायित्व है।

उत्तरार्द्ध पत्रिका का अंक-20 जनवादी साहित्य विशेषांक है। इस अंक में देश-देशान्तर के पूर्ववर्ती और समकालीन स्थापित विचारकों, बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों के जनवादी साहित्य विषयक लेख प्रकाशित हुए हैं। जनवादी साहित्य के स्वरूप से लेकर जनवादी साहित्य के आन्दोलनात्मक विकास को जानने के लिए यह अंक उल्लेखनीय स्रोत है। साहित्य विमर्श विषयक सामग्री ‘दस्तावेज’ और ‘वैचारिक लेख’ नामक दो खण्डों के अन्तर्गत समायोजित की गयी है। ‘दस्तावेज’ खण्ड में संगृहीत लेखों की संख्या अट्ठाईस है। ‘वैचारिक लेख’ खण्ड में एक परिसंवाद और चौदह लेख संगृहीत हैं।

इस अंक में प्रकाशित ‘पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य’ शीर्षक अपने लेख में लेनिन ने राजनैतिक पार्टी और साहित्य के सन्दर्भ में विचार व्यक्त किया है।

मार्क्सवादी आलोचक डॉ. कुँवर पाल सिंह ने ‘प्रेमचन्द और जनवाद’ शीर्षक लेख में भारतेन्दु युग को जनवादी परम्परा का पहला सोपान मानते हुए प्रेमचन्द को सबसे बड़ा जनवादी साहित्यकार घोषित किया है।

उनके शब्दों में, “प्रेमचन्द हमारे सबसे बड़े जनवादी साहित्यकार हैं। वे इस शताब्दी के ऐसे राष्ट्रीय लेखक हैं जिन्होंने होरी के रूप में हमें राष्ट्रीय नायक दिया है। राम के बाद होरी दूसरा राष्ट्रीय नायक है।”⁸

इस लेख में प्रेमचन्द की तुलना महान संत कबीरदास से की गयी है और उन पर लगाये गये साम्प्रदायिकता के आरोप का निदान भी किया गया है। डॉ. सिंह ने प्रेमचन्द-साहित्य के सही मूल्यांकन के लिए उनके युग को समझना आवश्यक बताया है, “प्रेमचन्द के साहित्य का मूल्यांकन राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है। तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक परिस्थितियाँ, जन आन्दोलन, उनका चरित्र, राष्ट्रीय पूँजीवादी नेतृत्व की राष्ट्रीय आन्दोलन में भूमिका आदि का अध्ययन ही हमें प्रेमचन्द-साहित्य के समग्र मूल्यांकन का आधार प्रदान कर सकता है।”⁹

इस लेख का सैद्धान्तिक दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। क्योंकि इसमें जनवाद को परिभाषित किया गया है और जनवादी लेखक की विशेषताएँ निर्धारित की गयी हैं, जिनकी कसौटी पर जनवादी साहित्य का मूल्यांकन और परख की जा सकती है। जनवाद की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है, “साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और सामन्ती व्यवस्था और उसके जीवन मूल्यों का सक्रिय विरोध, श्रमिक वर्ग और पीड़ित जन के साथ वास्तविक हमदर्दी, देशभक्त क्रान्तिकारी शक्तियों की एकता और उसके संकल्प का नाम जनवाद है।”¹⁰

डॉ. कुँवरपाल सिंह ने इस लेख में जनवादी साहित्यकार की विशेषताएँ भी निर्धारित की हैं। उन्होंने लिखा है : “जनवादी लेखक वह है जिसकी जनवाद में आस्था हो, जो सामाजिक विकास और परिवर्तन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखता हो, जो साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में जनविरोधी, मानव विरोधी और आधुनिकता के नाम पर अराजक प्रवृत्तियों की निन्दा करता हो, जो पतनशील विचारों के विरुद्ध संघर्ष करता हो और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और युद्धोन्माद पैदा करने वाली शक्तियों का विरोधी हो, जो घातक सामन्ती अवशेषों का उन्मूलन चाहते हुए राष्ट्रीय संस्कृति की महान जनवादी परम्परा का पोषक और पक्षधर है, जो एक नई शोषण मुक्त समाज व्यवस्था के निर्धारण का स्वप्न देखता हो और अपनी रचनाओं के माध्यम से उस स्वप्न को साकार करने के लिए अनवरत संघर्षरत रहता है।”¹¹

पत्रिका के संयुक्तांक 27-28 में प्रकाशित ‘साहित्य और राजनीति’ शीर्षक अपने लेख में डॉ. कुँवर पाल सिंह ने साहित्य और राजनीति के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों पक्षों का विवेचन किया है। इस लेख में साहित्य और राजनीति के अन्तः सम्बन्ध-सूत्रों की चर्चा करते हुए बताया है कि, “कोई अच्छा साहित्य राजनीति और विचारधारा से अलग हो ही नहीं सकता।”¹²

पत्रिका के अंक-20 में चंचल चौहान का ‘समकालीन साहित्य : मूल्यांकन की समस्याएँ’ शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में लेखक ने आलोचना में व्याप्त संकीर्णता और एकांगिकता पर विचार करते हुए समग्र रचनाधर्मिता के मूल्यांकन के लिए एक व्यापक आलोचना पद्धति की बात उठाई है। चंचल चौहान ने वाद विशेष के आग्रहियों के सम्बन्ध में व्याप्त गलत अवधारणाओं पर प्रकाश डालकर अन्य मान्यताओं का पर्दाफाश किया है। उनके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि हर मार्क्सवादी जनवादी हो और मार्क्सवादियों के अलावा दूसरा जनवादी न हो। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि, “यह सही है कि एक सच्चा मार्क्सवादी एक सच्चा जनवादी भी होता है, मगर यह मानना एकदम गलत होगा कि मार्क्सवादी रचाकार के अलावा और कोई जनवादी नहीं हो सकता और यह सोचना गलत होगा कि हर मार्क्सवादी लेखक जनवादी ही होगा और जन की आशाओं-आकांक्षाओं का चितेरा और कोई हो ही नहीं सकता।”¹³

लेखक ने जनवादियों की जनवादी साहित्य से इतर व्यापक साहित्य को हाशिए पर रखकर देखने की प्रवृत्ति का निष्पक्ष रूप से उद्घाटन किया है। इस लेख में समकालीन साहित्य के उचित मूल्यांकन की गम्भीर समस्याओं पर गम्भीरता से विचार किया गया है। चंचल चौहान ने जो पाँच समस्याएँ बतायी हैं। उनके शब्दों

में, “आज हमारे सामने साहित्य के मूल्यांकन पहली और मूलभूत समस्या अपने खुद के पर्सपेक्टिव को ठीक से पहचानने की है। इससे जुड़ी हुई एक और समस्या वस्तुगत मूल्यांकन के अभाव की है। साहित्य के मूल्यांकन तीसरी समस्या दो अतिवादों पर ठहरे अध्ययन की है। साहित्य के मूल्यांकन की चौथी समस्या एकांगी विचारों की है। साहित्य के मूल्यांकन की पाँचवीं समस्या इस दौर के नये कलमकारों और चुनौतियों को न समझने की है।”¹⁴

पत्रिका के संयुक्तांक 33-34 में दस्तावेज खण्ड के अन्तर्गत सरदार भगत सिंह का ‘भाषा एवं साहित्य’ शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। यद्यपि यह लेख भाषा समस्या के समाधानार्थ लिखा गया था, परन्तु इसमें सरदार भगत सिंह का साहित्य विमर्श भी शब्दबद्ध हुआ है। सरदार भगत सिंह साहित्य को देश की दिशा निर्धारित करने वाला उपक्रम मानते हैं। देश की उन्नति का मार्ग साहित्य ही प्रशस्त करता है। अग्रांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं,

“ज्यों-ज्यों देश का साहित्य ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों देश भी उन्नति करता जाता है। देशभक्त चाहे वे निरे समाज-सुधारक हों अथवा राजनैतिक नेता सबसे अधिक ध्यान देश के साहित्य की ओर दिया करते हैं। ... साहित्य के बिना कोई देश अथवा जाति उन्नति नहीं कर सकती।”¹⁵

साहित्य की उपादेयता समाज पर पड़ने वाले उसके प्रभाव में अन्तर्निहित होती है। साहित्य को प्रभावकारी बनाने में उसकी अन्तर्वस्तु के साथ उसके रूप विधान की भी भूमिका होती है। रूप विधान में भाषा केन्द्रीय घटक है। सरदार भगत सिंह ने समाज में साहित्य को प्रभावकारी बनाने के लिए साहित्य-सर्जन में समाज की सरल-सहज भाषा का प्रयोग करने की बात कही है। साहित्य-भाषा के रूप में संस्कृत भाषा और अरबी भाषा की क्लिष्टता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि, “एक अच्छे समझदार व्यक्ति के लिये क्लिष्ट संस्कृत के मन्त्र तथा पुरानी अरबी आयतें इतनी प्रभावकारी नहीं हो सकतीं जितनी कि उनकी अपनी साधारण भाषा की साधारण बातें। ...सर्वसाधारण में साहित्यिक जाग्रति पैदा करने के लिए उसकी अपनी ही भाषा आवश्यक है।”¹⁶

पत्रिका के अंक 36 में विमल मित्र का ‘मैंने प्रसिद्धि और प्यार पाने के लिये साहित्य-क्षेत्र चुना’ शीर्षक लेख ध्यान आकर्षित करता है। लेखक ने साहित्य-सर्जन के लिए भोगे हुए जीवन, कल्पना और परिश्रम को आधार के रूप में स्वीकारा है। विमल मित्र को परिश्रम के लेखन से होता है, इसलिये उन्होंने परिश्रम के लेखन को ही महत्त्व दिया। उनका कथन है, “लेखन भोगा हुआ भी होता है, कल्पनाओं से भी लिखा जाता है तथा परिश्रम भी माँगता है।... आत्म-संतोष परिश्रम के लेखन से होता है। मैंने हमेशा परिश्रम के लेखन को ही महत्त्व दिया है।”¹⁷

विमल मित्र ने साहित्य-जगत् में पुरस्कारों के घटते महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए पत्रकारिता और साहित्य-सर्जन को न केवल अलग-अलग बताया है, बल्कि समाचार-पत्र को साहित्यकार के लिये श्मशान लिखा है। उनका कथन द्रष्टव्य है, “फोटोग्राफ जिस तरह चित्रकला नहीं है, समाचार-पत्र भी इसी करण से साहित्य नहीं है। पत्रकारिता और साहित्य-सर्जन अलग-अलग चीज हैं। पत्रकार कभी साहित्यकार नहीं बनता। समाचार-पत्र साहित्यकार के लिए श्मशान है।...जिस साहित्यकार ने समाचार-पत्र में कार्य किया है, साहित्यकार के रूप में उसका पतन हो गया है।”¹⁸

साहित्य और साहित्यकार के जीवन व्यवहार में एकरूपता विमल मित्र साहित्यादर्श है। इस साहित्यादर्श से साहित्य में जीवन्तता आती है। अपने साहित्यादर्श को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, “मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसका अपने जीवन में पालन भी करता हूँ। तभी मेरा कथानक जीवन्त एवं अन्तर्मन को छूने जैसा होता है।”¹⁹

उत्तरार्द्ध पत्रिका के अंक 37 में विजय कुमार का ‘क्या कविता गवाही देगी?’ शीर्षक लेख में कविता के समकालीन परिवेश की विसंगतियों पर प्रकाश डालने के क्रम में बताया है कि कला का विद्यमान रूप सामाजिक

विसंगतियों से विमुख है। ऐसा टेक्नॉलाजी की उन्नत अवस्था के कारण है। विजय कुमार ने निष्कर्षात्मक रूप में लिखा है कि, “आज कवि के लिये अपने आपको एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में देख पान सम्भव नहीं रहा है। कवि ऊँची आवाज में अपना एकालाप नहीं सुनाता, वह धीरे-धीरे कुछ बुदबुदाता है और उसकी आवाज दुनिया के तमाम तरह के शोर-शराबे में डूब जाती है।”²⁰

उत्तरार्द्ध पत्रिका के उक्त अंक में ही चंचल चौहान का ‘समकालीन हिन्दी कविता की परख’ शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। अपने लेख में चंचल चौहान ने समकालीन हिन्दी कविता की परख की कसौटी विजन की व्याख्या बतायी है। लेख के अन्त में उन्होंने लिखा है कि, “समकालीन हिन्दी कविता में यदि विजन का लोप होता है, तो वह कविता प्रासंगिक नहीं होगी। आज समकालीन हिन्दी कविता की परख विजन की व्याख्या से हो सकती है।”²¹

‘उत्तरार्द्ध’ पत्रिका के संयुक्तांक 48-49 में सव्यसाची के दो लेख, ‘रचनाकार के संकट का प्रश्न’ और ‘साहित्यकार का दायित्व’ प्रकाशित हुए हैं। सव्यसाची ने इन लेखों में अपनी साहित्य विषयक मान्यताओं को विस्तार से शब्दबद्ध किया है।

सव्यसाची ने साहित्य को मनुष्य को प्रेरित करने वाली जीवन्त विद्या माना है। ‘रचनाकार के संकट का प्रश्न’ लेख के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है, “साहित्य मानव-समाज की एक अत्यधिक जीवन्त विद्या है। हृदय की सन्वेदनाओं से सम्बद्ध होने के कारण मनुष्य को प्रेरित करने का यह एक प्रभावशाली साधन है।”²²

जन संघर्ष सव्यसाची के जीवन का विशिष्ट आयाम रहा। वे साहित्य को व्यावहारिक स्तर पर जन जीवन से जोड़ते हैं। जन विरोधी लोगों द्वारा साहित्य को अपने हित में प्रयोग करने के षड्यन्त्र से सव्यसाची भली प्रकार परिचित थे, इसलिये वे साहित्य को समझदारी के साथ जन संघर्षों का अस्त्र बनाने की बात करते हैं। प्रस्तुत लेख में उन्होंने लिखा है, “साहित्य के माध्यम से अनुपयोगी पुराने मूल्यों को जीवित रखने के लिये आकाशवाणी, शिक्षण संस्थाएँ और प्रकाशन तो हैं ही, मध्यमवर्गीय-सुविधाजीवी साहित्यकारों को आकर्षण के प्रलोभन-जाल में फँसाने के लिए पर्याप्त साधन भी मौजूद हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य को जन संघर्षों का अस्त्र बनाने के लिए हमें बड़ी समझदारी से काम लेकर सांस्कृतिक मोर्चे पर अपने संघर्ष को निरन्तर तेज करते चले जाना होगा।”²³

सव्यसाची ने अपने साहित्य विमर्श को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। सामाजिकता मनुष्य का नैसर्गिक गुण है। इस तथ्य को विवेचन के केन्द्र में रखकर सव्यसाची ने साहित्य सृजन को सामाजिक क्रिया और सामाजिक प्रतिबद्धता को साहित्य का आधारभूत सिद्धान्त माना है; यथा, “साहित्यकार महज साहित्यकार ही न होकर सामाजिक प्राणी भी होता है और उसकी अन्य क्रियाओं की तरह साहित्य सृजन भी एक सामाजिक क्रिया है। अतः रचना की सृजन-प्रक्रिया तो व्यक्तिगत होती है, लेकिन उसकी विषय वस्तु समाज निरपेक्ष नहीं हो सकती। सामाजिक प्रतिबद्धता साहित्य का आधारभूत सिद्धान्त है।”²⁴

साहित्य के प्रयोजन का निर्धारण करना साहित्य विमर्श का केन्द्रीय विषय है। सव्यसाची साहित्य का प्रयोजन हासगामी शक्तियों के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन को सम्भव बनाना मानते हैं। अपनी मान्यता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है कि, “साहित्य निश्चित रूप से समाज का प्रतिबिम्ब होता है। हासगामी शक्तियों के विरुद्ध उदीयमान शक्तियों का सहयोग देकर सामाजिक परिवर्तन को सम्भव बनाना ही उसका लक्ष्य हो सकता है।”²⁵

सव्यसाची साहित्य को प्रचार का सबसे अधिक सशक्त माध्यम मानते हैं। उनकी यह मान्यता अकाट्य आधारों पर निर्मित हुई है। विशेष विचारधारा के पोषक लोग साहित्य जगत् में साहित्य और प्रचार विषयक चर्चा करके विशिष्ट साहित्य धारा को खारिज करने का षड्यन्त्र करते रहते हैं, उन्हें सव्यसाची ने अपनी इस मान्यता के प्रतिपादन द्वारा लाजवाब उत्तर दिया है। उन्होंने लिखा है कि, “साहित्य की शोषित-पीड़ित जनता से प्रतिबद्धता

के विरोध को आगे बढ़ाते हुए यथास्थिति के समर्थक कहते हैं कि साहित्य प्रचार नहीं है। उनकी यह दलील एकदम बेबुनियाद है, क्योंकि साहित्य प्रचार का सबसे सशक्त साधन है और प्रत्येक युग में इसका प्रयोग प्रचार तन्त्र के रूप में किया जाता रहा है। कालिदास का 'कुमारसम्भव', तुलसी का 'रामचरितमानस', 'मनुस्मृति' और 'गीता' क्या सामन्तवाद के प्रचारक नहीं रहे?"²⁶

सव्यसाची ने साहित्य और राजनीति पर गहन विचार किया है। साहित्य को राजनीति से अलग रखने की बात करने वालों को समझाते हुए उन्होंने साहित्य को राजनीति से सम्बन्धित सिद्ध किया है। सव्यसाची ने साहित्यकार के लिए मार्क्सवादी दल की सदस्यता को अच्छा माना है। यदि कोई साहित्यकार मार्क्सवादी दल की सदस्यता ग्रहण करता है तो इससे उसके साहित्य-सृजन की प्रक्रिया और अधिक उदार बनती है। राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार करने के क्रम में उन्होंने लिखा है कि, "राजनीति से साहित्य को अलग रखने का सीधा मतलब साहित्य को जीवन से काट देना है। मार्क्सवादी दल की सदस्यता क्रांति के लिए संयुक्त मोर्चे को स्वीकार करने के कारण साहित्यकार और उसकी रचना प्रक्रिया को और भी ज्यादा उदार बना देती है।"²⁷

सव्यसाची के प्रस्तुत लेख में रचनाकार के जिन संकटों का निदर्शन हुआ है, वे इस प्रकार हैं-

1. रचनाकारों की सामाजिक विकास की प्रक्रिया से अनभिज्ञता
2. रचनाकारों की अहमन्यता
3. रचनाकारों का दुहरा चरित्र
4. वर्ग-व्यवस्था में रचनाकार की स्वतन्त्रता की वकालत

'साहित्यकार का दायित्व' शीर्षक लेख में सव्यसाची ने साहित्यकार को समाज के शिक्षक के रूप में मान्यता दी है। न्याय हेतु होने वाले संघर्ष में शिक्षक के रूप में संघर्षशील शक्तियों का मार्गदर्शन करना साहित्यकार का दायित्व है। प्रस्तुत लेख की अग्रांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं,

"साहित्यकार एक शिक्षक भी है, जो अपनी रचना द्वारा समाज को बदलने के संग्राम में भी हिस्सा लेता है।...साहित्यकार का दायित्व महज यथार्थ को अभिव्यक्ति देने तक ही सीमित नहीं रहता, उसे संघर्षशील प्रगतिकारी शक्तियों का मार्गदर्शन भी करना होता है, इन्हें हौसला देकर न्याय के इस संघर्ष में उनकी अजेयता का विश्वास भी दिलाना होता है।"²⁸

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उत्तरार्द्ध' पत्रिका में अनेक साहित्यकारों के साहित्य विमर्श पर केन्द्रित जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनसे हिन्दी साहित्यशास्त्र का अद्यतन रूप आकार लेता है। इन लेखों में विन्यस्त साहित्य विमर्श पाठकों की साहित्य की समझ को स्पष्ट और समृद्ध करता है। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों के लिए 'उत्तरार्द्ध' पत्रिका बेहद उपयोगी है।

सन्दर्भ :

1. उत्तरार्द्ध, प्रवेशांक, अक्टूबर, 1971 ई., सम्पादक : बृजेन्द्र कौशिक एवं महेन्द्र नेह, सर्जना, आनन्द सदन, रामपुरा, कोटा, राजस्थान : 3
2. उत्तरार्द्ध, अंक - 4, जनवरी, 1973 ई., सम्पादक : बृजेन्द्र कौशिक एवं राजमणि चतुर्वेदी, सर्जना, आनन्द सदन, रामपुरा, कोटा, राजस्थान : 8
3. उत्तरार्द्ध, अंक - 14, जनवरी, 1973 ई., सम्पादक : सव्यसाची, मथुरा, उत्तर प्रदेश : 11
4. वही : 13
5. वही : 14
6. वही

7. वही : 16
8. उत्तरार्द्ध, अंक - 20, सम्पादक : सव्यसाची : 99
9. वही : 106
10. वही : 108
11. वही
12. वही, अंक 27-28 (संयुक्तांक) : 55
13. वही, अंक- 20 : 77
14. वही : 74, 75, 76 एवं 77
15. वही, अंक ख 33-34 (संयुक्तांक), जुलाई-अक्टूबर, 1988 ई. : 13, 15
16. वही : 14, 16
17. वही, अंक- 36 : 57
18. वही।
19. वही : 58
20. वही, अंक 37, मार्च, 1994 ई. : 32
21. उपर्युक्त : 38
22. वही, संयुक्तांक 48-49 : 25
23. वही
24. वही : 26
25. वही : 27
26. वही।
27. वही : 27 एवं 28
28. वही : 34



देवेन्द्र आर्य की कविताएँ

संपादकीय टिप्पणी :

देवेन्द्र आर्य ने 60 कविताओं का एक संग्रह तैयार किया है- 'मौत सहोदर'। सभी कविताएँ मृत्यु से सम्बंधित हैं। ये कविताएँ मृत्यु पर लिखी गयी महज भावपरक कविताएँ नहीं हैं, इनमें देवेन्द्र आर्य के जीवन के कई सच हैं। दादी, पिता और माता की मृत्यु तो बहुतांश के अनुभव का हिस्सा है। मित्र की मृत्यु भी हमें परास्त करती है। मगर, पत्नी की मौत इन्सान को अधूरा कर देती है और बेटे की मौत हो जाए तो जैसे जीवन व्यर्थ!

देवेन्द्र जी ने इन सब मौतों को देखा है। जीवन की शुरुआत से लेकर साठ पार की उम्र में मौत का यह सिलसिला मानो उनकी जिन्दगी का अनिवार्य क्रम बन गया हो! 24 साल की उम्र में एकमात्र सन्तान देवांश की आकस्मिक मृत्यु ने कवि को दीवाना बना दिया। अपनी कविताओं को किसी तरह से गा-गाकर मृत्यु के तीसरे दिन कवि ने पुत्र को श्रद्धांजलि दी! अपने दुःख का बयान एक कवि के लिए उसकी कविता ही हो सकती है!

हिन्दी में मृत्यु पर व्यवस्थित तरीके से कम ही कविताएँ लिखी गयी हैं। हम 'सरोज-स्मृति', 'चिंता सर्ग' और 'एक पीली शाम' जैसी कविताओं को ऐसे प्रसंग में याद करते हैं। मेरी जानकारी में हिन्दी में अब तक मृत्यु पर लिखी गयी कविताओं का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है। देवेन्द्र आर्य का यह काव्य-संग्रह हिन्दी में मृत्यु की कविताओं का पहला संग्रह है।

मृत्यु जीवन का अटूट हिस्सा है। यह हमारे व्यक्तिगत जीवन से लेकर सार्वजनिक जीवन तक फैली हुई है। मृत्यु व्यक्ति को दुःख देती है, दुःख से

मुक्ति भी देती है, जीवन की सीमाएँ बताती है, व्यवस्था की पोल खोलती है, राजनीति को मुद्दे देती है, महामारी का परिणाम बनती है और सार्वजनिक होकर धैर्य देती है कि इसके शिकार केवल हम ही नहीं हैं।

देवेन्द्र आर्य की 60 कविताओं में से केवल 17 कविताओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इन कविताओं को पढ़कर इस संग्रह के महत्त्व को आप महसूस कर सकते हैं। जो लोग हिन्दी कविता के इतिहास को पढ़ते रहे हैं वे जरूर महसूस करेंगे कि विषय-वस्तु और अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह एक नायाब काव्य-संग्रह है। बात इतने पर खत्म नहीं हो जाती कि मृत्यु जीवन को समाप्त कर देती है। असल बात उसके बाद शुरू होती है कि बेहिसाब मौतों को देखनेवाला जिन्दगी को किस तरह से देखता-जीता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सूरदास की एक विशेषता यह भी बतायी है कि वे 'नवीन प्रसंगों की उद्भावना' करते हैं। पुत्र देवांश की याद में कवि ने जिन प्रसंगों को कविता का विषय बनाया है उनमें 'नवीन प्रसंगों की उद्भावना' को काव्यात्मकता की दृष्टि से निश्चय ही रेखांकित किया जा सकता है।

संग्रह के लिए एक मार्मिक भूमिका भी कवि ने लिखी है, जिसे संग्रह के प्रकाशन पर पढ़ा जा सकता है। 'सत्राची' परिवार की तरफ से इस नायाब काव्य-संग्रह का कुछ हिस्सा प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है इसके माध्यम से इस संग्रह के भाव तक पहुँचा जा सकेगा! - कमलेश वर्मा]

मौत सहोदर

लावारिस नहीं हूँ मैं
जन्मतिथि प्रमाण पत्र सम्हालता रहा अब तक
मृत्यु प्रमाण पत्र सम्हाल रहा हूँ अब
कितनी भरी-भरी है
पच्चीस वर्षों की पुत्र-मोह यात्रा
कितनी जिम्मेदारी से निभाई है मैंने
काम ही नहीं चलता था किसी फार्म का
बिना जन्म प्रमाण पत्र के
काम ही नहीं चल रहा अब
बिना मृत्यु प्रमाण पत्र संलग्न किये
बिना कागज न पैदा होता है कोई
न गोलोकवासी
कागज सम्हाल के रखे हैं मैंने
कागज ही बता रहे हैं न कि वह मेरा बेटा था
मिला लो न साहब !
वही नाम उसमें भी है
वही मृत्यु प्रमाण पत्र में भी
है न मेरे होने का सबूत
कि मृतक का पिता जीवित है और यही है
एक ही शब्द का तो अंतर है
बाल बच्चेदार हो
उतना तो आप समझ ही सकते हो
देवेन्द्र कुमार आर्य
पिता स्व. देवांश श्रीवास्तव
स्थायी पता :
हाल मोकाम मृत्युलोक वाया गोरखपुर
अपना स्व दूढ़ रहा हूँ
लावारिस थोड़ी हूँ साहब !



ओटीपी

गया था आयकर अनुमान की विवरणी भरवाने
पैन ने उगल दिया सब
जो बिना बताए चले गए तुम
दो हजार इक्कीस को अधरस्ते छोड़
कहीं मेरा नाम दो हजार इक्कीस तो नहीं !
बाइस में इक्कीस की फाइल न तलाशी जाय इसलिए

कागज भरवाना जरूरी है
दो हजार तेइस में तहकीकात न हो कोई
इसलिए कागज जरूरी है
चला गया मैं बाई द वे तो तुम्हारी माँ
कहाँ कहाँ खोजती फिरेगी तुम्हें कागजों में
जिन्दगी में हो न हो
कागज में होना जरूरी है कि तुम नहीं हो
आयकर वालों ने बताया
ओ टी पी आएगी
कि आप ही हो 'आधार' आधारित देवांश

ओटीपी जाएगी उसी नम्बर पर
जिसे तुम कभी नहीं उठाओगे

जिन्दगी की नहीं कर पाता कोई
तो मौत सहोदर का कैसे कर सकता है सत्यापन
बिना ओटीपी
ओटीपी आएगी
उठाने वाला भले कोई और हो
बाबू ने रास्ता निकाला
बंद पड़ा नम्बर रिचार्ज करवाना होगा
काश !
ईश्वर के यहाँ भी रिचार्ज की सुविधा होती



नोटो में वे दोनों

अकेला उदास महसूस करना जब कभी
देख लेना आलमारी से निकाल उसे
जो तुम्हें छोड़ फोटो में जा बसा
वे दो थे फोटो में
फोटो के बाहर सिर्फ एक है
दूसरा दिखेगा फोटो में, रहेगा दिल में
हम जिसके लिए जीते हैं कभी
उसकी फोटो के सहारे जीते हैं बाद में
आदमी नहीं आखिरी सहारा है फोटो
वे कैसे जी रहे होंगे जिनके पास एक फोटो तक नहीं उसकी
जिसके लिए वे जी रहे थे
फोटो से आती है खुशबू छुआन की
कह लेते हैं बातें अपने मन की
जो उसके रहते नहीं कह पाए संकोचन

पूरी जिन्दगी कैसे संकुचित हो जाती है एक फोटो में?
 अच्छा किया था तुमने
 खिंचवा ली थी फोटो उसके साथ
 वरना उसे कैसे सहलाती पलकों से आज
 जानता हूँ जब फोटो ली गई होगी
 तुमने हजार मना किया होगा
 न रही होती फोटो तो कैसे चूमती उसे
 कैसे वो आंखें देख रही होतीं तुम्हें उसी तरह
 जिस तरह देख कर गिरवी रख लिया था तुम्हें
 पहले हंसी छिपानी पड़ती रही होगी न लाडो
 अब आंसू छिपाने पड़ते होंगे
 लड़की का प्यार कितना कठिन होता है
 तलवार की धार पर चलने जैसा
 न अपनी खुशी बता पाती है न पीड़ा
 भगवान करे कोई और तुम्हारे मन को कभी न पढ़ पाए वरना...
 मैं समझ रहा हूँ लाडो
 तुम्हारा वो बेहाल भाग कर आना
 मातम की भीड़ में छुप जाना
 मगर जिसके लिए आई
 वो तो कंधों पर सवार जा चुका था
 जिसे दूल्हा सजे देखना था
 उसे बांस पर लेटे फूलों सजे भी न देख पाई
 जिसे हार पहनाना था
 पुष्प भी अर्पित नहीं कर पाई
 अच्छा ही हुआ
 वरना चौतरफा शोकाकुल आंखें प्रश्नवाचक हो चुकी होतीं
 काश आखिरी मिलन भी मिलन ही होता
 बिदाई नहीं
 मेरे घर पहली बार आई तुम
 ऐसे कि मैं तुम्हें जानता तक न था
 आंटी के गले मिल रोती रही
 पत्नी भी कहाँ जानती थी कि गले मिल रोने वाली कौन है
 होगी कोई साथ पढ़ने वाली यही लगा तब
 तुम बताती भी कैसे कि तुम कौन हो
 सिवा इसके कि उसे जानती हो
 अपना परिचय छिपाना कितना अखरता है न !
 कभी किसी अपरिचित के कितने करीब होते हैं हम
 बेटे के बहाने तुम हमारे कितने करीब हो
 यह अब पता चला
 अब जब तुम उतने करीब कभी न हो सकोगी

जितने करीब तुम्हें होना था
 सारी नजदीकी फोटो तक ही रह गई
 मैं ने गौर किया कि तुम वही हो
 जिसे वही होना था जो तुमने मेरे बेटे की आंखों में देखा था
 आंखें जिनमें बसी तुम उसका घर न बसा सकी
 वे सपनअंजी आंखें जब घर बनतीं तो कैसी लगतीं?
 मुझे लगता है तुम वही हो लाडो
 जिसे मैं दूढ़ रहा हूँ
 वरना जब सारी शोक संवेदनाएं शीतल पड़ चुकी हैं
 तुम क्यों दिये सी जल रही हो
 उसकी फोटो के नीचे
 वो तो दीवाल टंगी फोटो हो गया
 तुम होकर भी फोटो ही हो हमारे लिए



आभार तुम्हारा ऐ मौत

वो तो कहिए कि बेटे ने
 एक महीने पहले ही जगह खाली कर दी थी
 वरना हम अलग अलग कमरों में आइसोलेट कैसे हो पाए होते

ओह !
 जिनके पास दूसरा कमरा नहीं है वे
 और वे जिनके सर पर छत ही नहीं !
 अस्पताल के गेट पर
 या एम्बुलेंस में
 या कोविड सेंटर डारमेट्री में पड़े पड़े
 अपनी ट्रेन का इंतजार करना

अच्छा हुआ मेरे बेटे
 तुम्हारे मुंह से यह आखिरी पुकार सुनी
 पा SS पा SSS
 कानों में अमर हो गयी वो आवाज
 पानी मांगती वे कातर आंखें
 इतना बहने के बाद भी तुम्हारे पापा की आंखों में
 बचा हुआ है पानी आज भी
 हे ईश्वर! इसे कभी सूखने मत देना
 यही तुम्हारे होने का सबूत होगा
 वरना तो तुम्हारे कुकर्म अक्षम्य हैं ईश्वर!

पता नहीं मार्च की जगह अप्रैल में तुम जाते

तो यह आर्द पुकार शीशे के बाहर
हमारे तक आ भी पाती या नहीं
मैं लावारिस होकर भी खुश क्यों न होऊँ
कि बेटा लावारिस नहीं गया

ऐ मौत!

आभार तुम्हारा कि बेटे को सांसों के लिए तड़पाया नहीं
ये बूढ़े कंधे उसे आक्सीजन के सिलिंडर की तरह
ढो भी तो नहीं पाते

अच्छा हुआ उसकी अर्थी सील पैकड
नगरपालिका कर्मचारियों के हवाले नहीं हुई
हम निश्चित रहे अपने बेटे की लाश को लेकर

अपनों का मातम मिला
चार कंधे मिले
दरवाजे से बारात बिदा हुई

दुल्हन लेकर लौटता तो परछन करते
पर छोड़ो
चैन से तो गया
पोर्टल पर आंकड़ा तो नहीं बना

मुझे लगता है
दुनिया का पहला मनोविज्ञानी रहा होगा वह
जिसने यह सिद्धांत गढ़ा
जो हुआ वह ठीक ही हुआ

दुनिया के अनगिन घावों पर पहला मरहम है यह
जो होगा वह ठीक ही होगा



हे यम

पिता के पहले लिखता ही हूँ
कहो तो माँ के पहले भी लिख दूँ

बहन के पहले लिखते
भांजे का चेहरा कांप जाएगा आंखों में
फिर भी !
जिन्दगी के लिए यदि जरूरी ही हुआ
तो भाई के पहले भी लिख दूँगा स्वर्गीय
और वह मेरा पड़ोसी !

जब कोई नहीं था तब तो वो था
फिर भी
जान पर आन पड़ेगी तो मन मान कर
उसके पहले भी लिख दूँगा स्वर्गीय
गला दबा कर ही लिखवाना है
तो पत्नी के पहले भी लिखवा लो
पर माफ करना
जवान बेटे के पहले स्वर्गीय न लिख पाऊँगा

हे यम !
तुम भले चाहना तो पिता पुत्र दोनों के आगे
लिख लेना स्वर्गीय !

आदमी फोटो हो जाता है

जो माला गले में पड़नी थी
फोटो पर चढ़ी

जिसने तुम्हें कभी माला नहीं पहनाई
उसने भी तुम्हें माला चढ़ाई
कितना भयानक है आदमी का फोटो हो जाना
कितना दर्दनाक है माला का अपनी किस्मत पर रोना

जीवन का अंतिम सत्य फोटो हो जाना है

रिशतों का निचोड़ है स्मृति
स्मृति जो धीरे-धीरे फोटो विहीन होती जाती है
यही है शायद 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते' का सार्वजनिक भाष्य

अद्भुत फोटोग्राफर है वो
एक ही फोटो में सब फोटो
उसने खींची क्या गजब फोटो
लोग मालाएँ चढ़ाएँगे
तुम भी जब हो जाओगे फोटो
यह नदी यह पेड़ यह मौसम
हो के रह जाएंगे सब फोटो

आदमी का फोटो हो जाना कितनी स्वाभाविक त्रासदी है

आदमी फोटो में सीमित हो जाता है
फोटो स्मृति में असीमित
दोनों के बीच बची रह जाती है देह-गंध की पुकार

देह-गंधी जीवन की पुकार है आदमी
आसवित हो जाने की प्रतीक्षा म

आंसू की होली

अबकी खेली हमने आंसू की होली
अब तक के सब रंग
दर्द में घुल-मिल गए
जैसे घुल-मिल जाती हैं आपस में यादें
बहिनापा जोड़
एक चौथाई सदी के टुकड़ों की यादें
अबकी खेली हमने यादों से होली

0

मिलीं विरासत में यादें इफरात
खर्च कहाँ हो पाती हैं
खर्च भले कोई खुद हो जाए

घुटरन चलती यादें बन जातीं छत्रपति वृक्ष
पृथ्वी के जैसी
इतनी यादों की अंतिम एक याद
यादों के रंग से गाढ़ा रंग कौन कि खेलूँ दूजे से होली

0

रंग फलित होते हैं
साया देते हैं
सारे शास्त्र अंत में यही तो कहते हैं
हमीं समझ न पाये रंगों के संकेत
लेकिन यह तो पता नहीं था
काले की अंतिम सद्गति सफेद में होगी
कभी किसी ने देखा है क्या शव कोई काले कपड़े में

0

यूँ ही थोड़ी तुम्हें पसन्द थे काले कपड़े
काले की तमाम छवियां पसन्द थीं तुमको
गोरे चेहरे पर काली दाढ़ी
जीवन अर्जन काले कोट से होना था
तुम्हें पता था क्या
कल को काला होना था
मोह पर तुमने फेर दिया क्यों काला ब्रश

अबकी हमने खेली काले रंग से होली

0

मुझे लग रहा इन्द्रधनुष में सात नहीं हैं
केवल छः रंग
अंतिम रंग ले गए संग तुम

0

अग्नि में सारे रंग निखर आते हैं
उड़ती राख के रंग सरीखा है जीवन
ज्यों दहन होलिका
रंग अबीर गुलाल पड़े जहाँ जली है सम्मत
फाग का राग उसी मरघट से उपजा है
अबकी हमने खेली मरघट की होली

0

इतनी सतरंगी सियाह तो कभी न थीं अपनी यादें
सात रंग का अंतिम पक्का रंग श्वेत है
अबकी हम दोनों ने खेली श्वेत होली

आंसू तो सफेद ही होते हैं न पार्टनर
अबकी खेली हमने आंसू की होली

0

चार दिनों का जीवन
चार आंखों के चार बूंद आंसू
अग्नि समर्पित करके तुमको रोप दिया है गमले में
फूल खिलेंगे अगले बरस की होली में जब
तब?

तब का कौन ठिकाना
तब की तब पर छोड़ रहा हूँ
तब तक रे मन नमन तुझे !

होली इक्कीस की पीठ

वहाँ कैसी रही होली देवांश !
यहाँ तो होली ने हमें पीठ दिखला दी
कोरोना को अवसर माना था हमने
कि बरसों बाद तुम्हें अबीर गुलाल लगाएंगे
फिर साथ रहने का मौका मिले न मिले

‘वर्क फ्राम होम’ में लाख बुराई सही
एक अच्छाई तो है
बर्तनों का आपस में टकराते हुए घर को जीवंत बनाए रखना
मगर यहाँ तो होम ‘होम’ हो गया और ‘वर्क’
होने न होने का फर्क बन गया
तुमने मुम्बई जाने की बात की थी
यह अचानक कहीं और से बुलावा आ गया
यह कौन सा कैम्पस सलेक्शन था भाई !
सब छोड़ छोड़ भागे
न टिकट न आरक्षण न माल असबाब न खाना पानी

बिना टिकट टिकट कट गया
अपने अंक पत्र सर्टिफिकेट तक साथ न ले पाए
अजब लड़का है
तेरह दिन बाद ही तो होली थी
तेरही की तरह मना ली होली
तुम नहीं थे मनु होली के दिन
सो हमने तुम्हारी फोटो को टीका लगाया
और तुमने ?

तुम्हारे हाथ का गुलाल तो हमारे गाल छू भी न पाय
वहाँ तुमने किसे अबीर लगाया देवांश
कोई हमजोली भी तो नहीं होगा वहाँ
नींद में हो न
अच्छा सो लो
उठना तो बताना कैसी रही वहाँ की होली
जहाँ तुम से पहले हमें जाना था



अंतिम सिन्दूरी त्यौहार

बहुत देर से मुस्कुरा रही हो
दुखने लगे होंगे तुम्हारे होंठ
तुम ऐसे क्यों देख रही हो मुझे
जैसे कोई किसी को आखिरी बार देखता है

इतनी ममता !
इतना प्यार !
गुरुर भरा इतना विश्वास
सुरुर भरा यह आमंत्रण
इतना निर्लिप्त मोह
मोह भरा यह बिछोह !
डरता हूँ अपलक निहारती तुम्हारी आंखें
पथरा न जाएं

तुम्हारी ये रेशमी लटें
ये तो सांसों की तरह हिलती रहती थीं
थक गयी हैं शायद

शब्दों को इतना गठिया कर कब से रखने लगीं तुम
ये तो यूँ ही छितरे पड़े रहते थे हमारे तुम्हारे बीच
गृहस्थी की तरह

ऐसा तो पहली बार है

कि मेरे आने से अनजान रहीं तुम
तुम्हारी नाक तो अंधेरे में भी पहचान लेती थी मुझे
मेरी धड़कनें बढ़ती जा रही हैं
और तुम तथागत की तरह पड़ी हो मुझसे निर्लिप्त
सुनो,
कहीं तुम मर तो नहीं गयीं ?



बस कुछ दिन की मेहमान है अम्मा

चौरासी का कोई भी कूड़ा ही होता है
घर-बाहर ढोया जाता
गरिआया भुनभुनाया जाता
कभी-कभी झटक-पटक
लेकिन बस मन ही मन
ऊपर से शांत वचन

अम्मा हैं चौरासी की
कैलेंडर सी टंगी घर के एक कोने में
अटकी हुई सांस सी थरथराती
न गोर्की की न महाश्वेता की
चौरासी की माँ चौरासी वें की नहीं

उठा लाया मैं वहाँ से
जहाँ वे छिपायी जाती थीं कूड़े की तरह
किसी के आने पर

माँ की घर वापसी हुई
माँ का मिलना, सास का मिलना, दादी का मिलना
कैसा लगता हरे-भरे जीवन से
पीले जीवन का मिलना

घर ने अगले बीस बरस के बाद का घर देखा
जब हम भी जाने की तैयारी में होंगे

लौट आई अम्मा अपने घर
जीवन की संध्या में मरघट तक जाने को
लौटी हैं माँ अपने घर
भरने अकेलापन
कुछ न कर पाए की कुंठा से हमें उबारने

एक अचलस्त निगरानी

घर भर में गूँज रही है ख़ामोश बानी

सोच कर सिहरन हो जाती है
सुननी पड़ेगी जब अम्मा की अनुपस्थित आवाज
देखना पड़ेगा जब सूना वह कोना
जहाँ लगा करता था अम्मा का बिस्तर
टेरती जहाँ से थीं, ए दुलहिनि !
ए बेटा !



अंत्येष्टि

(कवि-मित्र सुरेन्द्र काले की मौत पर)
बहुत अच्छे दिन मौत हुई
रविवार न होता तो छुट्टी लेनी पड़ती दफ्तर से
अंत्येष्टि का समय भी ठीक-ठाक रहा
अपराह्न तीन बजे
जाड़े में सुबह सबेरे घाट पर जाना
इस उम्र में कठिन तो होता ही है
वह भी जब घुटनों में तकलीफ हो
बिना गये बनता भी नहीं
लोग नापते रहते हैं कौन आया कौन नहीं
आया और पाला छू कर चला गया
शांति पाठ और बरखी तक चलती है पंचाङ्ग
वो तो कहिये कि मुर्दे को बताने का
कोई जरीया नहीं है
कि फलनवा नहीं आया तुम्हारी शव-यात्रा में
वरना जिन्दगी भर के लिए कहने को हो जाता
कि बड़े सगे बनते थे न !
बहरहाल,
छुट्टी के दिन तीन बजे आराम से खा-पी
एक नींद मार कर कोई भी नदी किनारे
चिता निहारता घंटे भर खड़ा रह सकता है शोकाकुल
कवि की याद में
यूँ भी जाड़े में साहित्यकारों के लिए
यह समय गोष्ठी का होता है
चिता सिरने लगी शाम की तरह
शोक संतप्त गण्यमान्यों में खुसुर-फुसुर बढ़ गयी
हाँ, ठंड थोड़ी बढ़ रही है
चला जाए अब

सबने कहा

गो सब ख़ामोश थे एक दूसरे को भांपते
तेरहवीं की तिथि जोड़ते
चाय-पान को दो घंटे हो चुके थे
अच्छे आदमी थे
जी भाई साहब कवि भी अच्छे थे
ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे
मरणोपरांत भी कष्ट नहीं दिया
अब श्चिता-सम्भवाश तो कोई होता नहीं
'अग्नि-सम्भवा' की तरह



बेटे का प्यार

मैं उस लड़की को खोज रहा हूँ
जो मेरे बेटे का प्यार थी
खोज रहा हूँ उस लड़की को
जिसके तमाम सहपाठियों के बीच मेरा बेटा
उसका प्यार था
हास्टल से लाए कपड़ों के बीच
पाई है वह फोटो
जिसमें वह अपने प्यार के साथ चिपका खड़ा मुस्कुरा रहा है
पहले कभी नहीं देखी ऐसी मुस्कुराहट उसके चेहरे पर
अब कभी नसीब भी न होगी
पता नहीं तुमने देखी है वह फोटो कि नहीं
शायद उसकी कापी तुम्हारे पास भी हो
उसे आँखों में बसा कर फाड़ देना लाडो
वरना जीना दूभर हो जाएगा
लड़की का प्यार
वैसे भी सबको पाप ही लगता है
पर वही जानती है उस मुस्कुराहट की कीमत
प्यार में कोई भी ऐसे ही मुस्कुराता है न
जैसे पानी में गल रहा हो बतासा
अफसोस है बेटे
कि तुम भी देवांश की वह मुस्कुराहट दुबारा न देख पाओगी
देवांश के दोस्तों
तुम्हें तो पता ही होगा
बताओ न! कौन थी वह?
खोज रहा हूँ अपने बेटे के प्यार को
कि देख सकूँ अपनी आँखों उसकी पसंद

देख सकूँ वे आंखें
जिन्होंने मेरे बेटे को सहलाया होगा
काश !
मैं बेटे के प्यार को फोटो से उतार
बहु बना पाया होता



सांसों की दुनिया

यह दुनिया पांच नहीं छः चीजों से बनी है
छठवीं चीज है सांस
सच तो यह है कि दुनिया सिर्फ सांसों से चलती है
बाकी पांच न कभी बने न बिगड़े

चक्राकार हैं सब केवल सांसों रेखाकार
कभी पूरी नहीं पड़तीं
बाकी सब अनगिनत है
सांसों गिनती की
कम पड़ रही थीं
तो ले ली होतीं मुझसे, मेरे कोटे से
तुम्हें मुझसे ज्यादा जरूरत थी
कौन आफत आ जाती अगर मेरा सिलेंडर खाली हो जाता
लौटाना भी नहीं था
खर्च ही हो जातीं मेरी सांसें
तो क्या फर्क पड़ता सिवा इसके कि कुछ कविताएँ
अलिखित रह जातीं
कवि की सांसों तो सुरक्षित रहतीं
कविता में न सही तुम्हारे सीने में सही
मेरे सपने !

कम पड़ रही थीं तो मांग लेते कुछ सांसों
उसी अधिकार से जैसे मांगते थे दूसरी सहूलियतें
मांगना भी क्या
बंटी थोड़ी थीं सांसों हमारे तुम्हारे बीच
ले लेते वैसे ही जैसे आलमारी से पैसे

0

अब बनिए मत पापा !
इतनी ही चिंता थी तो खछु ही दे दी होतीं
चिरौरी कराना जरूरी था क्या ?
दे दी होतीं कुछ सांसों
वैसे ही जैसे अनजान बने भिजवा देते थे
किसी और से जरूरत के पैसे

मांगने से बड़ा सच है देना
देने से बड़ा सच बांटना
तुम दे न सके पापा
चाह कर भी बांट न सके अपनी सांसों
सांसों का मजबूत बंधन कितना कमजोर साबित हुआ पापा
चली तो उसी की
जिसने बांटी थीं सांसों हमारे बीच
चली उसी की
जिसने स्मृतियों में बने रहने के लिए
शरीर छोड़ने का नियम बनाया



सोचती रह गयी जिन्दगी

सोचता था पुत्र के रूप में जो नहीं कर पाया
पिता बन कर करूँगा
सोचूँगा कि बेटा क्या चाहता था पापा से
सोचता ही रह गया मैं
रह गया मैं सोचता

कितनी लातें मारी होंगी पेट में
कितनी पेट पर
भरपाई करूँगा सोचता था
पिता तो बन पाया, माँ नहीं

सोचा था जो प्रेयसी को नहीं दे पाया
पत्नी को जरूर दूँगा
शायद वह भी न दे पाया उसे जो 'उसे' दिया था
चालीस की उम्र को बीस कैसे कर देता ?

तुम्हें पालने में जो गलतियाँ हुई बेटे
उनकी भरपाई करूँगा एक दिन तुम्हारे बच्चे से
सोचा था
सोचा था

वेतन की मजबूरी ने बेटे से जो जो छीना
पेंशन से दूँगा वो वो पोती पोतों को
मगर तुमने तो मौका ही छीन लिया पुत्र

मेरी कविताओं ने
तुम सबका जो समय कुतर लिया वह कहाँ से लाऊँ ?

सोचता रहा, बस सोचता रहा
सोचता ही रह गया

अब तो खैर सोचना भी बेमानी है

न लेने वाले रहे

न देने वाले के बस का है अब



पेड़ की अंत्येष्टि

एहसास हो गया है पेड़ को

बचेगा नहीं

सुन ली होंगी बातें

जी हाँ, सुनते हैं

बोलते भी हैं पेड़ पर शब्दों में नहीं

मृत्यु अगोरते आदमी सा विनम्र हो गया पेड़

इतने फल दिये कि पेपच हो गये अबकी

जैसे उत्पादन दोगुना करने वाली जापानी हड़ताल हो

पुराना हो चला है सहन में खड़ा पेड़

जड़ें फैलते फैलते रसोईघर तक पहुँच चुकी हैं

पेड़ बढ़ता गया कुनबे की तरह

मकान छोटा पड़ता गया वक्त की तरह

बीमारी आंधी पानी का क्या भरोसा

उम्र भी हो चली है

भहराया अगर तो उसकी शाखों पर बसेरा किए

परिंदे तो उड़ जाएंगे

पर ये कोठरियाँ !

आदमी परिंदा तो नहीं

काट देना ही समझदारी होगी

पेड़ की अंत्येष्टि के बाद ही मकान में काम लगाना

समझदारी

सुन लिया होगा पेड़ ने

मिट्टी को मिट्टी ही पसंद है

क़ब्र पर फल नहीं चढ़ाए जाते

अपना बौराना पेड़ को खलता रहा

अपने टिकोरे उसे बोझ लगते रहे

कैसा लगता होगा उसे यह जान कर

कि यह उसका अंतिम मौसम है

बिना समझे बहुत सी चीजें समझ आ जाती हैं

जैसे मौत

पर मौत का इंतजार!

मौत का इंतजार करती कठिनतम जिन्दगी भी

कितनी मीठी लगने लगती है

जी रहा है पेड़

एक मौसम में दशकों की साध लिए

इतने मीठे फल कभी नहीं हुए

अब होंगे भी नहीं

पेड़ अंत्येष्टि के लिए तैयार है



मरते हुए बच्चों के देश में

मेरे अनाम अपरिचित बच्चों

कितना त्रासद है यह जन्मदिन

इधर मर रहा है बचपन

उधर मैं पैसठ का हो रहा हूँ

घुट रही हैं सांसों और कवि

अगले तीन सौ पैसठ दिनों की सांसों की मुबारकबाद बटोर रहा है

चाहूँ तो भी तुम्हारी घुटती सांसों को

अपनी एक भी बूढ़ी

गाढ़ी सांस नहीं दे सकता बच्चों

कैसे देख पा रहे होंगे तुम्हें तड़प तड़प के मरते

तुम्हारे परिजन आंखों के सामने

अब उड़े कि तब उड़े हाथों के तोते

मेरी मां मेरी गोद में मरी

तुम अपनी मां की गोद में

मैंने आग दी अपने पिता को पचास पार

तुम्हें तुम्हारे पिता ने

कैसे ? ? ?

कैसे नदी ने स्वीकारा होगा तुम्हारा अवशेष ? ? ?

उफ !

तुम भी वहीं जा रहे हो बउवा

जहां के बारे में तुमने कभी कुछ सुना भी नहीं

वहीं जा रहे हो जहां पांच साल पहले

मखाने के लावे सा तुम्हारा भाई गया था

वहां शायद तुम्हें गोरखपुर के पनियाले से बच्चे मिलें

अभी तीन साल पहले ही घुटी थीं उनकी सांसें
जी नहीं घोंट दी गई थीं सांसें
खाली सिलिंडरों वाले अस्पताल में
बाहर रहे होते तो शायद पेड़ों ने पंखा करके उन्हें बचा लिया होता
इलाज के नाम पर बिना इलाज मरना कितना त्रासद है
विश्व गुरु !

कैसे तो सबर कर रही होंगी तुम्हारी माएं
बचपन में अपनी मां खो देने वाले बेटों से पूछो
कैसे तो ठेल रहे होंगे दुख का पहाड़ तुम्हारे पिता
जैसे कोई पीछा छुड़ाता पिता की यादों से
जैसे कोई रस्म निभाता है उंगली पर स्याही लगवाने का



ऐन पिता दिवस पर चले गए तुम !

रुक जाते थोड़े दिन
तो शायद मातृ दिवस आ जाता
बाल दिवस भी

मर रहे बच्चों के देश में जिंदा हैं पिता लोकतंत्र जैसे
माएं जिंदा हैं मर रहे बच्चों के देश में सरकार की तरह

जी रहे देश के मरते हुए बच्चों
तुम्हारा इस तरह जाना मैं तो कहूँ अच्छा ही है
बजाय इसके कि किसी अंकल जी ने टाफी के लिए
फुसलाकर अकेले में तुम्हारी दुर्गत की होती
तुम अस्पताल के फर्श पर नहीं
किसी कूड़े के ढेर में पाए गए होते नुचे-चिथे

बच्चों का दिमाग खाने वालों
बच्चों ने तो कभी आपका दिमाग खाया नहीं
रोटी के लिए माई को तंग भी तो नहीं किया
बाऊ से भात भी नहीं मांगा
भूखे थे दो चार लीचियां ही तो खाईं
उसी पोखर में ही नहाए जिसमें पूरा गाँव नहाता है कुम्भ की तरह
क्या पता था बच्चों को कि अब धान के खेत में
ककहरा सीखती है मौत
उन्हें क्या पता कि वे टीके नहीं गए हैं
कि वे आयुष्मान भारत में बीमित नहीं हैं
वे तो उसी साल पैदा हुए जब देश
गांधी के चश्मे में स्वच्छ हो रहा था

ये दुधमुंहों के हाथ में नहीं
कि झोपड़ों में जनमने से मना कर देते
पैदा होते किसी फ्लैट में

मरणासन्न बूढ़ों के देश में ये बच्चे कर भी क्या सकते हैं
अगर उन्हें वोटर लिस्ट में आने ही न दिया जाए

फूल की तरह हंसने और
गौरैया की तरह गाने के अलावा कर भी क्या सकते हैं
ये नरम नरम बच्चे

भार हो गए थे क्या धरती मां ?
अरे मुझे उठा लेतीं !
पैंसठ की उम्र में चौसठ किलो
बताओ कितने बच्चे बच जाते
और तुम्हारा कोटा भी पूरा हो जाता
मिड डे मील वाला रजिस्टर भी भर जाता

बच्चों ने तो पृथ्वी को
माई के अचरा की तरह पकड़ना चाहा
पिता के गमछे से झाड़नी चाही पृथ्वी पर जमी धूल
बहन के साथ घुमरी परइया सा नचाना चाहा पृथ्वी को
गेंद की तरह लोकना चाहा

नहीं जानते थे कि पृथ्वी कोल्हू का बैल है
ठीहे पर घूमती
मुँह में जाबा लगाए चबाती-पेरती
दिन होता है पर दिन नहीं होता
रात आती है पर रात नहीं आती

मर रहे बचपन के देश में कैसे जीवित रह सकता है कोई
सपना
कोई लोरी

कैसे जिंदा रह सकता है
मर रहे बच्चों के देश में कवि ?



श्रद्धांजलि

जिन्दगी में कुछ भी शुभ करने के पहले
हम कथा सुनते रहे हैं मौत की

सब बहा ले जाएगी
यह वक्त की सूखी नदी
एक दिन कहलाएंगे हम
एक थे देवेन्द्र जी !

मौत के इस आइने में देख अपनी जिन्दगी
तेज कर ले जिन्दगी को
मौत की कट्टर शिला पर



‘शतरंज के खिलाड़ी’ का हिंदी-उर्दू पाठ

○ आशुतोष पार्थेश्वर

‘शतरंज का खिलाड़ी’ कहानी का हिंदी में प्रथम प्रकाशन ‘माधुरी’ पत्रिका के अक्टूबर 1924 के अंक में हुआ था। यह 1926 में प्रकाशित हिंदी कहानी संग्रहों—‘प्रेम प्रतिमा’ और ‘प्रेम द्वादशी’ में पहली बार संकलित हुई थी। उर्दू में ‘ज़माना’ पत्रिका के दिसंबर 1924 के अंक में ‘शतरंज की बाजी’ शीर्षक से यह पहली बार शायी हुई और 1927 में प्रकाशित उर्दू कहानी संग्रह ‘ख़्वाबो-ख़्याल’ में पहली बार संकलित हुई। लगभग एक ही समय दोनों भाषाओं में प्रकाशित इस कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ को साथ-साथ देखना रोचक है। इस लेख में दोनों भाषाओं में प्रकाशित पाठ की तुलना का प्रयास किया गया है; इस उद्देश्य से कि यह देख सकें कि एक ही समय हिंदी और उर्दू, दोनों भाषाओं में प्रकाशित पाठ में समानता और भिन्नता के लक्षण किस सीमा तक हैं। और, क्या यह निर्णय किया जा सकता है कि दोनों पाठ में से बेहतर पाठ किस भाषा में है?

इस लेख में यथास्थान विभिन्न हिंदी-उर्दू संग्रहों में संकलित कहानी के ‘पाठ’ की भिन्नता की ओर भी ध्यान खींचा गया है। हिंदी पाठ के लिए ‘माधुरी’, ‘प्रेम द्वादशी’ के विभिन्न संस्करणों, ‘मानसरोवर’, ‘समक्ष’ तथा ‘प्रेमचंद कहानी रचनावली’ एवं उर्दू पाठ के लिए ‘ज़माना’, ‘ख़्वाबो-ख़्याल’, ‘समक्ष’ तथा ‘कुल्लियाते-प्रेमचंद’ का उपयोग किया गया है। इन संग्रहों में मौजूद पाठ की भिन्नता हमारे सामने सवाल खड़ा करती है कि प्रामाणिक पाठ किसे माना जाए। क्योंकि भिन्नता का संकट प्रेमचंद-साहित्य के कॉपीराइट से बाहर निकलने के बाद नहीं, बल्कि उनके जीवनकाल में ही दिखाई देने लगता है। एक ही समय में कहानी के अलग-अलग पाठ की उपस्थिति को किस रूप में ग्रहण किया जाए? यह पाठ की ‘विकास’ यात्रा तो नहीं ही कही जा सकती है। अतः हिंदी-उर्दू पाठ की तुलना के लिए यहाँ कहानी के प्रथम पाठ यानी, ‘माधुरी’ और ‘ज़माना’ में प्रकाशित पाठ को आधार बनाया गया है।

‘शतरंज के खिलाड़ी’ और ‘शतरंज की बाजी’ के कुछ अंशों की तुलना यहाँ प्रस्तुत है :

1. वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफ़ीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। (हिंदी)

नवाब वाजिद अली शाह का ज़माना था। लखनऊ ऐशो-इशरत के रंग में डूबा हुआ था। छोटे बड़े, अमीरो-ग़रीब सभी रंगरलियाँ मना रहे थे। कहीं नशात की महफ़िलें आरास्ता थीं तो कोई अफ़यून की पीनक के मजे लेता था। जिंदगी के हरेक शोबे में रिंदी-व-मस्ती का जोर था। (उर्दू)

तुलना

(क) हिंदी पाठ में केवल ‘विलासिता’ है जबकि उर्दू में एक स्थान पर ‘ऐशो-इशरत’ है और दूसरी जगह

‘रंगरलियाँ’। उर्दू पाठ की इस विविधता से वह अंश अधिक व्यंजक बना है।

(ख) ‘हिंदी’ के ‘नृत्य और गान’ की जगह उर्दू में ‘नशात’, ‘विभाग’ की जगह ‘शोबे’, ‘आमोद-प्रमोद’ की जगह ‘रिंदी-व-मस्ती’ तथा ‘प्राधान्य’ के स्थान पर ‘जोर’ का प्रयोग है।

(ग) यह कहानी ‘प्रेम द्वादशी’ में प्रकाशित हुई थी। ‘प्रेम द्वादशी’ का प्रकाशन गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ से हुआ था। बाद में प्रेमचंद ने इसे सरस्वती प्रेस, बनारस से भी प्रकाशित किया। प्रेमचंद के निधनोपरांत यह कहानी ‘मानसरोवर’ (भाग-3) में संकलित हुई। मानसरोवर का प्रकाशन सरस्वती प्रेस से ही हुआ था। अब इन संकलनों में पाठ भेद देखें; पत्रिका में प्रकाशित ‘मजलिस सजाता था’, गंगा पुस्तकमाला से प्रकाशित ‘प्रेम द्वादशी’ में इसी रूप में है² किंतु सरस्वती प्रेस से प्रकाशित इसके संस्करण में केवल ‘मजलिस सजाता’³ है। उसी प्रेस से प्रकाशित ‘मानसरोवर’ में यह पुनः ‘सजाता था’⁴ है।

‘अफीम की पीनक ही के मजे लेता था’ ‘मानसरोवर’ में बदले हुए रूप में है। वहाँ वह ‘अफीम ही के मजे लेता था’⁵ है।

(घ) आलोक राय एवं मुश्ताक अली द्वारा संपादित ‘समक्ष’ में हिंदी अंश में आए ‘अमीर-ग़रीब’ को ‘ग़रीब-अमीर’ कर दिया गया है।⁶ इसी तरह उर्दू पाठ में आए ‘सभी’ को ‘सब’ कर दिया गया है।⁷ यह अशुद्धि प्रस्तुति है।

2. शासन विभाग में, साहित्य क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धंधों में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धंधों में, आहार व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र-मिस्सी और उपटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। (हिंदी)

उमूरे-सियासत में, शोरो-सुखन में, तर्जें मुआशरत में, हिरफ़तो-सनअत में, तिजारतो-तबादला में, सभी जगह नफ़्सपरस्ती की दुहाई थी। अराकीने-सलतनत मैख़्तारी के गुलाम हो रहे थे। शुअरा बोसा-व-कनार में मस्त, अहले-हर्फ़ा कलाबत्तू और चिकन बनाने में, अहले-सैफ़ तीतरबाज़ी में, अहले-रोज़गार सुरमा-व-मिस्सी, इत्रो-तेल की ख़रीदो-फ़रोख़्त में। गरज़ सारा मुल्क नफ़्सपरवरी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। सबकी आँखों में साग़रो-जाम का नशा छाया हुआ था। (उर्दू)

तुलना

(क) दोनों अंशों में भाव-साम्य है और एक हद तक शब्दों का रूपांतरण भी प्रायः पर्याय रूप में है। भिन्नता इसमें देखें कि हिंदी के ‘विलासिता’ शब्द को उर्दू में ‘नफ़्सपरस्ती’ से तथा ‘विषय वासना’ को ‘मैख़्तारी’ से बदला गया है। जबकि ‘नफ़्सपरस्ती’ और ‘विषय वासना’ एक दूसरे के बेहतर पर्याय होते।

(ख) ‘अहले-सैफ़ तीतरबाज़ी में’—हिंदी में नहीं है तो ‘उपटन’ उर्दू में नहीं है।

(ग) ‘विलासिता’ उपर्युक्त अंश में अंतिम पंक्ति में भी है। उर्दू में उसकी जगह आया ‘साग़रो-जाम’ मुहावरे के रूप में है और इस कारण अधिक आकर्षक है।

(घ) प्रेम द्वादशी में ‘उपटन’ की जगह ‘उबटन’⁸ है जबकि मानसरोवर में ‘उपटन’⁹ ही है। ‘समक्ष’ में ‘हिरफ़तो-सनअत’ की जगह ‘सनअत व हिरफ़त’ तथा ‘सुरमा-व-मिस्सी’ की जगह ‘सुरमा मिस्सी’ है।¹⁰ ‘ख़्वाबो-ख़्वाल’ में ‘ज़माना’ के पाठ से तनिक भिन्नता है। ‘अहले-हर्फ़ा कलाबत्तू और चिकन बनाने में, अहले-सैफ़ तीतरबाज़ी में’ की जगह वहाँ ‘अहले-हर्फ़ा कलाबत्तू और चिकन बनाने में मह्व, अहले-सैफ़

तीतरबाजी में मगन¹¹ है। यानी, 'महव' और 'मगन' की यहाँ वृद्धि है।

(ड.) 'जमाना' में आया 'इत्रो-तेल की खरीदो-फ़रोख़्त में' 'ख़्वाबो-ख़्याल' में बदला हुआ है। वहाँ यह 'इत्रो-तेल की खरीदो-फ़रोख़्त का दिलदादा'¹² है। 'साक्ष्य' में पूर्वोद्धृत अंश 'जमाना' के अनुरूप है और यह अंश 'ख़्वाबो-ख़्याल' के अनुरूप।¹³

3. संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़कीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं (इस संप्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी ख़ाली नहीं है)। (हिंदी)

दुनिया में क्या हो रहा है। इल्मो-हिकमत की किन-किन इजादों में मसरूफ़ है, बरो-बहर पर मगरबी अक़वाम किस तरह हावी होती जाती है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों में पालियाँ हो रही थीं। कहीं चौसर हो रही है। पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज के मार्के छिड़े हुए हैं। फ़ौजें ज़ेरो-ज़बर हो रही हैं। नवाब का हाल इससे भी बदतर था। वहाँ गीतों व तालों की इजाद होती थी। हज़े-नफ़्स के नए-नए लटके, नए-नए नुस्खे सोचे जाते थे। यहाँ तक कि फुकरा ख़ैरात के पैसे पाते तो रोटियाँ ख़रीदने की बजाय मदक और चंडू के मजे लेते थे। रईसज़ादे हाज़िरजवाबी और बज़्लासंजी की तालीम हासिल करने के लिए अरबाबे निशात से तलम्मुज़ करते थे। फ़ि़क्र की जौलाँ, अक़ल को रसा और ज़ेहन को तेज़ करने के लिए शतरंज कीमियाँ समझा जाता था। अब भी इस क़ौम के लोग कहीं-कहीं मौजूद हैं जो इस दलील को बड़े शद्दोमद से पेश करते हैं। (उर्दू)

तुलना

(क) 'इस संप्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी ख़ाली नहीं है'—सरस्वती प्रेस से प्रकाशित 'प्रेम द्वादशी' में परिवर्तित रूप में है। वहाँ यह अंश इस प्रकार है—इस संप्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी नहीं ख़ाली है।¹⁴

(ख) 'यहाँ तक कि फुकरा ख़ैरात के पैसे', 'ख़्वाबो-ख़्याल' में 'यहाँ तक कि फुकरा ख़ैरात तक के पैसे' से परिवर्तित है।¹⁵

(ग) समक्ष में 'बरो-बहर' को 'बहर व बर' तथा 'हज़े-नफ़्स के नए-नए लटके, नए-नए नुस्खे सोचे जाते थे' को 'हज़े-नफ़्स के लिए नए-नए लटके और नए-नए नुस्खे सोचे जाते थे' कर दिया गया है।¹⁶ यह अशुद्ध प्रस्तुति है।

(घ) दोनों अंशों में भाव-साम्य भले हो, किंतु ये स्वतंत्र रूप से लिखे हुए हैं। हिंदी में कसावट अधिक है तो उर्दू में संदर्भों की विविधता से कहानी का देश-काल अधिक जीवंत हो जाता है। हिंदी में बात जहाँ अमूर्त रूप में है कि 'संसार में क्या हो रहा है'; उर्दू में उस 'क्या' को तुलनात्मक रूप से अधिक स्पष्ट किया गया है। 'इल्मो-हिकमत' और 'इजादों में मसरूफ़' का उल्लेख हिंदी पाठ में नहीं है। भारत में पश्चिम की सफलता इसी 'क्या' में है जबकि लखनऊ और पूरा हिंदुस्तान 'इल्मो-हिकमत' के उस गोशे से बेख़बर है। वह सोया हुआ है। उसकी खोजें दूसरी तरह की हैं। वह 'गीतों और तालों' की इजाद में मगन है। उसकी फ़ि़क्र का दायरा 'हज़े-नफ़्स के नए-नए लटके, नए-नए नुस्खे' तक सीमित है।

कहना चाहिए कि उर्दू अंश में लखनऊ और तदुगुनी भारतीय समाज अधिक ब्यौरे और प्रभावी तरीके से प्रस्तुत है।

(ड.) हिंदी पाठ का अंतिम अंश कोष्ठक में है जबकि उर्दू में वह कहानी में सीधे उपस्थित है। यह सीधी उपस्थिति उर्दू पाठ में आए विवरणों को अधिक प्रभावी बनाती है।

4. इसलिए अगर मिर्जा सज्जाद अली और मीर रौशन अली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिंता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आखिर और करते ही क्या? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाव-पेंच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता कि खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—“चलो, आते हैं; दस्तरख़्वान बिछाओ।” यहाँ तक कि बाबरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। (हिंदी)

इसलिए अगर मिर्जा सज्जाद अली और मीर रौशन अली अपनी ज़िंदगी का बेशतर हिस्सा अपनी अक्ल को तेज़ करने में सफ़र किया करते थे तो किसी जीफ़हम को एतराज़ करने का कोई मौका न था। हाँ जुहला उन्हें जो चाहें समझें। दोनों साहबों के पास मौरूसी जागीरें थीं फ़िक्रे-मआश से आज़ाद थे, आखिर और करते ही क्या, तुलू-ए-सहर होते ही दोनों साहब नाश्ता करके बिसात पर बैठ जाते। मोहरे बिछा लेते और अक्ल को तेज़ करना शुरू कर देते फिर उन्हें ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुआ, कब सैपहर कब शाम, घर में से बार-बार आदमी आकर कहता था खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता था चलो आते हैं, दस्तरख़्वान बिछाओ। मगर शतरंज के सामने कुरमे और पुलाव के मजे भी फीके थे, यहाँ तक कि बाबरची मजबूर होकर खाना कमरे ही में रख जाता था और दोनों दोस्त दोनों काम साथ साथ करके अपनी बारीक नज़री का सबूत देते थे। कभी-कभी खाना रखा ही रह जाता उसकी याद ही न आती थी। (उर्दू)

तुलना

(क) गंगा पुस्तकमाला और सरस्वती प्रेस से प्रकाशित ‘प्रेम द्वादशी’ में ‘आखिर और करते ही क्या?’ परवर्तित चिह्न के साथ इस रूप में है—‘आखिर और करते ही क्या!’¹⁷ ‘मानसरोवर’ में यह प्रश्नवाचक चिह्न के साथ ही है।¹⁸

(ख) ‘बुलावा आता कि खाना तैयार है’, सरस्वती प्रेस से प्रकाशित ‘प्रेम द्वादशी’ में इस प्रकार है—‘बुलावा आता-खाना तैयार है।’¹⁹

(ग) हाँ जुहला उन्हें जो चाहें समझें’ केवल उर्दू में तथा ‘घर में बैठे चखौतियाँ करते थे’ केवल हिंदी है। ‘चखौती’ की देशजता विशेष चमक पैदा करती है।

(घ) हिंदी अंश में प्रयुक्त ‘मुहरे सज जाते’, उर्दू पाठ में आए ‘मुहरे बिछा लेते’ की तुलना में अधिक व्यंजक है। वहीं हिंदी अंश में आए ‘लड़ाई के दाव-पेंच होने लगते’ की जगह उर्दू में ‘अक्ल को तेज़ करना शुरू कर देते’ प्रयोग अधिक व्यंग्यात्मक है।

(ड.) ‘मगर शतरंज के सामने कुरमे और पुलाव के मजे भी फीके थे’, ‘बारीक नज़री का सबूत’ और ‘कभी-कभी खाना रखा ही रह जाता उसकी याद ही न आती थी’—ये अंश केवल उर्दू में हैं। स्पष्ट है कि उर्दू पाठ में विवरण एवं विस्तार हिंदी से अधिक है। इससे बिंबात्मकता, नाटकीयता और व्यंग्य-सबका सृजन होता है।

5. घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी दीन, दुनिया, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिर्जा की बेगम

साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और, रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिर्ज़ाजी घर में आते थे। (हिंदी)

महल्ले में, घर के नौकर चाकरों में, महरियों, मामाओं में बराबर हासिदाना हर्फ़गीरियाँ होती रहती थीं—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर के छोड़ता है। खुदा न करे किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी न दीन के काम का रहता है न दुनिया के काम का। बस उसे धोबी का कुत्ता समझो, घर का न घाट का। बुरा मर्ज़ है। सितम यह था कि बेगम साहब भी आए दिन इस मशगला के ख़िलाफ़ सदा-ए-एहतेजाज बुलंद करती रहती थीं। हालाँकि उन्हें उसके मौक़े मुश्किल से मिलते। वह सोती ही रहती थीं कि उधर बाज़ी जम जाती थी। रात को सो जाती थीं तब कहीं मिर्ज़ाजी घर में आते थे।

तुलना

(क) ‘ज़माना’ में ‘महल्ले में’ है जबकि ‘ख़्वाबो-ख़्याल’ में ‘महल्ले के’ है। इसी तरह ‘ज़माना’ में ‘बराबर’ है और ‘ख़्वाबो-ख़्याल’ में ‘बड़ा’ है। प्रथम पाठ में ‘साहब’ है और ‘ख़्वाबो-ख़्याल’ में ‘साहबा’।²⁰ विभिन्न हिंदी संकलनों में भी सर्वत्र ‘साहबा’ है, सिवाए सरस्वती प्रेस से प्रकाशित ‘प्रेम द्वादशी’ के।²¹ माधुरी और मानसरोवर में ‘मिर्ज़ाजी घर में आते थे’²² जबकि सरस्वती प्रेस और गंगा पुस्तक माला से प्रकाशित ‘प्रेम द्वादशी’ में ‘मिर्ज़ाजी भीतर आते थे’²³ है।

(ख) उर्दू पाठ में यह वर्णन गप्प रसाते हुए, मुहावरों और लोकोक्तियों का इस्तेमाल करते हुए संभव हुआ है जबकि हिंदी में वह संक्षिप्त और तुलनात्मक रूप से सपाट है। ‘महरियों, मामाओं’ की उपस्थिति भी हिंदी में नहीं है। उर्दू पाठ के ‘आदमी न दीन के काम का रहता है न दुनिया के काम का। बस उसे धोबी का कुत्ता समझो, घर का न घाट का’ तनिक सपाट रूप में हिंदी में ‘आदमी दीन, दुनिया, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का न घाट का’ है। ‘दीन, दुनिया किसी के काम का नहीं रहता’ में अंदाज़े-बयाँ ग़ायब है। वह एक कथन भर है। मुहावरा नहीं है। ‘बस उसे धोबी का कुत्ता समझो’—यह भी हिंदी में नहीं है। इस उल्लेख के बिना ‘न घर का न घाट का’ प्रभावहीन हो जाता है।

(ग) उर्दू पाठ की सशक्तता इसमें भी देखिए कि हिंदी में जहाँ ‘यहाँ तक कि मिर्ज़ा की बेगम साहबा...’ के रूप में बात कही गई है; उर्दू में मुहावरे और वक्रता के साथ है—सितम यह था कि बेगम साहब...

(घ) प्रेमचंद की हिंदी की शक्ति तब दिखाई देती है जब वे हिंदी के ठेठपन, उसकी देशजता के साथ उतरते हैं। ‘लताड़ती’ की देशजता से हिंदी अंश अधिक प्रभावी बनता है।

6. हाँ, नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—“क्या पान माँगे हैं? कह दो, आकर ले जाएँ। खाने को भी फ़ुर्सत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खाएँ, चाहे कुत्ते को खिलावें।” पर दूबदू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाडू रख छोड़ा था। शायद मिर्ज़ाजी अपनी सफ़ाई देने के लिए सारा इल्ज़ाम मीर साहब ही के सिर थोप देते थे। (हिंदी)

हाँ, जुलाहे का गुस्सा डाढ़ी पर उतारा करती थीं। नौकरों को झिड़कियाँ दिया करतीं—क्या मियाँ ने पान माँगे हैं? कह दो आकर ले जाएँ। क्या पाँव में मेंहदी लगी हुई है। क्या कहा अभी खाने की फ़ुर्सत नहीं है? खाना ले जाकर सर पर पटक दो। खाएँ या कुत्तों को खिलाएँ। यहाँ उनके इंतज़ार में कौन बैठा रहेगा। मगर लुत्फ़ यह था कि कि उन्हें अपने मियाँ से उतनी शिकायत न थी जितनी मीर साहब से। वह मीर साहब को निखट्टू, बिगाडू, टुकड़ेखोर वगैरह नामों से याद किया करती थीं, शायद मिर्ज़ाजी भी अपने बरिय्यत के इज़हार में सारा

इल्ज़ाम मीर साहब ही के सर डाल देते थे। (हिंदी)

तुलना

(क) 'पर दूबदू वह भी कुछ न कह सकती थीं'—यह अंश सरस्वती प्रेस से प्रकाशित 'प्रेम द्वादशी' में इस प्रकार है—'पर रूबरू वह भी कुछ न कर सकती थी।' ²³ उर्दू पाठ में न तो 'दूबदू' है और न ही 'रूबरू'।

(ख) 'जुलाहे का गुस्सा डाढ़ी पर उतारा करती थीं'—यह हिंदी पाठ में नहीं है। पूर्व के उदाहरण में उल्लेख है कि देशज प्रयोग से भाषायी चमक बढ़ती है। यहाँ देखें कि हिंदी में जहाँ 'गुस्सा उतारा करती थीं' का प्रयोग है, वहीं उर्दू में 'झिड़कियाँ दिया करतीं' का प्रयोग है। उर्दू पाठ का यह ठेटपन अंश को अधिक प्रभावी बना देता है।

(ग) 'क्या पाँव में मेंहदी लगी हुई है। क्या कहा अभी खाने की फुरसत नहीं है?' और 'यहाँ उनके इंतज़ार में कौन बैठा रहेगा' केवल उर्दू पाठ में हैं।

(घ) हिंदी पाठ में मीर साहब के लिए एक ही विशेषण है। उर्दू में कई। इस तरह उर्दू पाठ में नाटकीयता और परंपरित किस्सागोई का अधिक सफल प्रयोग है।

7. एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—“जाकर मिर्ज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर।” लौंडी गई, तो मिर्ज़ाजी ने कहा—“चल अभी आते हैं।” बेगम साहबा का मिर्ज़ाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा—“जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जाएँगी।” मिर्ज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे; दो ही किशतों में मीर साहब को मात हुई जाती थी। झुंझलाकर बोले—“क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?” (हिंदी)

एक दिन बेगम साहबा के सर में दर्द होने लगा तो मामा से कहा जाकर मिर्ज़ा जी को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़ जल्दी कर सर फटा जाता है। मामा गई तो मिर्ज़ाजी ने कहा चल अभी आते हैं। बेगम साहबा को इतनी ताब कहाँ कि उनके सर में दर्द हो और मियाँ शतरंज खेलने में मसरूफ़ हों। चेहरा सुर्ख हो गया और मामा से कहा जाकर कह कि अभी चलिए वरना वह खुद हकीम साहब के यहाँ चली जाएँगी। कुछ उनके आँखों रास्ता नहीं देखा है। मिर्ज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे। दो ही किशतों में मीर साहब की मात हुई जाती थी। बोले क्या ऐसा दम लबों पर है, ज़रा सब्र नहीं आता। हकीम साहब कोई छू मंतर कर देंगे कि उनके आते ही आते दर्द—सर रफ़ा हो जाएगा। (उर्दू)

तुलना

(क) हिंदी पाठ में 'लौंडी' है और उर्दू में 'मामा'।

(ख) 'बेगम साहबा का मिर्ज़ाज गरम था।'—केवल हिंदी में है।

(ख) 'सर फटा जाता है'—यह केवल उर्दू में है। इसी तरह 'कुछ उनके आँखों रास्ता नहीं देखा है', 'हकीम साहब छू मंतर कर देंगे कि उनके आते ही आते दर्द—सर रफ़ा हो जाएगा।'—भी केवल उर्दू में हैं। इन अंशों से नाटकीयता एवं प्रभाव सिद्धि में सहायता मिलती है। एक से बेगम की तो दूसरे से मीर साहब की झुंझलाहट व्यक्त होती है।

8. मिर्ज़ा साहब मजबूर होकर अंदर गए, तो बेगम साहबा ने तयौरियाँ बदलकर, लेकिन कराहते हुए कहा—“तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है! चाहे कोई मर ही जाए, पर उठने का नाम नहीं लेते! नौज कोई तुम जैसा आदमी हो!” (हिंदी)

मिर्जा साहब मजबूर होकर अंदर गए तो बेगम साहब ने कराहते हुए कहा-तुम्हें निगोड़ा शतरंज इतना प्यारा है कि चाहे कोई मर भी जाए पर उठने का नाम भी नहीं लेते। शतरंज है कि मेरी सौतन है। नौज कोई तुम जैसा नर मुहैया हो। (उर्दू)

तुलना

(क) 'त्यौरियाँ बदलकर' उर्दू में नहीं है जबकि 'शतरंज है कि मेरी सौतन है' हिंदी में नहीं है।

9. शतरंज की बाजी को मिर्जा साहब की बेगम द्वारा उलट देने का प्रसंग उर्दू पाठ में, हिंदी की तुलना में तनिक विस्तार से है। मिर्जा साहब और उनकी बेगम की बातचीत भी उर्दू पाठ में अधिक है। 'सर पर सवार', 'कुत्ते की तरह', 'सुभानअल्ला', 'हवाइयाँ उड़ने लगीं' आदि हिंदी में नहीं हैं। हिंदी पाठ में बेगम की नौकरानी का नाम हिरिया है और उर्दू पाठ में अब्बासी। हिंदी पाठ में 'तुम्हें हज़रत हुसैन की कसम' का उल्लेख है और उर्दू में 'शहीदे-कर्बला की कसम'।

10. फिर क्या था, बेगम ने अंदर पहुँचकर बाजी उलट दी; मुहरे कुछ तख़्त के नीचे फेंक दिए, कुछ बाहर; और क्वाड़े अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाज़े पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बंद हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गई। चुपके से घर की राह ली। (हिंदी)

फिर क्या था बेगम साहबा को मुँहमाँगी मुराद मिली। अंदर पहुँचकर बाजी उलट दी। मुहरे कुछ तख़्त के नीचे फेंके, कुछ बाहर। तब दरवाज़ा अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाज़े पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे। फिर चूड़ियों की झनकार सुनी तो समझ गए कि बेगम साहबा बिगड़ गई। चुपके से घर की राह ली। (उर्दू)

तुलना

(क) 'मुँह माँगी मुराद'—हिंदी पाठ में नहीं है। 'फिर दरवाज़ा बंद हुआ'— उर्दू पाठ में नहीं है। हिंदी में 'झनक' है और उर्दू में 'झनकार'। शेष, दोनों पाठ में एक समान है।

11. बेगम—अब मीर साहब इधर आए, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते, तो क्या ग़रीब हो जाते! आप तो शतरंज खेलें और मैं यहाँ चूल्हे चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है? (हिंदी)

बेगम—अब मुआ इधर आए तो खड़े-खड़े निकाल दूँ। घर नहीं चकला समझ लिया है। इतनी लौ अगर खुदा से लगाते तो वली हो जाते। आप लोग तो शतरंज खेलें। मैं यहाँ चूल्हे चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ। लौंडी समझ रखा है। जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है। (उर्दू)

तुलना

(क) 'मुआ', 'घर नहीं चकला समझ लिया है' और 'लौंडी समझ रखा है' केवल उर्दू पाठ में है।

(ख) हिंदी पाठ में 'क्या ग़रीब हो जाते' है और उर्दू में 'वली हो जाते'।

(ग) 'इतनी लौ अगर खुदा से लगाते तो वली हो जाते'—'समक्ष' में परिवर्तित रूप में है। वहाँ 'इतनी लौ अगर खुदा से हो तो वली हो जाए' है।²⁵ यह अशुद्ध प्रस्तुति है।

12. मिर्जा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे, और सारा वृत्तांत कहा। मीर साहब बोले—“मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रक्खा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या

करते हैं। घर का इतिजाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?” (हिंदी)

मिर्जाजी घर से निकले तो हकीम साहब के यहाँ के बदले मीर साहब के घर पहुँचे और माज़रतआमेज़ लहजे में बा-दिले-पुरदर्द सारा माजरा कह सुनाया।

मीर साहब हँसकर बोले, इतना तो मैं उसी वक्त समझ गया था जब दर्दे-सर का पैग़ाम मामा लाई थी कि आज आसार अच्छे नहीं हैं। मगर बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। उफ़! इतनी तमकनत! आपने उन्हें बहुत सिर चढ़ा रखा है। यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं, ख़ानादारी का इतेज़ाम करना उनका काम है। मर्दों की बातों में दख़ल देने का उन्हें क्या मिजाज़! मेरे यहाँ देखिए, कभी कोई चूँ भी नहीं करता।

तुलना

(क) उर्दू पाठ में आए ‘मिजाज़’ को ‘समक्ष’ में ‘मजाल’²⁶ कर दिया गया है। यह अशुद्ध प्रस्तुति है।

(ख) उर्दू पाठ में विस्तार और आलंकारिकता अधिक है। हिंदी में ‘सारा वृत्तांत कहा’ के साथ बात सिमट जाती है जबकि उर्दू में ‘माज़रतआमेज़’ और ‘बा-दिले-पुरदर्द’ की भी उपस्थिति है।

(ग) ‘जब दर्दे-सर का पैग़ाम मामा लाई थी कि आज आसार अच्छे नहीं हैं’—यह अंश हिंदी में नहीं है। उर्दू अंश का यह विस्तार गप्प रसाने का सुंदर उदाहरण है। इसमें सामासिकता है और मुहावरा भी। ‘उफ़! इतनी तमकनत!’—यह भी हिंदी में नहीं है।

(घ) हिंदी में ‘दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?’ कहकर बात बढ़ाई गई है जबकि उर्दू में ‘दूसरी बातों’ को खोल दिया गया है। ये दूसरी बातें ‘मर्दों की बातें’ के अतिरिक्त और क्या हो सकती थीं! यानी हिंदी पाठ में पुरुष सत्ता की यह ‘समझ’ ढँकी हुई है, जबकि उर्दू में ऐसा नहीं है। औरत को ‘मर्दों की बातों में दख़ल देने’ का हक़ कहाँ से मिला। इसलिए उर्दू में इस बात पर बल देने के लिए यह अलग से जोड़ा हुआ है—‘उन्हें क्या मिजाज़!’ मीर साहब की बात यहीं तक नहीं रुकती वे यह भी जोड़ते हैं कि, ‘मेरे यहाँ देखिए, कभी कोई चूँ भी नहीं करता।’ इस तरह यह पूरा अंश उर्दू में हिंदी से बेहतर है।

13. उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी, अब तक दिन भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में कोई आवे, कोई जाए, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और, हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। (हिंदी)

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन भर पड़े-पड़े खर्राटे लेते थे। घर में कोई आए, कोई जाए उनसे मतलब था न सरोकार। मुश्किल से दो चार दफ़ा बाज़ार जाना पड़ता। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लगाने का हुक्म होता, कभी पानी लाने का। कभी बर्फ़ लाने का, कभी तंबाकू भरने का। हुक्का तो किसी दिलजले आशिक़ की तरह हर दम गरम रहता था। (उर्दू)

तुलना

(क) हिंदी में ‘मक्खियाँ मारा करते’ प्रयोग है और उर्दू में ‘पड़े-पड़े खर्राटे लेते’ का।

(ख) हिंदी पाठ में जहाँ ‘मतलब न था’ है, वहीं उर्दू में ‘मतलब था न सरोकार’; यह केवल बात बढ़ाना, पाठ को बड़ा करना नहीं है। यह प्रेमचंद के ‘कथाकार’ की उपलब्धि है। वे झटके से आगे नहीं बढ़ते बल्कि कुछ अधिक शब्द खर्च करते हुए अपने पाठकों को तनिक देर तक बताते-समझाते हुए कहानी को आगे बढ़ाते हैं। कहना न होगा, उनका यह सलीका कहानी के उर्दू पाठ में प्रायः अधिक मुखर है।

14. घड़ी-आध घड़ी दिल-बहलाव के लिए खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुज़ूर

के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे, मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई न कोई आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले के महल्ले तबाह होते देखे गए हैं। सारे महल्ले में यही चर्चा होती रहती है। हुजूर का नमक खाते हैं, अपने आका की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है। मगर क्या करें। (हिंदी)

.....घड़ी दो घड़ी खेल लिया चलो छुट्टी हुई, और फिर हुजूर तो जानती हैं कि कितना मनहूस खेल है जिसे इसकी चाट पड़ जाती है कभी नहीं पनपता। घर पर कोई न कोई आफ़त ज़रूर आती है यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले के महल्ले तबाह होते देखे गए हैं। महल्लेवाले हरदम हमीं लोगों को टोका करते हैं। शर्म से गड़ जाना पड़ता है।

तुलना

(क) यहाँ तुलनात्मक रूप से हिंदी पाठ विस्तार लिए हुए है और वह सफल भी है।

(ख) 'खैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुजूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे'—यह अंश केवल हिंदी में है।

(ग) 'सारे महल्ले में यही चर्चा होती रहती है'—यह अंश केवल हिंदी में है।

(घ) दोनों पाठ के अंतिम वाक्य में भले भाव-साम्य हो, किंतु ये स्वतंत्र रूप से लिखे हुए हैं। यह अनुवाद या रूपांतरण का उदाहरण नहीं है।

15. महल्ले में दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे—“अब खैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का खुदा ही हाफ़िज़ है। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।” (हिंदी)

महल्ले में दो-चार बड़े बूढ़े आदमी थे, वो तरह तरह की बदगुमानियाँ करने लगे। अब खैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है तो मुल्क का खुदा ही हाफ़िज़ है। यह सल्तनत शतरंज के हाथ तबाह होगी। लक्षण बुरे हैं।

तुलना

(क) माधुरी और मानसरोवर में 'खुदा ही हाफ़िज़ है'²⁷ है जबकि प्रेम द्वादशी में 'खुदा ही हाफ़िज़'²⁸ है।

(ख) हिंदी और उर्दू पाठ में कोई भिन्नता नहीं है।

16. देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची आती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में, और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अंगरेज़ कंपनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़िडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी। (हिंदी)

देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची चली जाती थी और यहाँ सामाने-ऐश के बहम पहुँचाने में सफ़ हो जाती थी। भाँड़, नक्क़ाल, कथक, अरबाबे-नशात की गरमबाज़ारी थी। साक़नों की दुकानों पर अशफ़ियाँ बरसती थीं। रईसज़दे एक एक दम की एक एक अशफ़ी फेंक देते थे। मसारिफ़ का यह हाल और अंग्रेज़ी कंपनी का क़र्जा रोज़ ब रोज़ बढ़ता जाता था। उसकी अदायगी की किसी को फ़िक्र न थी। यहाँ तक कि सालाना ख़राज भी न अदा हो सकता था। रेज़िडेंट बार-बार ताकीदी ख़तूत लिखता, धमकियाँ देता। मगर यहाँ लोगों पर नफ़्सपरवरी का नशा सवार था। किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी। (उर्दू)

तुलना

(क) उर्दू पाठ में हिंदी की अपेक्षा विस्तार है। किंतु, अपनी संक्षिप्तता में हिंदी पाठ भी कम प्रभावी नहीं है।

(ख) बढ़ते ऋण के लिए 'कमली' के भीगकर भारी होते जाने की उपमा उर्दू पाठ में नहीं है।

(ग) 'सालाना ख़राज भी न अदा हो सकता था' को 'समक्ष' में 'सालाना खर्च भी अदा न हो सकता था'²⁹ कर दिया गया है। यह अशुद्ध प्रस्तुति है।

17. ख़ैर, मीर साहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गए। नए-नए नक्शे हल किए जाते; नए-नए क़िले बनाए जाते; नित नई व्यूह रचना होती; कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती; तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती; पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाज़ी उठा दी जाती; मिर्ज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते; मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातः काल दोनों मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे। (हिंदी)

ख़ैर मीर साहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गए, नित नए नए नक्शे हल किए जाते नए नए क़िले तामीर होते और मिसमार किए जाते। कभी-कभी खेलते-खेलते आपस में झड़प हो जाती। तू-तू मैं-मैं की नौबत पहुँच जाती पर यह शकररज़ियाँ बहुत जल्द रफ़ा हो जाती थीं। कभी ऐसा भी होता कि मिर्ज़ाजी रूठकर अपने घर चले जाते, मीर साहब बिसात उठाकर अपने घर में आ बैठते और क़समें खाते कि अब कभी शतरंज के नज़दीक न जाएँगे। मगर सुबह होते ही दोनों दोस्त फिर मिल बैठते। नींद सारी बदमज़ग़ियों को दूर कर देती थी। (उर्दू)

तुलना

(क) 'घर में जा बैठते' ऊपर संदर्भित सभी संकलनों में इसी रूप में है। किंतु 'प्रेमचंद कहानी रचनावली' में वह 'घर में आ बैठते'³⁰ हो गया है। यह अशुद्ध प्रस्तुति है।

(ख) 'झौड़' का देशज प्रयोग हिंदी अंश को चमक से भर देता है। यह भी देखें कि वे हिंदी में 'नए नए' का प्रयोग करते हैं तो उर्दू में 'नित नए नए' का।

(ग) 'अब कभी शतरंज के नज़दीक न जाएँगे'—केवल उर्दू में है।

18. एक दिन दोनों मित्र बैठे हुए शतरंज की दलदल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीरसाहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गए! यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किसलिए हुई है! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती! घर के दरवाज़े बंद कर लिए। नौकरों से बोले—“कह दो, घर में नहीं हैं।”(हिंदी)

एक दिन दोनों अहबाब बैठे शतरंज के दलदल में गोते खा रहे थे कि शाही रिसाले का एक सवार वर्दी पहने असलहे से लैस मीर साहब का नाम पूछता आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़े, औसान ख़ता हो गए, खुदा जाने क्या बला सिर पर आई। घर के दरवाज़े बंद कर लिए और नौकरों से कहा कह दो घर में नहीं है। (उर्दू)

तुलना

(क) दोनों अंशों में भाव साम्य है। किंतु यह महज अनुवाद नहीं है। दोनों स्वतंत्र रूप से लिखे हुए हैं। 'असलहे' का उल्लेख केवल उर्दू पाठ में है। 'औसान ख़ता हो गए' और 'खुदा जाने' केवल उर्दू पाठ में हैं।

(ख) 'अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती' केवल हिंदी पाठ में है।

(ग) उर्दू पाठ में आए 'होश उड़े' की जगह 'समक्ष' में 'हवास उड़े' तथा 'नौकरों से कहा कह दो घर में नहीं है' की जगह 'नौकरों से कहा। घर में नहीं है' है। यह अशुद्ध प्रस्तुति है।³⁰

19. सवार—“घर में नहीं हैं, तो कहाँ हैं?”

नौकर—“यह मैं नहीं जानता क्या काम है?”

सवार—“काम तुझे क्या बतलाऊँ? हुजूर में तलबी है—शायद फौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गए हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाएगा!”

नौकर—“अच्छा, तो जाइए, कह दिया जाएगा।

सवार—“कहने की बात नहीं है। मैं कल खुद जाऊँगा, साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।” (हिंदी)

सवार ने पूछा घर में नहीं हैं तो कहाँ हैं। कहीं छुपे बैठे होंगे!

ख़िदमतगार—यह मैं नहीं जानता। घर में से यही जवाब मिला है। क्या काम है?

सवार—“काम तुझे क्या बताऊँ। हुजूर में तलबी है। शायद फौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गए हैं। जागीरदार हैं कि मज़ाक हैं।”

ख़िदमतगार—“अच्छा तशरीफ़ ले जाइए। कह दिया जाएगा।”

सवार—कहने सुनने की बात नहीं है। मैं कल फ़ौरन आऊँगा और तलाश करके ले जाऊँगा। अपने हमराह हाज़िर करने का हुक्म हुआ है। (उर्दू)

तुलना

(क) ‘कहीं छुपे बैठे होंगे!’, ‘घर में से यही जवाब मिला है’ और ‘तलाश करके ले जाऊँगा’ केवल उर्दू में है।

(ख) ‘मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाएगा’—यह अंश केवल हिंदी में है।

स्पष्ट है कि जहाँ उर्दू में संवाद विस्तृत है, वहाँ उर्दू में और जहाँ हिंदी में विस्तृत है, वहाँ हिंदी में अधिक प्रभाव उत्पन्न होता है।

20. मिर्जा—आफ़त है, और क्या! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।”

मीर—“बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी। हज़रत आकर आप लौट जाएँगे।”

मिर्जा—“वल्लाह आपको ख़ूब सूझी! इसके सिवा और कोई तदबीर ही नहीं है।”

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं, “तुमने ख़ूब धता बताई।”

उसने जवाब दिया—“ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।” (हिंदी)

मिर्जा—“क़हर आसमानी है और क्या। कहीं सिपाहियों की माँग हो तो बिन मौत मरे। यहाँ तो जंग का नाम सुनते ही तप चढ़ आती है।

मीर—“यहाँ तो आज से दाना-पानी हराम समझिए।”

मिर्जा—“बस यही तदबीर है कि उससे मिलिए ही नहीं, दोनों आदमी ग़ायब हो जाएँ। सारा शहर छानता फिरे। कल से गोमती पार किसी वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी हज़रत आकर अपना सा मुँह लेकर लौट जाएँगे।”

मीर—“बस बस आपको खूब सूझी। वल्लाह, कल से गोमती पार की ठहरे।”

इधर बेगम साहबा सवार से कह रही थीं “तुमने खूब बहुरूप धरा।”

उसने जवाब दिया—ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इसकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली, अब देख लेना जो कभी भूल कर भी घर रहे, सुब्ब का गया पहर रात को आएगा। (उर्दू)

तुलना

(क) ‘जमाना’ में आया ‘तप चढ़ आती है’³² ‘ख़्वाबो-ख़्याल’ ‘जूरी चढ़ आती है’³³ हो गया है। ‘समक्ष’ में यह ‘नप चढ़ जाती है’³⁴ हो गया है। यह अशुद्ध प्रस्तुति है।

(ख) ‘क़हर आसमानी है’—यह मुहावरा हिंदी में नहीं है। हिंदी में ‘मोरचे’ पर जाने से मौत का डर है तो उर्दू पाठ में ‘सिपाहियों की माँग’ पर ही वह डर है। ‘यहाँ तो जंग का नाम सुनते ही तप चढ़ आती है’—यह अंश भी हिंदी में नहीं है।

(ग) मीर का कथन कि, ‘यहाँ तो आज से दाना-पानी हराम समझिए’ हिंदी में नहीं है।

(घ) तदबीर वाला कथन हिंदी पाठ में मिर्जा के हिस्से है और उर्दू पाठ में मीर के।

(ङ.) हिंदी पाठ में ‘धता बताई’ है और उर्दू में ‘बहुरूप धरा’।

(च) ‘सुब्ब का गया पहर रात को आएगा’—केवल उर्दू पाठ में है।

निश्चय ही, अपने विस्तार के साथ उर्दू अंश यहाँ अधिक प्रभावी है।

21. इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कंपनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रूर भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाए, जो बेगार में पकड़ जाएँ। हज़ारों रुपए सालाना की जागीर मुफ्त ही में हज़म करना चाहते थे। (हिंदी)

इधर मुल्क में सियासी पेचीदगियाँ रोज़-ब-रोज़ पेचीदा तर होती जाती थीं, कंपनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मचा हुआ था। लोग अपने अपने बाल बच्चों को लेकर देहातों में भागे जा रहे थे। पर हमारे दोनों शतरंजबाज़ दोस्तों को ग़मे-दुज़्द और ग़मे-काला से कोई वास्ता न था। वो घर से चलते तो गलियों में हो जाते कि कहीं किसी की निगाह न पड़ जाए। मुहल्लेवालों को भी उनकी सूरत न दिखाई देती थी। यहाँ तक कि अंग्रेज़ी फ़ौजें लखनऊ के करीब पहुँच गईं। (उर्दू)

तुलना

(क) ‘समक्ष’ में ‘पेचीदातर’ को ‘पेचीदा’ कर दिया गया है।³⁵ यह अशुद्ध है।

(ख) उर्दू में ‘हलचल’ पुलिंग है और हिंदी में स्त्रीलिंग।

(ग) दोनों अंश स्वतंत्र रूप से लिखे हुए हैं। ‘ग़मे-दुज़्द और ग़मे-काला’ फ़ारसी कहावत है। पूरा मुहावरा इस तरह है, ‘नै ग़मे-दुज़्द नै ग़मे काला’। इसका अर्थ है—ग़रीब को चोरी का ख़ौफ़ नहीं होता।

(घ) ‘बादशाही मुलाज़िम’ का स्पष्ट उल्लेख केवल हिंदी में है। अंतिम वाक्य दोनों अंशों में भिन्न है। हिंदी पाठ में जागीर हज़म हो जाने की चिंता है। और, भय का स्रोत है—बादशाही मुलाज़िम। जबकि उर्दू पाठ में यह चिंता उस तरह नहीं है। उर्दू अंश कंपनी की फ़ौज के उल्लेख के साथ आरंभ होता है और समाप्त भी। इस तरह कंपनी राज की धमक उर्दू पाठ में अधिक सुनाई देती है।

22. मीर साहब उन्हें किशत-पर-किशत दे रहे थे। इतने में कंपनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिए। यह गोरों की फौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी। (हिंदी)

मिर्जा साहब उन्हें किशत पर किशत दे रहे थे कि दफ़ातन कंपनी की फौज सामने की सड़क पर आती हुई दिखाई दी, कंपनी ने लखनऊ पर तसर्ख़ू करने का फैसला कर लिया था। क़र्ज़ की इल्लत में सल्तनत हज़म कर लेना चाहती थी। वही महाजनी चाल जिससे आज सारी कमज़ोर क़ौमों पा-ब-ज़ंजीर हो रही हैं। (उर्दू)

तुलना

(क) हिंदी पाठ में मीर साहब किशत दे रहे हैं तो उर्दू पाठ में मिर्जा।

(ख) 'यह गोरों की फौज थी'—यह उल्लेख केवल हिंदी में है। इस उल्लेख के साथ कि कंपनी की फौज सामने से आती दिखाई दी, मानो यह स्पष्ट कर देना हो कि कंपनी की फौज से यहाँ माने केवल गोरों सैनिकों से लिया जाए।

(ग) 'क़र्ज़ की इल्लत में सल्तनत हज़म कर लेना चाहती थी। वही महाजनी चाल जिससे आज सारी कमज़ोर क़ौमों पा-ब-ज़ंजीर हो रही हैं।'—यह पूरा अंश केवल उर्दू में है। यह पाठ-विस्तार मात्र नहीं है। बल्कि कंपनी राज की विस्तारवादी नीतियों का मॉडल इस एक वाक्य से उजागर हो जाता है। और, केवल कंपनी राज की नीतियों का ही नहीं, दुनिया की सभी साम्राज्यवादी शक्तियों का यही मूल हथियार रहा है। इस तरह यह अंश हिंदी की तुलना में अधिक मूल्यवान है।

23. मीरसाहब बोले—“अँगरेज़ी फौज आ रही है; खुदा ख़ैर करे।”

मिर्जा—“आने दीजिए, किशत बचाइए। यह किशत।”

मीर—“ज़रा देखना चाहिए—यहीं आड़ में खड़े हो जाएँ।”

मिर्जा—“देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किशत।”

मीर—“तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे जवान हैं लाल बंदरों के से मुँह हैं। सूरत देखकर ख़ौफ़ मालूम होता है।” (हिंदी)

मीर साहब—“अँगरेज़ी फौजें आ रही हैं।”

मिर्जा—“आने दीजिए, किशत बचाइए। यह किशत।”

मीर—ज़रा देखना चाहिए, आड़े से देखें, कैसे क़वी हैकल जवान हैं। देखकर सीना थरता है।

मिर्जा—देख लीजिएगा, क्या जल्दी है। फिर किशत।

मीर—तोपख़ाना भी है, कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। सुर्ख़ चेहरा जैसे लाल बंदर। (उर्दू)

तुलना

(क) 'खुदा ख़ैर करे' और 'सूरत देखकर ख़ौफ़ मालूम होता है' केवल हिंदी में हैं। मिर्जा का कथन 'यह किशत', 'प्रेम द्वादशी' में 'लो यह किशत' है।³⁶

(ख) 'कैसे क़वी हैकल जवान हैं। देखकर सीना थरता है'—केवल उर्दू में है।

24. नवाब वाजिद अली पकड़ लिए गए थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिए जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह खून बहे बिना, न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े से बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश

का नवाब बंदी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधः पतन की चरम सीमा थी। (हिंदी)

नवाब वाजिद अली शाह माजूल कर दिए गए थे और फौज उन्हें गिरफ्तार किए लिए जाती थी। शहर में कोई हंगामा न हुआ, न कुश्तो-खून। यहाँ तक कि किसी जाँबाज़ ने एक क़तरा खून भी न बहाया। नवाब घर से इस तरह रुख़सत हुए जैसे लड़की रोती पीटती ससुराल जाती है। बेग़में रोई, नवाब रोए, मामाएँ, मुग़लानियाँ रोई और बस सल्तनत का ख़ात्मा हो गया। अज़ल से किसी मुल्क में किसी बादशाह की माजुली इतनी सुलहआमेज़, इतनी बे-ज़रूर न हुई होगी। कम अज़ कम तारीख़ में इसकी नज़ीर नहीं। यह वह अहिंसा न थी जिस पर मलाइक खुश होते हैं। यह वह पस्तहिम्मती, वह नामर्दी थी जिस पर वीवियाँ रोती हैं, लखनऊ का फ़रमौरवा क़ैदी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह सियासी ज़वाल की इंतहाई हद थी। (उर्दू)

तुलना

(क) उर्दू पाठ का विस्तार उसे प्रभावी बनाता है। वाजिद अली शाह की गिरफ्तारी को दर्शाने के लिए प्रेमचंद बिलकुल नई उपमा खर्च करते हैं—‘नवाब घर से इस तरह रुख़सत हुए जैसे लड़की रोती पीटती ससुराल जाती है। बेग़में रोई, नवाब रोए, मामाएँ, मुग़लानियाँ रोई और बस सल्तनत का ख़ात्मा हो गया।’ यह अंश हिंदी में नहीं है।

(ख) ‘कम अज़ कम तारीख़ में इसकी नज़ीर नहीं’—यह अंश भी हिंदी पाठ में नहीं है।

(ग) ‘अहिंसा’ का प्रयोग दोनों पाठ में है।

(घ) ‘समक्ष’ में ‘वीवियाँ’ को ‘देवियाँ’ कर दिया गया है।³⁷ यह अशुद्ध प्रस्तुति है।

(ङ.) हिंदी पाठ में एक बार अवध है तो दूसरी बार लखनऊ। उर्दू पाठ में दोनों ही स्थलों पर लखनऊ है। यह लखनऊ की नींद को दर्शाने के लिए सचेत प्रयोग है। निस्संदेह, यहाँ उर्दू अंश, हिंदी की तुलना में अधिक प्रभावी है।

24. मिर्ज़ा—जनाब ज़रा ठहरिए। इस वक़्त इधर तबियत नहीं लगती। बेचारे नवाब साहब इस वक़्त खून के आँसू रो रहे होंगे। (हिंदी)

मिर्ज़ा—हज़रत ज़रा ठहरिए, इस वक़्त बाज़ी की तरफ़ तबियत नहीं मायल होती। हुज़ूर आली खून के आँसू रोते होंगे। लखनऊ का चिराग़ आज गुल हो गया। (उर्दू)

तुलना

(क) ‘लखनऊ का चिराग़ आज गुल हो गया’—यह केवल उर्दू पाठ में है। इस प्रयोग से उर्दू अंश अधिक प्रभावी हो जाता है।

25. मिर्ज़ा—“खुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह!” (हिंदी)

मिर्ज़ा—आप बड़े बेदर्द हैं। वल्लाह ऐसा हादसा—ए-जाँकाह देखकर आपको सदमा नहीं होता। हाय हुज़ूर जाने आलम अब कमाल का कोई क़दरदान न रहा। लखनऊ भी वीरान हो गया। (उर्दू)

तुलना

(क) ‘ख़्वाबो-ख़्याल’ में ‘जाने आलम अब कमाल का कोई क़दरदान न रहा’ को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—‘जाने आलम के बाद अब कमाल का कोई क़दरदान न रहा’।³⁸

(ख) 'लखनऊ भी वीरान हो गया'—यह केवल उर्दू में है। दोनों अंशों का प्रभाव तनिक भिन्न है। हिंदी में मिर्जा की 'हाय' 'वाजिदअली शाह' के लिए निकलती है; वाजिदअली शाह यानी पूरी रवायत, नवाबी सल्तनत, उसका वैभव, उसकी प्रतिष्ठा, उसका ऐशो-आराम; सब कुछ। जबकि हिंदी 'हाय' इसलिए कि 'अब कमाल का कोई क़दरदान न रहा'; यहाँ पीड़ा केवल वाजिदअली शाह के लिए नहीं, बल्कि वाजिदअली शाह के सहारे फलने-फूलने वाली पूरी संस्कृति के नष्ट होने की भी है।

26. अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोंसलों में चिमटीं। (हिंदी)

अबाबीलें अपने अपने घोंसलों से चिमटकर नमाज़े-मग़रिब अदा करने लगीं। (उर्दू)

तुलना

(क) 'नमाज़े-मग़रिब'—यह मुहावरा हिंदी की तुलना में उर्दू पाठ को अधिक प्रभावी बना देता है। हालाँकि, ऐसे उदाहरणों के संबंध में एक प्रश्न खड़ा किया जाता है कि क्या प्रेमचंद कहानी का पाठ, विशेषकर उर्दू पाठ, पाठकों की धार्मिक पहचान को ध्यान में रखकर गढ़ते थे।

ऐसे सवालोंने से बचने के बजाय जुझते हुए ही प्रेमचंद साहित्य का मूल्यांकन करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि 'नमाज़े-मग़रिब' का स्थानापन्न क्या कोई अन्य मुहावरा हो सकता है। क्या 'संध्या वंदन' उसका स्थान ले सकता है? और क्या 'अबाबीलें अपने अपने घोंसलों से चिमटकर संध्या वंदन करने लगीं' से वही प्रभाव पैदा होगा जो मूल से उत्पन्न होता है। निश्चय ही, 'संध्या वंदन' पहले के पास नहीं पहुँचता। ऐसे प्रश्नों के पीछे एक सचेत दृष्टि होती है जो भाषा को संस्कृति और समाज से अधिक धर्म से जोड़कर देखती है। प्रेमचंद के यहाँ इस समझ को अतिक्रमित करने के अनेक उदाहरण हैं।

27. हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गए हों। मिर्जाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिए उनकी दाद देते थे। पर ज्यों ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकला जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—“जनाब, आप चाल बदला न कीजिए।.....” (हिंदी)

उधर मीर साहब ग़ज़लें पढ़ते थे, तुमरियाँ गाते थे चुटकियाँ लेते थे, आवाज़ें कसते थे , ज़िला और जुगत में कमाल दिखाते थे, ऐसे खुश थे गोया कोई दफ़ीना हाथ आ गया है। मिर्जा साहब उनकी यह खुशफ़हमियाँ सुन-सुनकर झुँझलाते थे और बार-बार तय़ौरी चढ़ाकर कहते आप चाल न तब्दील किया कीजिए।(उर्दू)

तुलना

(क) निश्चय ही, यहाँ हिंदी अंश में विस्तार अधिक है। इस विस्तार से दृश्य की नाटकीयता अधिक उभर आती है।

(ख) उर्दू पाठ में 'तुमरी' का उल्लेख है। इस शास्त्रीय कला के विकास में लखनऊ के नवाबों और सामंतों का बहुत योगदान रहा है। यानी, इस उल्लेख में इतिहास है और संस्कृति भी। एक पूरी रवायत इस एक शब्द से झाँकने लगती है। हिंदी अंश इस दृष्टि से विपन्न है।

(ग) 'ज़िला और जुगत'—यह प्रयोग हिंदी में नहीं है। 'समक्ष' में इसे 'गुलाम और जगत' कर दिया गया है।³⁹ यह अशुद्ध है।

28. मीर—हरगिज़ नहीं।

मिर्जा—रखेंगे तो आपके फ़रिश्ते। आपकी हकीक़त ही क्या है। (केवल उर्दू में)

29. कहानी के अंत में भी मीर और मिर्जा के संवादों में अंतर है। हिंदी पाठ में मिर्जा ने यह कहा—‘अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न करा।’ उर्दू पाठ में मिर्जा यह कहते हैं—‘बेहयाओं को शर्म भी नहीं आती।’

मीर साहब हिंदी में कहते हैं—‘यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाई कि उसकी आँखें निकालीं।’ उर्दू में यही बात कुछ इस प्रकार कही गई है—‘किसी ने आँख दिखाई और हमने दिया मिला हुआ हाथ। भंडार खुल गया।’

30. उनमें राजनीतिक भावों का अधः पतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें, पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों ज़ख्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़पकर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं दानों प्राणियों ने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिए। (हिंदी)

उनके सियासी जज़्बात फ़ना हो गए थे। बादशाह के लिए सल्तनत के लिए क़ौम के लिए क्यों मरें? क्यों अपनी मीठी नींद में खलल डालें। मगर इन्फ़ेरादी जज़्बात में मुतलक़ ख़ौफ़ न था बल्कि वह क़ौमी तर हो गए थे। दोनों ने पैतरे बदले। लकड़ी और गतका खेले हुए थे। तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ आई और दोनों ज़ख्म खाकर गिर पड़े। दोनों ने वहीं तड़प तड़प कर जान दे दी। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू की न गिरी। इन्हीं दोनों आदमियों ने शतरंज के वज़ीर के लिए अपनी गर्दन कटा दी। (उर्दू)

तुलना

(क) उर्दू पाठ में विस्तार है। इस विस्तार से मीर और मिर्जा के चरित्र का पता चलता है और ऐतिहासिक-सामाजिक स्थितियों का भी। ‘क्यों अपनी मीठी नींद में खलल डालें’—यह अंश दोनों की, और केवल दोनों की ही नहीं, उस दौर के कुलीनों के वर्गीय चरित्र को उद्घाटित करनेवाला है। इसी तरह ‘लकड़ी और गतका खेले हुए थे’ का प्रयोग भी सोद्देश्य है। यह दोनों ज़मींदारों पर व्यंग्य है। इसके दोनों के युद्ध-अनुभव से अपरिचित होने का परिचय मिलता है; लेकिन इससे बड़ी टिप्पणी यह है कि ज़मींदारों-नवाबों-सामंतों ने एक दौर में राजकाज को केवल आनंद और खेल मात्र समझ रखा था। उनके लिए जागीरदारी, शासन शतरंज के खेल से अधिक न था।

इस पूरी चर्चा के बाद कह सकते हैं कि कहानी का हिंदी और उर्दू पाठ पूरी तरह एक दूसरे का अनुवाद या रूपांतरण नहीं है। दोनों में ऐसे पर्याप्त स्थल हैं, जो मौलिक हैं। जहाँ तक तुलना और प्रभाव की बात है, प्रायः स्थलों पर उर्दू पाठ अपने विस्तार, मुहावरे, सामासिकता एवं युगीन संदर्भों के कारण अधिक प्रभावी है।

संदर्भ :

1. माधुरी, वर्ष-3, खंड-3, संख्या-3; अक्टूबर 1924; पृ. 310
2. प्रेमचंद, प्रेम द्वादशी, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, अष्टमावृत्ति, सं० 2000 विक्रम; पृ० 169
3. प्रेमचंद, प्रेम द्वादशी, सरस्वती प्रेस, बनारस कैट, आठवाँ सस्ता संस्करण, 1938; पृ० 147
4. प्रेमचंद, मानसरोवर, भाग-3, सरस्वती प्रेस, चौथा संस्करण, 1947; पृ० 255
5. वही
6. आलोक राय, मुश्ताक अली (सं०), समक्ष : प्रेमचंद की बीस उर्दू-हिंदी कहानियों का समांतर पाठ, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला संस्करण, 2003; शतरंज के खिलाड़ी, पृ० 77
7. वही, शतरंज की बाज़ी, पृ० 77
8. प्रेम द्वादशी, सरस्वती प्रेस, वही
9. मानसरोवर, भाग-3, वही

10. समक्ष, वही
11. प्रेमचंद, ख़्वाबो-ख़्याल, लाजपत राय एंड संस, लाहौर, तीसरी बार, 1938, पृ० 63
12. वही
13. समक्ष, वही
14. प्रेम द्वादशी, वही
15. ख़्वाबो-ख़्याल, वही
16. समक्ष, वही
17. प्रेम द्वादशी, सरस्वती प्रेस, पृ० वही; प्रेम द्वादशी, गंगा पुस्तकमाला, पृ० 170
18. मानसरोवर, वही, पृ० 255
19. प्रेम द्वादशी, सरस्वती प्रेस, पृ० 148
20. ज़माना, दिसंबर 1924, पृ० 299; ख़्वाबो-ख़्याल, पृ० 65
21. प्रेम द्वादशी, वही
22. माधुरी, वही; मानसरोवर, वही;
23. प्रेम द्वादशी, सरस्वती प्रेस, वही; गंगा पुस्तक माला, वही
24. वही
25. समक्ष, पृ० 80
26. वही
27. माधुरी, वही, पृ० 312; मानसरोवर वही, पृ० 259
28. प्रेम द्वादशी, वही, पृ० 152; प्रेम द्वादशी, गंगा पुस्तकमाला, पृ० 175
29. समक्ष, शतरंज की बाज़ी, पृ० 82
30. कमलकिशोर गोयनका (संपादक), प्रेमचंद कहानी रचनावली, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2010, खंड-3; पृ० 355
31. समक्ष, वही
32. ज़माना, पृ० 305
33. ख़्वाबो-ख़्याल, पृ० 72
34. समक्ष, वही, पृ० 83
35. समक्ष, वही
36. प्रेम द्वादशी, सरस्वती प्रेस, पृ० 514
37. समक्ष, वही, पृ० 85
38. ख़्वाबो-ख़्याल, पृ० 75
39. समक्ष, वही



मार्क्सवादी इतिहास लेखन व सबाल्टर्न इतिहास लेखन : एक तुलनात्मक विश्लेषण

○ रीता सिंह

संक्षिप्ति :

इतिहास का मूल्यांकन शायद उतना सरल नहीं है, जितना अन्य विषयों का; क्योंकि इसकी भौगोलिक एवं संकीर्ण सीमा ढूँढ़ना या समझना सबसे बड़ी भूल समझी जायेगी। इतिहास दर्शन या चिन्तन यह अपने आप में एक बड़ी ही जटिल प्रक्रिया है। कार्ल मार्क्स जैसे इतिहासकारों ने इसे सामाजिक व आर्थिक रूप से और भी गुढ़ या यूँ कह लें कि बड़ा ही सटीक रूप दे दिया है, वही सबाल्टर्न इतिहासकारों ने मानव समाज के कुछ अनछुए पहलुओं को भी इतिहास के पन्नों में जगह दी है। इस शोधपत्र में कार्ल मार्क्स, मार्क्सवादी इतिहास लेखन और सबाल्टर्न इतिहास लेखन के तुलनात्मक पहलुओं का अध्ययन किया गया है।

प्रख्यात राजनीतिक विचारक मैक्सी के शब्दों में “निष्पक्ष रूप से उस व्यक्ति के विषय में कुछ कहना बहुत कठिन हो जाता है जिसे लाखों व्यक्ति ईश्वर की भाँति पूजते हों और अन्य लाखों पिशाच मानकर घृणा करते हों। यदी मार्क्स के अध्ययन की आवश्यकता का प्रश्न हटाया जा सके तो इन कटु आलोचनाओं से बचा जा सकता है, जिसके विचारों ने विश्व को प्रतिद्वन्द्वी शिविरों में बाँट दिया हो। ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में विचार करने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि भावुकता को मस्तिष्क की खिड़की से बाहर फेंककर उसे समझने की चेष्टा की जाय।”¹ मार्क्स सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन की बात रखने वाले कोई प्रथम वैज्ञानिक नहीं थे। मार्क्स से बहुत समय पहले भी बड़े-बड़े विचारक हुए, जिन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था में विद्यमान धन की विषमता और आर्थिक क्षेत्रों में राज्य की नीति की कटु आलोचना की। परन्तु ये विचारक विषमता के कारणों और उसके उत्पादन की विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं बता सके। इसका यह था कि उनका अध्ययन सामाजिक इतिहास की वास्तविकता पर आधारित न होकर केवल कल्पनाओं पर आधारित था। वहीं मार्क्स ने दार्शनिक जगत के विश्लेषण के साथ-साथ उसे बदलने के वैज्ञानिक स्वरूप को पूरे विश्व के सामने रखा। साम्यवादी समाज की स्थापना की आशा एवं उसके व्यावहारिक साधनों को भी लोगों के सामने प्रस्तुत किया। मार्क्स उस समय के इतिहासकारों से हर तरह से बिलकुल अलग दिखे, जिन्होंने इतिहास को मात्र कुछ लोगों के इर्द-गिर्द ही समेटे रखा व उनके कार्यों का परिणाम समझा। जहाँ तक सवाल इतिहास के क्रमशः विकास व लेखन का है तो यह कहा जा सकता है कि मार्क्स, हिगल के विचारों से प्रभावित थे। इसके लिए उन्होंने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाया तथा इस बात पर बल दिया कि ऐतिहासिक घटनाओं को प्रायः आर्थिक परिस्थितियाँ भी प्रभावित करती हैं। मार्क्स के समाजवाद को ‘सर्वहारा समाजवाद’ के नाम से भी जाना जाता है।

मार्क्स ने तात्कालीन समाज को बड़े ही करीब से जाकर देखा तथा उसकी हर छोटी बड़ी प्रक्रियाओं का

बड़ी ही गहनता व आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया है। पूंजीवादी व्यवस्था के दोषों के साथ-साथ इसका अन्त कर वर्गविहीन समाज की स्थापना की रूपरेखा दुनिया के सामने रखी व विधिवत प्रक्रिया का निरूपण भी किया। प्रो. सी.ई.एम. जोड के शब्दों में कहा जा सकता है कि, “मार्क्स प्रथम समाजवादी लेखक है जिसके कार्य को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसने अपने वांछित समाज का चित्रण ही नहीं किया है, वरन उन परिस्थितियों का भी विस्तृत वर्णन करता है जिसके माध्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।” राजनीतिज्ञ लेन लंकास्टर के अनुसार “मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवाद के दो प्रमुख आधार हैं। प्रथम यह वास्तविकता पर आधारित है न कि कल्पना पर। द्वितीय, यह पुरानी व्यवस्था को ही वैज्ञानिक तरीके से नहीं समझता वरन नवीन व्यवस्था स्थापित करने के लिए भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है।”¹² प्रसिद्ध इतिहासकार ए.जे.पी. टेलर ने भी मार्क्स के इतिहास लेखन में वैज्ञानिक पहलू को स्वीकार किया। इटली के मार्क्सवादी चिंतक एंतोनिया ग्राम्शी तो मार्क्सवाद से प्रभावित होकर नये विचार की शुरुआत ही कर डाली। इसके अनुसार शासक वर्ग सिर्फ दमन या बल प्रयोग द्वारा अपना प्रभुत्व कायम नहीं रखता है बल्कि इसके लिए वह विचारात्मक औजारों का भी प्रयोग करता है।

कार्ल हेनरी मार्क्स का जन्म 5 मई 1818 को जर्मनी के राइनलैंड में हुआ था। मार्क्स के बौद्धिक विकास में आध्यात्मिक प्रवृत्ति का विचार रखने वाली माँ व ख्याति प्राप्त वकील पिता का महत्वपूर्ण योगदान रहा। स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मार्क्स ने बॉन यूनिवर्सिटी में प्रवेश लिया। मार्क्स ने यहाँ न्यायशास्त्र, दर्शन व इतिहास का गहन अध्ययन किया। बर्लिन विश्वविद्यालय के साहित्यिक माहौल का मार्क्स पर गहरा प्रभाव पड़ा, किन्तु धीरे-धीरे उनका मन साहित्य से हटकर विज्ञान और दर्शन की ओर हुआ। दर्शन की आध्यात्मिक चिंतन परम्परा को बाद में मार्क्स ने अनुपयोगी पाया और धर्म की जगह विज्ञान को स्थापित किया। यदि मार्क्स की पी-एच.डी. की थीसिस पर नजर दौड़ाई जाय तो लगता है धीरे-धीरे वे नास्तिकतावाद की तरफ अपना कदम बढ़ा चुके थे। डॉक्टरेट कर लेने के उपरान्त मार्क्स की शासन विरोधी नीतियों व सोच के कारण प्रोफेसर बनने की इच्छा अन्तोगत्वा पूरी ना हो सकी। मैक्सी ने इसे बड़े ही सकारात्मक रूप में लिया और कहा कि यह अच्छा हुआ, क्योंकि यह संभव है कि ‘श्रमजीवी समाजवाद’ के जनक के रूप में उसे वह ऐतिहासिक अमरता कभी नहीं प्राप्त होती।

मार्क्स के पारिवारिक जीवन का जहाँ तक सवाल है तो मार्क्स का विवाह वेस्टफेलन की पुत्री जैनी के साथ 1843 में हुआ था। विवाह के उपरान्त मार्क्स पेरिस चले गये, जहाँ उसने फ्रेको-जर्मन शब्दकोश का संपादन किया। व्यवस्था विरोधी लेखन के कारण मार्क्स को पेरिस छोड़ना पड़ा। जीवन के अन्तिम क्षणों में मार्क्स इंग्लैंड में रहे, जहाँ उसका परिचय उद्योगपति ऐंजिल्स से हुआ। यह परिचय घनिष्ठ मित्रता में परिवर्तित हो गया। 1848 में मार्क्स व ऐंजिल्स ने साम्यवादी घोषणा पत्र की रचना की, जिससे वैज्ञानिक समाजवाद अस्तित्व में आया। मार्क्स का जीवन रोमांचकारी घटनाओं, कष्टों एवं संघर्षों की कहानी है। पूंजीवाद का अन्त करने के प्रयास में 1864 में मार्क्स ने अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक वर्ग समुदाय की स्थापना की और पूंजीवाद का अन्त करने के प्रयास में आजीवन लगे रहे। 1883 में मार्क्स का देहावसान हो गया। शव सन्देश में ऐंजिल्स ने कहा, “जीवन में उसका उद्देश्य प्रत्येक संभव तरीके से पूंजीवादी समाज के अन्त का प्रयत्न करना था....संघर्ष उसके जीवन का मुख्य तत्व था और उसमें ऐसे अदम्य उत्साह, साहस और सफलता से संघर्ष किया, जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। परिणामतः वह अपने समय का सबसे अधिक घृणा और श्रद्धा का पात्र व्यक्ति था। उसका नाम और कार्य युग-युग तक जीवित रहेगा।” गेटेल ने भी लिखा है, “द्रिद्रता एवं संघर्ष कदाचित् मार्क्स के अनुकूल सिद्ध हुए, क्योंकि अंत में उसकी इतिहास की शक्तियों को मुक्त करने की महत्वाकांक्षा पूर्ण हो गयी।”¹³

फ्रेडरिक एंगेल्स को समाजशास्त्री व दार्शनिक मार्क्सवाद के सिद्धान्त का श्रेय प्राप्त है। एंगेल्स ने 1848

में मार्क्स के साथ मिलकर कम्युनिष्ट घोषणा पत्र की रचना की और बाद में अभूतपूर्व पुस्तक 'पूँजी' दास कैपिटल को लिखने के लिए मार्क्स की आर्थिक तौर पर मदद की। मार्क्स की मौत के बाद एंगेल्स ने मार्क्स की लेखन प्रक्रिया को आगे बढ़ाया और पूँजी के दूसरे और तीसरे खण्ड का संपादन भी किया। एंगेल्स ने अतिरिक्त पूँजी के नियम पर मार्क्स के लेखों को जमा करने की जिम्मेदारी भी बखूबी निभाया और बाद में इसे पूँजी के चौथे खण्ड के तौर पर प्रकाशित किया।

मार्क्सवाद के अनुसार मानव समाज विविध सामाजिक समुदाय में संघर्ष के साथ सतत् आगे बढ़ रहा है, जिससे प्रबुद्ध समुदाय के साथ उसका द्वन्द्व है, और जो उत्पादित और काम करने वाले खुद को मजदूरी के बदले में अपने को बेचते हैं। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वाद, प्रतिवाद व संवाद का एक तरह से गतिशील रूप है। द्वन्द्ववाद का शाब्दिक अर्थ है वाद-विवाद। वाद-विवाद धरती की सभी जीवित वस्तुओं के बीच निरंतर चलता रहता है, माना यही प्रकृति का सत्य है। मार्क्स की द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगल के द्वन्द्वात्मक दर्शन से लिया गया है, किन्तु यह हीगल के द्वन्द्व से बिल्कुल अलग है। स्वयं मार्क्स के शब्दों में, “मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति न केवल हीगलवादी पद्धति से भिन्न है वरन वह उसके बिल्कुल विपरीत है। मैंने हीगल के द्वन्द्वात्मक तर्क अपने सिर के बल पर खड़ा पाया, मैंने उसे सीधा कर पैरों के बल पर खड़ा कर दिया।”⁴ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में प्रकृति की समस्त वस्तुओं को भौतिकवादी नजरिये से देखा जाता है। इन वस्तुओं के बीच सदैव द्वन्द्व होता रहता है। इस कारण पुरानी वस्तुएं प्रायः नष्ट हो जाया करती हैं और उसका स्थान नयी ग्रहण कर लेती है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तरह ही आर्थिक नियतिवाद का सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है, वास्तव में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को सामाजिक विकास के सम्बन्ध में प्रस्तुत करना इतिहास की आर्थिक व्याख्या है।

आधुनिक इतिहास के लेखन का जहाँ तक सवाल है तो आधुनिक इतिहासकारों का विचार है कि इतिहास के लेखन में परिवर्तन होना चाहिए, क्योंकि इतिहास के लेखन में बहुत सारे पहलू हैं जिसे तत्कालीन इतिहासकारों ने छोड़ दिया है; चाहे वह भूलवश हो या किसी और कारणवश हो। आधुनिक इतिहास लेखक का एक स्वरूप 'सबाल्टर्न स्टडीज' (निम्नवर्गीय प्रसंग) के रूप में सामने लाया गया है। यहाँ सबाल्टर्न शब्द का प्रयोग समाज के गौण-दलित, उत्पीड़ित और मुब्तला लोगों के लिए किया गया है। निम्नवर्गीय इतिहास के जनक के रूप में रंजीत गुहा को देखा जाता है। 1980 के दशक के आस-पास रंजीत गुहा व ज्ञान प्रकाश के संयुक्त प्रयास से इसे प्रारम्भ किया गया। इस शब्द के इतिहास की जहाँ तक बात है तो इतालवी नेता एंटोनियो ग्राम्शी ने इसका प्रयोग कई जगह अपनी कृतियों में किया है। 1982 से 1999 तक आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से दस खण्डों में प्रकाशित सबाल्टर्न अध्ययन में औपनिवेशिक भारत के इतिहास में कुछ चीजों, जो छूट-सी गयी हों, को पुनः निर्मित करने का प्रयास किया गया है। सबाल्टर्न शब्द को रंजीत गुहा ने अपने तरीके से परिभाषित किया है, “सबाल्टर्न (निम्नवर्गीय) शब्द का अर्थ कन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी से लिया गया है जिसका अर्थ है-‘छोटा पद’। हम इसका उपयोग दक्षिण एशियाई समाज के मातहत वर्ग के लिए कर रहे हैं जहाँ यह वर्ग, जाति, उम्र, लैंगिक भेदभाव (जेंडर) और पद या दूसरे रूप में सामने आता है।” गुहा ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा कि, “इस लेख में जन और निम्नवर्गीय का एक दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल किया गया है। इस श्रेणी में शामिल समूह और तत्व संभ्रांत समाज और समूह से बिल्कुल अलग है।”⁵

सबाल्टर्न इतिहासकारों ने अपने इतिहास लेखन में यह माना है कि निम्नवर्गीय समाज का इतिहास संभ्रांत समाज के इतिहास से बिल्कुल अलग और स्वायत्त था। इतिहासकारों की सोच व समझ मार्क्सवाद के आर्थिक पक्ष के साथ-साथ उपनिवेशवादी विवेचना से हटकर एक नये स्वरूप को सामने लाने का किया गया प्रयास है। रंजीत गुहा के विचार से अब समय आ चुका था कि निम्नवर्गीय की दृष्टि से इतिहास देखा जाय और लिखा जाय। रंजीत गुहा ने यह संवेदना व्यक्त की है कि सबाल्टर्न इतिहासकारों ने आलोचना के लिए साझा प्रतीकों

का इस्तेमाल किया व इस बात पर बल दिया है कि संभ्रातीय मानसिकता का विरोध निम्नवर्गीय परियोजना की एकता का आधार है। उनके अपने शब्दों में- “इतिहास लेखन और समाज विज्ञान में मौजूदा व्यवस्था का हम विरोध करते हैं, जिसमें इस बात पर विचार नहीं किया गया और इस बात को स्वीकार भी नहीं किया गया कि सबाल्टर्न अपनी नियति खुद निर्धारित कर सकते हैं। यह आलोचना हमारी परियोजना का हृदय स्थल है। दक्षिण एशिया के अध्ययन क्षेत्रों में संभ्रातवाद की जड़ें इतनी गहरी हैं कि इसका दूसरा रूप हो ही नहीं सकता था। इस प्रकार निषेधात्मकता हमारी परियोजना का आधारभूत और अंगीभूत आधार है।” सुमित सरकार का कहना था कि, “परिभाषित निम्नवर्गीय समूह का अपेक्षाकृत स्वायत्त राजनीतिक क्षेत्र था जिसकी खास विशेषताएं और साझा मानसिकता थी, जिसका पता लगाया जाना जरूरी है और यह संभ्रांत राजनीतिज्ञों के क्षेत्र से बिल्कुल पृथक् दुनिया थी। बीसवीं शताब्दी के दौरान बंगाल के संभ्रांत राजनीतिज्ञ उच्च जाति शिक्षित पेशेवर समूह से आए थे जिसका संबंध जमींदारी या बिचौलिए काश्तकारी से था।”

निम्नवर्गीय इतिहासकारों में समय के साथ वैचारिक मतभेद उभर कर सामने आया। जिसमें कुछ ऐसे इतिहासकार हैं जो वर्तमान में भी निम्नवर्गीय विषयों से अपने आप को जोड़े हुए हैं जबकि अधिकांश ने उत्तर औपनिवेशवादी लेखन से अपने आपको जोड़ लिया। ज्ञान प्रकाश के दृष्टिकोण से जहाँ तक देखा जाय तो भारतीय निम्नवर्गीय समूह अपने दस्तावेज व आंकड़े छोड़कर नहीं जाते। इन्हें एक विमर्श प्रभाव के रूप में देखा जाना चाहिए। आपके शब्दों में, “दक्षिण एशियाई इतिहास के इस प्रकार के पुनर्परीक्षण से इस विमर्श के पहले वास्तविक सबाल्टर्न पैदा नहीं हुए थे और उनकी एक आलोचनात्मक दृष्टि विकसित नहीं हुई थी। सबाल्टर्न को विमर्श की भूलभूलैया में डालने से वास्तविकता इसमें कहीं गुम होकर रह जायेगी। वास्तविक निम्नवर्गीय प्रसंग और निम्नवर्गीयता विमर्शों के बीच जन्म लेती है।”⁶

दीपेश चक्रवर्ती का अपना मानना है कि निम्नवर्गीय प्रसंग अपने आप में मार्क्सवादी इतिहास लेखन से बिल्कुल अलग है। आपके अनुसार, “जहाँ तक इतिहास के शैक्षिक विमर्श का सवाल है और जहाँ तक किसी विश्वविद्यालय के तहत इतिहास को एक विमर्श के रूप में प्रस्तुत करने का सवाल है, यूरोप इस समस्त इतिहास का मुख्य विषय है और उसने इंडियन, चायनीज, केनियाई और सभी प्रकार के इतिहासों को सैद्धांतिक आधार प्रदान किया है। ये सभी इतिहास एक महाआख्यान के ही रूप हैं जिसे यूरोप का इतिहास कहा जाता है। इस प्रकार भारतीय इतिहास अपने आप में निम्नवर्गीयता या सबाल्टर्नेटी की स्थिति में है। इस इतिहास के नाम पर कोई सिर्फ निम्नवर्गीय विषयों और स्थितियों को पेश कर सकता है।”⁷ अपने इतिहास लेखन की तमाम आलोचनाओं को झेलते हुए भी निम्नवर्गीय इतिहासकारों ने अपने विचारों का हर स्तर पर पुरजोर समर्थन किया है और अपने इतिहास लेखन को इतिहास का हिस्सा माना है।

मार्क्सवादी इतिहास लेखन व निम्नवर्गीय इतिहास लेखन के तमाम पहलुओं को अगर ध्यान से देखा व समझा जाय तो कई तरह की चीजें निकल कर सामने आती हैं। मार्क्सवाद दुनिया के सभी मजदूर वर्ग के इतिहास का मानो राजनीतिक दर्शन है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद समय के साथ होने वाले सामाजिक बदलाव का मानो आईना है जो दिखाता है कि संसार में सामाजिक परिवर्तन कैसे होते हैं। एक तरफ यह साम्यवाद की वकालत तो करता है तो वही दूसरी तरफ द्वंद्वात्मकवाद को भी स्थापित करता है। इस कारण इस सिद्धान्त ने एक व्यवहार के रूप में सामाजिक चिन्तन में अपना अलग ही स्थान बनाने में सफलता पायी है। आलोचनाओं से कोई भी सिद्धान्त अछूता नहीं होता है, इसमें कहीं से भी कोई दो राय नहीं है। मार्क्सवाद की भी कई तरह से आलोचना की गयी है, फिर भी मार्क्सवाद ने इतिहास में अद्वितीय स्थान प्राप्त किया है।

सबाल्टर्न या निम्नवर्गीय इतिहास लेखन से जुड़े इतिहासकारों ने बड़ी मशक्कत और परम्परागत इतिहास लेखन की आलोचनाओं के साथ इतिहास लेखन की शुरुआत की। क्योंकि निम्नवर्गीय इतिहास लेखन के लिए

जरूरी चीजें दूढ़ पाना बेहद जटिल था। बावजूद इसके रंजीत गुहा व अन्य इतिहासकारों ने अपने अथक प्रयास से इसे लगभग 10 खण्डों में साकार किया है। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने उठने वाली हर आलोचनाओं को सहजता से स्वीकार किया और उसका जवाब भी दिया। इसे अन्तरराष्ट्रीय पहचान दिलाई। यह देखा जा सकता है कि जहाँ मार्क्सवादी इतिहास लेखन समाज के वर्गों के द्वंद्व के बीच उलझा सा प्रतीत होता है, वहीं निम्नवर्गीय इतिहास लेखन वर्गों से भी नीचले स्तर पर जाकर निम्नवर्गीय समाज के विविध पैरामीटर पर इतिहास लेखन का कार्य करता है। इसे आम जनता का इतिहास लेखन कहने में कहीं से भी कोई संकोच नहीं होगा।

सन्दर्भ :

1. मार्क्स एंजेल्स : ग्रन्थावली, अनु. गुरु प्रसाद, लखनऊ, 1982.
2. कार्ल मार्क्स : हिज लाइफ एंड वर्क, ओटो रूहले, प्रीव्यू, 2013.
3. मार्क्सवादी समाज चिन्तन, डॉ. जे.के. सिंह, 2005.
4. इतिहास एवं इतिहास लेखन, डॉ. अशोक कुमार श्रीवास्तव, 1982.
5. वाकींग विथ द सबाल्टर्नस राइडिंग विथ द एकेडमी : द क्यूरियस एसेन्डैसी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, स्टडीज इन हिस्ट्री, विनय लाल, 2001.
6. 'सबाल्टर्न स्टडीज ऐज पोस्टकोलोनियल क्रिटिसिज्म', द अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू, ज्ञानप्रकाश
7. 'पोस्टकोलोनियलिटी एंड द आर्टिफाइस ऑफ हिस्ट्री', रंजीत गुहा (संपा), ए सबाल्टर्न स्टडीज रीडर, 1986-1995, दीपेश चक्रवर्ती, 1998.



दीनदयाल उपाध्याय का 'एकात्म मानववाद' : एक पुनरावलोकन

○ रवीन्द्र कुमार वर्मा

‘एकात्म मानववाद’ भारतीय संस्कृति एवं भारतीय दर्शन में संबंध स्थापित करते हुए मानव को व्यापक दृष्टिकोण से देखने वाली एक प्रगतिशील विचारधारा है। एकात्म मानववाद एक ऐसी विचारधारा है जिसके केंद्र में व्यक्ति, व्यक्ति से जुड़ा हुआ परिवार, परिवार से जुड़ा हुआ समाज, राष्ट्र, विश्व और फिर अनंत ब्रह्मांड समाविष्ट हैं। भारतीय राजनीति और समाज को संचालित करने के लिए भारतीय दर्शन ही समुचित व व्यावहारिक साबित हो सकता है। भारतीय अर्थनीति कैसी हो? उसका स्वरूप क्या है? इन सभी विषयों को पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय अर्थनीति की दिशा में समग्रता से विश्लेषण किया है। एकात्म मानववाद मानव को केवल एक इकाई व अंतिम उद्देश्य नहीं मानता। एकात्म मानववाद मानव जीवन तथा संपूर्ण प्रकृति के एकात्मक संबंधों का दर्शन है। एकात्म मानववाद न केवल राजनीतिक बल्कि आर्थिक एवं सामाजिक लोकतंत्र एवं स्वतंत्रता को भी बढ़ाता है। यह सिद्धांत विविधता को प्रोत्साहन देता है। अतः भारत जैसे विविधतापूर्ण देश के लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त है। एकात्म मानववाद का उद्देश्य प्रत्येक मानव को सुखद, गरिमायुक्त व सम्मानपूर्ण जीवन प्रदान करना है। अतः यह दर्शन न केवल भारत अपितु सभी विकासशील देशों में सदैव प्रासंगिक व अनुकरणीय रहेगा।

यह शोध-पत्र पूर्णतया द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। द्वितीयक स्रोतों में पुस्तकें, संदर्भ सूचियाँ, पुस्तकालयी पत्र-पत्रिकाएँ, अप्रकाशित-प्रकाशित लघु शोध ग्रंथ, शोध-पत्र, शोध-प्रबंध, समाचार पत्र आदि सम्मिलित हैं।

बीज शब्द : एकात्म मानववाद, संस्कृति, ज्ञानमीमांसा, अर्थनीति, विविधता, समावेशी।

एकात्म मानववाद भारतीय संस्कृति एवं भारतीय दर्शन में संबंध स्थापित करते हुए मानव को व्यापक दृष्टिकोण से देखने वाली एक प्रगतिशील विचारधारा है। यह विचारधारा समस्त जगत को एक नया दृष्टिकोण प्रदान कर ॐ-केंद्रित होकर मनुष्य के जीवन के सभी पहलुओं में परस्पर संबंध स्थापित करते हुए विकास की ओर प्रेरित करती है। इस विचार का उदय एक ऐतिहासिक विचार शृंखला के रूप में हुआ। यह विचार यूरोपीय पुनर्जागरण तथा भारतीय पुनर्जागरण के समन्वय के परिणाम स्वरूप आया। जैसा कि विदित है कि एकात्मता तो भारतीय दर्शन का मुख्य विषय रहा है, वही मानववाद पाश्चात्य दर्शन का विषय रहा है। प्राचीन यूनानी दर्शन के आलोक में ईश्वरीय सत्ता व रहस्यवाद के विरुद्ध मानववाद का जन्म हुआ। भारतीय संस्कृति का मूल विषय एकात्मता रहा है और भारतीय दर्शन शास्त्रियों की मूल मान्यता रही है कि जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है।

मानववाद के दर्शन का केंद्र-बिन्दु मनुष्य है। मानववाद मानवीय मूल्यों और उनसे संबंधित पहलुओं पर ध्यान देता है। मानववाद तर्कशक्ति, न्यायिक सिद्धांतों और आचारनीति पर जोर देता है। समग्र रूप से मानववाद नैतिक, तात्त्विक, राजनैतिक तथा ज्ञानमीमांसीय दर्शनों का समुच्चय है जो मानव के हितों, मूल्य तथा मानवीय गरिमा को इंगित करता है। मानववाद अपनी ज्ञानमीमांसा में मानव अनुभव तथा तर्क बुद्धि को प्रमुखता देता है। यह भाग्य निर्माण के लिए भी मनुष्य को उत्तरदायी समझता है। मानववाद के अनुसार समष्टि का विकास प्रत्येक व्यक्ति के विकास से जुड़ा है। मानववाद की तत्व मीमांसा ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार न करके प्रकृति को स्वीकार करता है। यह प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण का मार्ग प्रशस्त करता है। इसका उद्भव पुनर्जागरणकाल में माना जाता है। मानव जीवन के लक्ष्य के रूप में मानव के साथ-साथ मानव जाति के कल्याण तथा हित को इंगित करती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के क्रम में मनुष्य को किसी व्यक्ति, राष्ट्रीयता, लिंग, जाति, वर्ग तथा रंग को आधार नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार मानववाद उपरोक्त आधारों पर विभेद से निषेध करता है। इस क्रम में यह विश्व-बन्धुत्व को बढ़ावा देता है।

दीनदयाल उपाध्याय के द्वारा भारतीय सामाजिक जीवन को सुखमय, मंगलकारी व गरिमायुक्त बनाने के निमित्त 'एकात्म मानव-दर्शन' व 'अन्त्योदय' की अद्भुत संकल्पना प्रस्तुत किया गया। उनके द्वारा 1965 में एकात्म मानववाद की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया। एकात्म मानववाद एक ऐसी विचारधारा है जिसके केंद्र में व्यक्ति, व्यक्ति से जुड़ा हुआ परिवार, परिवार से जुड़ा हुआ समाज, राष्ट्र, विश्व और फिर अनंत ब्रह्मांड समाविष्ट हैं। इसका उद्भव अद्वैत वेदान्त के अद्वैतवादी दर्शन से माना जाता है, एकात्म मानववाद ने मानव, पशु या पादप वर्ग की सभी विभिन्न आत्माओं की एकात्मता के विचार का प्रसार किया। उन्होंने कहा था कि जब मनुष्य का शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा ये चारों अंग ठीक रहेंगे तभी मनुष्य को चरम सुख और वैभव की प्राप्ति हो सकती है। जब किसी मनुष्य के शरीर के किसी अंग में कांटा चुभता है तो मन को कष्ट होता है, बुद्धि हाथ को निर्देशित करती है, तब हाथ चुभे हुए स्थान पर पल भर में पहुँच जाता है और कांटे को निकालने की चेष्टा करता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। सामान्यतः मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों की चिन्ता करता है। मानव की इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को पं. दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद की संज्ञा दी। इसके द्वारा नस्ल, वर्ण, जाति तथा धर्म पर आधारित अन्तर्निहित विविधता को अस्वीकार करते हुए सभी मनुष्यों को इस बड़े जैविक समुदाय का एक अंग माना गया जो राष्ट्रीय विचार की एक सामान्य चेतना को साझा करते हैं।

एकात्म मानववाद के रूप में भारत की तत्कालीन राजनीति और समाज को उस दिशा में मोड़ने की जो सलाह पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने दी वह शत प्रतिशत भारतीय है। अपने इस वैचारिक दर्शन का प्रतिपादन पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने मुंबई में 22 से 25 अप्रैल, 1965 में दिए गए भाषण में दिया, जो 4 अध्यायों में विभक्त है। अपने इस संभाषण में पंडित जी ने मनुष्य के संपूर्ण विश्व के साथ संबंध पर व्यापक दृष्टिकोण रखने का काम किया था। वह संपूर्ण मानव जगत की एकता के पक्षधर थे। वह मानव मात्र का मूल्यांकन उसके संपूर्ण जीवन काल में छोटी-बड़ी सभी जरूरतों से संबंध रखने वाले हर विषय से समग्रता से करते थे। विश्व के इतिहास में संपूर्ण मानव जगत के लिए यदि किसी विचारधारा ने समग्रता से चिंतन किया है तो वह 'एकात्म मानववाद' का दर्शन है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी समाजवाद और साम्यवाद को कागजी और व्यावहारिक सिद्धांत के रूप में देखते थे। इन दोनों विचारों को वह भारतीयता की दृष्टि से व्यावहारिक समझते थे। उनका विचार था कि भारतीय राजनीति और समाज को संचालित करने के लिए भारतीय दर्शन ही समुचित व व्यावहारिक साबित हो सकता है। भारतीय अर्थनीति कैसी हो? उसका स्वरूप क्या है? इन सभी विषयों को पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने

‘भारतीय अर्थनीति की दिशा’ में समग्रता से विश्लेषण किया है। इनके अनुसार पूंजीवादी एवं समाजवादी विचारधाराएँ केवल मानव के शरीर एवं मन की आवश्यकताओं पर विचार करती हैं। इसलिए वे भौतिकवादी उद्देश्य पर आधारित हैं जबकि मानव के संपूर्ण विकास के लिए इसके साथ-साथ आत्मिक विकास भी आवश्यक है। उनके अनुसार शासन का उद्देश्य अंत्योदय होना चाहिए। एकात्म मानववाद का लक्ष्य प्रत्येक मनुष्य को गौरवपूर्ण जीवन प्रदान करना है। इस प्रकार यह उन सिद्धांतों और नीतियों को प्रोत्साहित करता है जो श्रम, प्राकृतिक संसाधन तथा पूँजी के उपयोग को संतुलित करने में सक्षम हों। उनका मानना था कि समाजवादी सरकारों ने व्यापार को अपने हाथों में ले लिया जो कि राज्य के लिए बेहद खतरनाक साबित हो रहा है। उनका स्पष्ट विचार था कि सरकार/शासन को व्यापार नहीं करना चाहिए तथा व्यापारी को शासन की बागडोर नहीं सौंपी जानी चाहिए।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी सामाजिक क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध थे जिनका राष्ट्रीयकरण तत्कालीन कांग्रेसी सरकारों द्वारा किया जा रहा था। वह तत्कालीन कांग्रेसी सरकारों द्वारा शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के भी विरोधी थे। सरकारी विद्यालयों की जो हालत आज है, वह किसी से छिपी नहीं है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय सरकार द्वारा उन्हीं क्षेत्रों को अपने हाथ में लेने के पक्षधर थे, जिनका जोखिम समाज या निजी क्षेत्र लेना नहीं चाहते थे। समाजवादी सरकारों द्वारा ‘सरकार पर निर्भर नागरिक संस्कृति’ ने आज हमें इतना पंगु बना दिया है कि स्वच्छता के लिए भी हमें सरकार का मुंह ताकना पड़ता है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी शासन की विकेंद्रित व्यवस्था के समर्थक थे। विकेंद्रित विचारों की केन्द्रीयता ही सार्वजनिक जीवन की सहजता का दर्शन है। दीनदयाल जी इस दर्शन से भली-भाँति परिचित थे। यही कारण है कि उन्होंने ‘एकात्म-दर्शन’ की अनिवार्यता पर बल दिया है। समाज के विषय में वे लिखते हैं कि “समाज ‘स्वयंभू’ है। जिस प्रकार व्यक्ति पैदा होता है, उसी प्रकार समाज भी पैदा होता है। व्यक्ति मिलकर कभी समाज को नहीं बनाते। वास्तव में समाज तो एक ऐसी सत्ता है, जिसकी अपनी आत्मा है, जिसका अपना एक जीवन है, इसलिए यह भी उसी प्रकार से जीवमान सत्ता है, जैसे मनुष्य जीवमान सत्ता।”

कई पाश्चात्य चिंतक भारतीय चिंतन को पुरातन एवं परंपरावादी कह कर पिछड़ा हुआ एवं आधुनिक मूल्यों से असंपृक्त मानने की भूल करते हैं। पंडित जी ने उन्हें सटीक उत्तर भी दिया है। साथ ही भारतीय जनमानस को उसकी सही दिशा एवं क्षमता का स्मरण भी कराया है। उन्होंने लिखा है, “हम अतीत के गौरव से अनुप्राणित हैं, परंतु उसको भारत के राष्ट्र-जीवन का सर्वोच्च बिंदु नहीं मानते हैं। हम वर्तमान के प्रति यथार्थवादी हैं, किंतु उससे बंधे नहीं हैं। हमारी आँखों में भविष्य के स्वर्णिम स्वप्न हैं, किंतु हम निद्रालु नहीं हैं, बल्कि उन स्वप्नों को सच करने वाले कर्मयोगी हैं। अनादि, अतीत, अस्थिर, वर्तमान एवं चिरंतन भविष्य की कालजयी संस्कृति के हम पुजारी हैं। विजय का विश्वास, तपस्या का निश्चय लेकर चलें।”

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि दीनदयाल जी ने पाश्चात्य चिंतकों एवं विचारधाराओं द्वारा स्थापित की जाने वाली कविता निहितस्वार्थपरता, एकांगिकता, पूर्वग्रह सरीखी संक्रमित अवधारणा एवं षड्यंत्रों के प्रति भारतीय जनमानस को सजग किया तथा बहुमूल्य भारतीय विचारों से आम जनमानस को अवगत भी कराया।

दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद मानव को केवल एक इकाई व अंतिम उद्देश्य नहीं मानता। उसके अनुसार व्यष्टि से समष्टि तक संपूर्ण व्यवस्था में जैविक घनिष्ठता है। विश्व की अन्य विचारधाराओं के विपरीत पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी राष्ट्रवाद व अंतर्राष्ट्रीयवाद में किसी प्रकार का अंतर्विरोध नहीं स्वीकारते। उनके अनुसार व्यष्टि से समष्टि तक का विकास तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र अपने पुरुषार्थों को संतुलित रूप से करते हैं। उन्होंने लिखा है कि “व्यष्टि एवं समष्टि के बीच संघर्ष की कल्पना कर दोनों में से किसी एक को प्रमुख एवं संपूर्ण क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य मानकर पश्चिम में अनेक विचारधाराओं का

जन्म हुआ है। किन्तु दृश्य व्यक्ति अदृश्य समष्टि का भी प्रतिनिधित्व करता है। 'अहं' के साथ 'वयं' की सत्ता भी प्रत्येक 'अहं' के द्वारा जीती है। प्रत्येक 'इकाई' में समुदाय की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। व्यक्ति ही समष्टि के उपकरण हैं, उसके ज्ञान तंतु हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दीनदयाल जी ने व्यष्टि एवं समष्टि के बीच के महत्व को बहुत अच्छे ढंग से उकेरा है। पश्चिम के समाज में मनुष्य के जीवन की त्रासदी का कारण यह है कि वहाँ व्यष्टि एवं समष्टि, ज्ञान एवं क्रिया के बीच संतुलन को महत्व नहीं दिया गया है। यही कारण है कि विकसित होने के बावजूद वहाँ के समाज-जीवन में अस्थिरता की स्थिति लगातार बनी रही है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार एकात्म मानववाद मानव जीवन तथा संपूर्ण प्रकृति के एकात्मक संबंधों का दर्शन है। यदि मानव जीवन की प्रकृति व उसके विभिन्न अंगोपांगों के मध्य अनेकता पायी जाती है किन्तु यह अनेकता आंतरिक एकता के ही विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति हुआ करती हैं। इसलिए इन सब में पारस्परिक अनुकूलता और पूरकता होती हैं। इन सभी शक्ति रूपों में आपस में समन्वयता होती हैं। एकात्म मानववाद का भारतीय दर्शन पश्चिमी सभ्यता और धारणाओं के विपरीत पूर्ण व्यवस्था व सद्भाव पर आधारित होती है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारत की समस्याओं के समाप्त न होने का सबसे प्रमुख कारण विदेशी विचारों के लिए भारतीय नेताओं, अधिकारियों, नीति-निर्माताओं और व्यवसायिक प्रतिष्ठानों के बीच व्याप्त ललक को जिम्मेदार माना है, जो आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। आज भी लोग पश्चिमी राजनीति, पश्चिमी संस्कृति व पश्चिमी अर्थनीति को ही आदर्श मानकर उसे भारतीय संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति पर थोपना चाहते हैं। इस प्रकार पंडित दीनदयाल जी के विचार आज के युग में उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय में थे। एकात्म मानववाद पर उनका विचार था कि भारत में समाज को स्वयंभू माना गया है। राज्य का अस्तित्व एक संस्था के रूप में हैं, राज्य जैसी और भी संस्थाएं समय-समय पर उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में से प्रत्येक संस्था का अंग रहता है। मानव जिस प्रकार अपने कुटुंब, अपनी जाति, अपने व्यावसायिक जगत, अपने समाज का अंग होता है ठीक उसी प्रकार यदि संपूर्ण मानवता पर विचार करें तो उसका भी अंग होता है मानवता से आगे यदि हम चराचर जगत पर विचार करें तो वह उसका भी अंग होता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति नाम की जो वस्तु है वह एकांगी नहीं बल्कि बहुअंगी है; किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अनेक अंगों वाला होकर भी परस्पर सहयोग/समन्वय को पूरकता और एकात्मकता के साथ लेकर चल सकता है। हर व्यक्ति को कुछ ना कुछ गुण मिला हुआ है जो व्यक्ति इस गुण का ठीक ढंग से उपयोग कर ले, वह सुखी और जो उसका ठीक प्रकार से उपयोग न कर सके वह दुखी हैं तथा उसका विकास ठीक नहीं होगा। एकात्म मानववाद का उद्देश्य व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकता को संतुलित करते हुए प्रत्येक मानव को गरिमापूर्ण जीवन सुनिश्चित करना है। यह मानव कल्याण के समग्र विचार का समर्थन करता है। एकात्म मानववाद का दर्शन अनिर्यात्रित उपभोक्तावाद तथा तीव्र औद्योगीकरण का विरोध करता है क्योंकि इसका लाभ सर्वाधिक निर्धन व्यक्ति तक नहीं पहुँचता। यह सिद्धांत वर्तमान समय में सभी के लिए समावेशी विकास के संदर्भ में अत्यधिक प्रासंगिक है। यह प्राकृतिक संसाधनों के संधारणीय उपभोग का समर्थन करता है जिससे कि उन संसाधनों की पुनःपूर्ति की जा सके। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि दीनदयाल उपाध्याय जी का एकात्म मानववाद और अंत्योदय का दर्शन भारत जैसे कल्याणकारी राज्य में सदा प्रासंगिक रहेगा।

एकात्म मानववाद न केवल राजनीतिक बल्कि आर्थिक एवं सामाजिक लोकतंत्र एवं स्वतंत्रता को भी बढ़ाता है। यह सिद्धांत विविधता को प्रोत्साहन देता है। अतः भारत जैसे विविधतापूर्ण देश के लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त है। एकात्म मानववाद का उद्देश्य प्रत्येक मानव को गरिमापूर्ण जीवन प्रदान करना है एवं 'अंत्योदय' अर्थात् समाज

के निचले स्तर पर स्थित व्यक्ति के जीवन में सुधार करना है। अंत्योदय शब्द में संवेदना है, सहानुभूति है, प्रेरणा है, साधना है। दीनदयाल जी कहा करते थे कि 'जब तक अंतिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति का उदय नहीं होगा, भारत का उदय संभव नहीं है। अंत्योदय के मूल में दीनदयाल जी ने कोई चुनावी लाभ नहीं देखा, क्योंकि उनका जीवन स्वतः अंत्योदय से प्रेरित था। वह समाज की उन्नति के लिए अपनी हड्डी गलाने में विश्वास रखते थे। उनके शब्द और आचरण में असमानता नहीं थी। एकात्म मानववाद का उद्देश्य व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकता को संतुलित करते हुए प्रत्येक मानव को गरिमापूर्ण जीवन सुनिश्चित करना है। यह प्राकृतिक संसाधनों के संधारणीय उपभोग का समर्थन करता है जिससे कि उन संसाधनों की पुनः पूर्ति की जा सके। एकात्म मानववाद ऐसा ही एक दर्शन है जो अपनी प्रकृति में एकीकृत एवं संधारणीय है। एकात्म मानववाद न केवल राजनीतिक बल्कि आर्थिक एवं सामाजिक लोकतंत्र एवं स्वतंत्रता को भी बढ़ाता है। यह सिद्धांत विविधता को प्रोत्साहन देता है। अतः भारत जैसे विविधतापूर्ण देश के लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त है। निष्कर्षतः एकात्म मानववाद का उद्देश्य प्रत्येक मानव को सुखद, गरिमायुक्त व सम्मानपूर्ण जीवन प्रदान करना है। अतः यह दर्शन न केवल भारत अपितु सभी विकासशील देशों में सदैव प्रासंगिक व अनुकरणीय रहेगा।

सन्दर्भ :

1. डॉ. महेंद्र चंद्र शर्मा, 2017, पंडित दीनदयाल उपाध्याय, कर्तव्य, विचार. प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. भालचंद्र, कृष्णा जी केलकर, 2016, पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, सूरज प्रकाशन, केशव कुंज झंडेवालान, नई दिल्ली।
3. डॉ रविंद्र अग्रवाल, 2018, पंडित दीनदयाल जीरू प्रेरक विचार, विद्या विहार प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. वासुदेव विनायक नेने, 2015, एकात्म मानव दर्शन, सूरज प्रकाशन केशव कुंज झंडेवालान, नई दिल्ली।
5. अमरजीत सिंह, 2018, एकात्म मानववाद के प्रणेता, दीनदयाल उपाध्याय, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. संजय द्विवेदी, 2015, भारतीयता का संचालक : पंडित दीनदयाल उपाध्याय, विजडम पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
7. राजकुमार भारद्वाज, 2019, दीनदयाल उपाध्याय : रचना संचयन, मेधा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
8. गरिमा गुप्ता, 2020, राष्ट्रीय चिंतक, दीनदयाल उपाध्याय पांडुलिपि प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. हरीश दत्त शर्मा, राष्ट्रीय जीवनी माला, पंडित दीनदयाल उपाध्याय।
10. कुलकर्णी, शरद अनंत, 2016, एकात्म अर्थनीति, सुरुचि प्रकाशन, केशव कुंज झंडेवालान, नई दिल्ली।



आदिवासी संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन : एक विमर्श

○ धनंजय शर्मा

संक्षिप्ति

प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने विकास की दिशा में प्रगतिशील रहा है। मनुष्य अपने जन्म से ही, अपने आस-पास की वस्तु स्थिति को समझने में जुट जाता है। तथा स्वयं ही उन्हें समझकर सीखने का प्रयास करता है। मनुष्य की यही प्रवृत्ति समस्त मानव समुदाय के विकास का कारण है। इसी विकास के मार्ग में जब मनुष्य अपने समुदाय विशेष की दैनिक जीवन शैली के मानक निश्चित कर लेता है तो वह उसकी संस्कृति के जन्म का आधार बनती है।

आदिवासियों का जीवन हमेशा जंगल, जीव, जल और जमीन से जुड़ी हुई है, वास्तव में आदिवासियों का एक लम्बा समृद्ध इतिहास रहा है। भारत में अधिकांश आदिवासी समुदाय जंगल में रहते हुए वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों के सीमित एवं संतुलित उपयोग माध्यम से ही अपना जीवन यापन करते हैं। परन्तु बाहरी दुनिया के बढ़ते अनावश्यक हस्तक्षेप से उनके समाज और संस्कृति पर भारी आघात हुआ है, जिससे उनकी संस्कृति काफी प्रभावित हुई है।

बीज शब्द : आदिवासी, अनुच्छेद, संस्कृति, परिवर्तन, सभ्यता, मनोविज्ञान।

अनादि काल से मनुष्य अपने विकास के मार्ग में अपने दैनिक जीवन चर्या के नियमों में बँधकर संस्कृति को जन्म देता है। वह इसी संस्कृति के माध्यम से एक स्थान पर स्थिर होकर एक विशेष सभ्यता का निर्माण करता है। आदिवासी संस्कृति सहजीविता (सामुहिकता) में विश्वास करती है। आदिवासी समुदाय में सबकी भागीदारी समान होती है। संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्वतः आ जाती है। उसकी यह प्रवृत्ति लोकतंत्र की जड़ों को और अधिक मजबूत करती है।

‘आदिवासी’ शब्द ‘आदि’ और ‘वासी’ दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका सामान्य अर्थ ‘आदिकाल से निवास करने वाला’ है। इस तरह आदिवासी समुदाय भारत का मूल निवासी है। आदिवासी शब्द जितना देखने व पढ़ने में छोटा है, इसका अर्थ उतना ही जटिल और गूढ़ है। सामान्य अर्थ में लें तो इसका सीधा सा अर्थ किसी विशेष समुदाय से है। आदिवासियों की वर्तमान में नये नामों से भी संबोधित किया जाने लगा, जैसे कि ‘वनवासी’, ‘वन्य-जनजाति’, ‘जंगली’, ‘लंगोटिया’, ‘भूमिपुत्र’, ‘वनपुत्र’, ‘गिरिजन’ आदि।

आदिवासी को आज हम उसे ‘जनजाति’ कहते हैं लेकिन इसको विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग नाम से सम्बोधित किया है। कुछ वैज्ञानिक जनजातियों के लिए आदिम (प्रिमिटिव) पद का प्रयोग करते हैं। इसका अर्थ प्राचीन है। हट्टन ने इन्हें ‘आदिम जातियों’ (प्रिमिटिव ट्राइब्स) के नाम से संबोधित किया है। सर हर्बर्ट रिजले, लेके ग्रीगसन, सोबर्ट, टैलेंट्स, सेल्जिनिक, मार्टिन, एल्विन तथा ए.पी. ठक्कर में उन्हें आदिवासी, (एबॉरिजिंस)

नाम से पुकारा है। सर बेन्स ने इन्हें ‘पर्वतीय जनजातियों’ (हिल ट्राइब्स) की संज्ञा दी है। नाडेल ने जनजाति को स्वयं में एक समाज माना है ऐसा समाज जो स्वयं में परिपूर्ण होता है।

डॉ. जी.एस. घुरये ने उन्हें तथाकथित आदिवासी (सो काल्ड एबारिजिन्स) अथवा ‘पिछड़े हुए हिन्दू’ का नाम दिया है। डॉ. आर.के. दास तथा एस.आर. दास ने ‘दलित मानवता’ (सबमर्ज्ड ह्यूमैनिटी) की संज्ञा को उपयुक्त माना। टी.सी. नायक ने राष्ट्रीय जनसंख्या के महत्वपूर्ण एवं प्राचीनतम नृजीवीय खण्ड के रूप में जनजातीय समूहों को स्वीकारते हुए इनके लिए ‘आदिवासी’ नाम से सम्बोधित किया। एम.एल. श्रीकान्त के अनुसार जनजातियाँ विभिन्न समयों में विभिन्न नामों से जानी गयी हैं, जैसे ‘अरण्यक’ (Aranyak) ‘रानी परज’ (Rani Paraj) आदिवासी आदि। मजूमदार ने जनजाति की व्यापक परिभाषा देते हुए लिखा है- कोई जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है जिसका एक सामान्य नाम है।

भारतीय संविधान में भारतीय समाज के अन्य पिछड़े वर्गों के साथ जनजातियों के लिए भी विशेष प्रावधान किए गए हैं। देश की जनजातियों की एक नई परिभाषा भारतीय संविधान ने दी है। संविधान के अनुसार ये जनजातियाँ अब ‘अनुसूचित जनजातियाँ’ (Scheduled Tribes) कहलाती हैं। संविधान की धारा 342 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह सार्वजनिक सूचना द्वारा उन जनजातियों, जनजातीय समूहों या जनजातीय समुदायों के हिस्सों को इस संविधान के अर्थ में अनुसूचित जनजातियों के नाम से घोषित करेगा।

संस्कृति की अवधारणा : मानव समस्त जीवधारियों में एक मेधावी प्राणी है जो कि अन्य जीवधारियों से अपनी इस विशेषता के कारण एक विशिष्टता को प्राप्त कर सकने में सफल हो पाया है, तथा संस्कृति के जन्म का श्रेय प्राप्त कर सका है। मानव, संस्कृति का संरक्षक एवं उसका जन्मदाता है। वास्तव में संस्कृति ही मानव समाज को परस्पर अथवा मानव को अन्य जीवधारियों से पृथक् करती है। क्योंकि संस्कृति विहीन समाज पशुवत है।

ई.वी. टायलर ने कहा कि ‘मानव एक औजार इस्तेमाल करने वाला पशु है, चूँकि उसका शारीरिक स्वरूप अपने हाथों और बाजुओं का विस्तार करना संभव बनाता है।’

मैलिनोवस्की के अनुसार, ‘संस्कृति एक ऐसी समकल्पित समग्रता है, जिसमें मानव निर्मित उपकरण, उपभोक्ता वस्तुएं विविध समाजिक समूहों के संवैधानिक अधिकार पत्र, मानवीय विचार तथा शिल्प, विश्वास एवं रीति रिवाज सम्मिलित होते हैं।’

वास्तव में ‘संस्कृति’ शब्द की कोई व्याख्या प्रस्तुत करना एक जटिल कार्य है। इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। क्रोबर तथा क्लूकहन ने संस्कृति की 108 परिभाषाओं का संकलन प्रस्तुत किया है।

संस्कृति का मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण :

मानवशास्त्रीय संस्कृति को सीखे हुए व्यवहार के रूप में प्रयुक्त करते हैं। श्यामाचरण दूबे ने कहा कि संस्कृति ‘पर्यावरण का मानव निर्मित भाग’ है।

लिटन के अनुसार ‘संस्कृति ज्ञान, धारणाएँ एवं प्राकृतिक व्यवहार के प्रतिमानों का कुल योग है, जिसके सभी भागीदार होते हैं। तथा जो सम्प्रेषित होती है।’

सपीर के शब्दों में, ‘संस्कृति मानव जीवन की भौतिक और अभौतिक सामाजिक विरासत से बनी है।’

रैडक्लिफ ब्राउन ने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार की है, ‘मानव के निरन्तर भौतिक और नैतिक सुधार से सभ्य अवस्थाओं की प्राप्ति को संस्कृति कहा जाता है।’

मैलिनोवस्की ने संस्कृति का तात्पर्य प्रकार्यात्मक रूप में लिया है। उसने संस्कृति को उसके सम्पूर्ण

(Whole) रूप में देखा तथा वह बताया कि संस्कृति के विभिन्न अंग पृथक-पृथक होते हुए भी सम्पूर्ण का निर्माण करते हैं।'

भौगोलिक दृष्टि से भारतीय आदिवासी जातियों को कई भागों में विभाजित किया गया है। भौगोलिक स्थिति के अनुसार सन् 1951 में वी.एस. गुहा ने आदिवासियों को तीन जनजातीय क्षेत्रों में विभाजित करने का प्रयास किया है।

(1) उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र : उत्तर में शिमला, लेह, लुशाई की पहाड़ियाँ तथा पिरमी का प्रदेश आता है। कश्मीर का पूर्वी भाग, पूर्वी पंजाब उत्तर प्रदेश, असम तथा सिक्किम भी भाग में आते हैं। इस प्रदेश में उल्लेखनीय जनजातियाँ लेपचा, डफला, पिरमी, गारो, खासी, नागा, कुकी, अबोर, चकमा, गुरुंग आदि हैं। ये जनजातियाँ सीमांत प्रदेश में बसी होने के कारण बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र में निवास करने वाली गारो तथा खासी जनजातियों में मातृसत्तात्मक परिवारों का प्रचलन है। देश के इस भू-भाग में रहने वाले समूह सीढ़ीनुमा खेतों पर कृषि कार्य करते हैं। कुछ समूह छोटे करघों पर बुनाई कला में भी निपुण होते हैं।

(2) पश्चिमी तथा उत्तर पश्चिमी क्षेत्र : इस क्षेत्र में पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र तथा गुजरात की जनजातियाँ आती हैं। राजस्थान की जनजातियों में भील, गरसिया, मीणा बंजारे प्रमुख हैं, तथा महादेव कोली, कटकरी, वाली तथा डबला प्रमुख जनजातियाँ हैं।

(3) मध्यवर्ती प्रदेश : इस प्रदेश में देश की सर्वाधिक जनजातीय संख्या निवास करती है। इस प्रदेश में बिहार के संथाल, मुंडा, उराँव, बिरहोर, उड़ीसा के बोंदो, खोंड़, सोरा तथा ज्वांग, मध्य प्रदेश के गोंड़, बैगा, कोल, कोरकू, कमार, भूमिया आदि आते हैं। मध्य प्रदेश के गोंड़ सागर तथा बस्तर जिले में बहुतायत से पाये जाते हैं। बी.सी. गुहा का मानना है कि मध्यवर्ती क्षेत्र में रहने वाले ये जनजातीय समूह आर्थिक दृष्टि से दक्षिण की जनजातियों की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं।

किसी भी सभ्यता या समाज की पहचान उसकी संस्कृति से होती है, और उसके स्वरूप निर्धारण के केन्द्र में भी संस्कृति होती है। आदिवासी समुदाय एक लम्बे समय से लेकर आज तक अपनी पहचान को स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रहा है। पहले किसी मनुष्य या सभ्यता को उसकी निजी पहचान से ज्यादा सामूहिक पहचान के द्वारा देखा जाता था, आज पहचान व्यक्तिगत हो गयी है। आज का दौर विमर्शों का है, भूमण्डलीकरण ने इसे और भी जटिल बना दिया है। हाशिए का समाज आज विमर्शों के घेरे में है। आज हम एक ऐसे समय में करवटें ले रहे हैं, जब समाज दोहरे चरित्र से होकर गुजर रहा है। पहला 'शोषक वर्ग' और दूसरा 'शोषित वर्ग' दुनियाँ के पटल पर देखें तो हम पाते हैं कि आज समाज में जो गरीब है, वह और अधिक अमीर होता जा रहा है। इन दुश्चक्र के बीच आदिवासी समुदाय पिसता जा रहा है। उसका वास्तविक स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट होता जा रहा है।

नृत्य कला : वैरियर एल्विन जनजातीय कला की पवित्रता बनाये रखना चाहते थे, इसी कारण उन्होंने ये सम्भावना व्यक्त की थी कि बाहरी जगत के सम्पर्क के परिणामस्वरूप जनजातीय कला में ह्रास होगा और अपनी संस्कृति एवं कला की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति बढ़ जाएगी। इसकी चर्चा वे अपनी रचना दि ट्राइबल आर्ट ऑफ मिडिल इण्डिया में किया है।

जनजातियों के अनेक समूहों ने अधिकांश समय युद्ध तथा संघर्ष में ही बिताया जिसका प्रभाव उनकी कला पर भी पड़ा है। युद्ध नृत्य का अनेक जनजातियों में प्रचलन है। जैसे कोनयक नागाओं में युद्ध-नृत्य बड़ा भारी महत्व है। लुसाई पर्वत (असम) पर रहने वाली लाखेर जनजाति का सौलाकिया नृत्य तथा प्राचीन समय में गोंड़ राजा के दरबार में प्रस्तुत किया जाने वाला सैला नृत्य भी युद्ध नृत्य के रूप में माने जाते हैं। उराँव जनजाति

का पैकी नृत्य युद्ध नृत्य का ही रूप है जिसमें कन्या को जबरन उठाकर वर के घर ले जाया जाता है।

पशु नृत्य अण्डमान की जनजातियों में इसका विशेष रूप से प्रचलन है। उड़ीसा की भुइयाँ जनजाति में साँप नृत्य का प्रचलन है तथा मण्डप के गोंड तथा बैगा जनजातियों में पशु नृत्य का प्रचलन है।

आदिवासियों में विभिन्न प्रकार से शिकार करने की क्रिया को नृत्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। लाठी तथा हथियारों का ऐसे नृत्य में विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। उराँव खड़िया आदि जनजातियाँ शिकार नृत्य में विशेष रुचि रखती हैं। मुण्डा लोगों के शिकार नृत्य को 'जापी' कहा जाता है।

जनजातियों में धार्मिक नृत्यों का आयोजन किया जाता है। उड़ीसा की सोरा जनजाति के लोगों का विश्वास है कि नृत्य मात्र मनोरंजन के लिए नहीं है, अपितु इसका अधिक गम्भीर महत्व है। बोन्दों तथा खोंड जनजाति में नृत्य को संस्कारगत आचरण के रूप में माना जाता है। अनेक अवसर पर शमन स्वयं नृत्य करता है।

उराँव तथा मुण्डा जनजाति के कर्म नृत्य विशेष रूप से कृषि नृत्य की संज्ञा देता है। भील जनजाति के स्त्री-पुरुष अपने कृषि कार्य की उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को प्रस्तुत करते हैं जो कि वास्तव में कृषि कार्य में किया जाता है जैसे-खेत जोतना, बीज बोना, गोड़ना व फसल काटना इत्यादि।

विवाह नृत्य अक्सर अत्यन्त हर्षोल्लास का होता है। अतः समस्त आदिवासी इस मांगलिक अवसर पर नृत्य में मग्न हो जाते हैं। परन्तु ऐसे अवसरों पर मदिरापान अधिक बढ़ जाता है जिसकी वजह से अनेक लोगों ने जनजातीय संगीत कला की कुरीतियों की भर्त्सना की है कि सामूहिक नृत्य के अवसरों पर मदिरापान किए जाने से चरित्रहीनता की भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

लोककथाएँ : आदिवासियों के पौराणिक कथाओं की विषय-वस्तु सृष्टि की उत्पत्ति, देवी-देवताओं का वर्णन व अन्य प्राकृतिक घटनाओं से संबंधित होती है जबकि लोक-कथाएँ, स्वयं मानव व उसके दुःख-सुख, राजा-रानी की कहानियाँ आदि तक सीमित होती हैं। इसके अतिरिक्त पौराणिक कथाओं का उद्देश्य प्रथाओं, रीति-रिवाजों सामाजिक विधियों, निषेधों एवं नैतिक विचारों की पुष्टि करना होता है।

भारत के आदिवासी समाज में सांस्कृतिक परिवर्तन :

आदिवासी लोगों का समाज के अन्य सभ्य जातियों और हिन्दूओं के साथ सम्पर्क के कारण उनके जीवन शैली में परिवर्तन आया है। समाज की वर्तमान शक्तियाँ सक्रिय रूप से उनके सामाजिक जीवन में परिवर्तन ला रही हैं। जबकि अनेक जनजातीय समुदाय अपनी संस्कृति की विशिष्टता एवं रहन-सहन के कतिपय विशिष्ट तत्वों को वर्तमान में भी बनाये हुए हैं; यद्यपि उनमें न्यूनाधिक मात्रा में परिवर्तन आ गया है। इसी को एल.पी. विद्यार्थी ने जनजातियों में इस रूपान्तरण के दो प्रमुख कारण बताये हैं- परम्परागत तथा आधुनिक परम्परागत कारण : एल. पी. विद्यार्थी ने जनजातीय समूह के परम्परागत कारणों में पड़ोसी समुहों के प्रभाव का उल्लेख किया है; जैसे, जनजातियों द्वारा हिन्दू धर्म को स्वीकार करना, संस्कृतीकरण की प्रक्रिया, 'ताना भगत आन्दोलन' इत्यादि। मानवशास्त्रियों ने इस बात का उल्लेख किया है कि इस सम्पर्क का परिणाम आंशिक पृथक्करण से लेकर पूर्ण आत्मसात्करण तक हुआ है। अनेक स्थानों में तो इस बात के प्रमाण हैं कि सम्पूर्ण कबीला हिन्दूओं के जातिगत पद सोपान क्रम में परिवर्तित हो गया है। जैसे कि आदिवासी लोगों ने हिन्दू जाति व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण होने का दावा किया है। पश्चिमी बंगाल के बौड़ी (Bauris) आदिवासी अपने आपको ब्राह्मण मानते हैं। बिहार तथा उड़ीसा के उराँव लोगों ने देवी देवताओं की उपासना आरम्भ की तथा ब्राह्मणों को पुजारी के रूप में स्वीकार किया। मध्य भारत में भगत आन्दोलन ने कतिपय आदिवासियों के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का शुद्धिकरण कर उन्हें उच्च हिन्दू जातियों को आदर्श के रूप में मानने के लिए प्रेरित किया।

हिन्दूकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ कबीलीकरण की प्रक्रिया भी देखने को मिलती है। मजूमदार, श्रीनिवास तथा अन्य अनेक मानव विज्ञानवेत्ताओं ने इस प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इसके अलावा जनजातियों पर बौद्ध धर्म तथा इस्लाम का भी प्रभाव देखने को मिलता है। जैसे हिमाचल प्रदेश, कश्मीर, कुमाउँ गढ़वाल के भोटिया जनजातियों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव देखने को मिलता है। जबकि उत्तरी-पश्चिमी हिमालय के गुर्जर, राजस्थान के सीमावर्ती, लक्षद्वीप के लोगों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया है।

आधुनिक कारण : आधुनिक कारणों में ईसाई धर्म (Christianity), नगरीकरण, औद्योगीकरण, आदिवासी विकास, सामुदायिक विकास योजनाएँ, राष्ट्र का जनतान्त्रिक ढाँचा, शिक्षा में आधुनिकीकरण, संचार एवं प्रशासन आदि। आधुनिक कारणों में देखा जाय तो ईसाई धर्म का प्रभाव जनजातियों पर काफी पड़ा है। जिसके परिणाम स्वरूप जनजातीय सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन हुआ, जैसे असम के खासी (1813) छोटानागपुर के उरांव तथा मध्य प्रदेश के भील, बिहार के मुण्डा तथा उरांव, टोडा जनजाति के लोगों ने ईसाई धर्म का वरण कर लिया। धर्म-परिवर्तन ने जनजातीय संस्कृति तथा उनकी अनेक ग्राम संस्थाओं जैसे युवाग्रह, पंचायत, परम्परागत नृत्य तथा परम्परागत मूल्यों को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है जिससे जनजातियों में एक नवीन सांस्कृतिक प्रक्रिया का शुभारम्भ हुआ।

आदिवासी समाजों की समस्या : आदिवासी लोगों के अशिक्षित और भोले होने के कारण बाहरी लोगों ने भी उनका शोषण करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। डॉ. जी.एस. धुरये ने भारत की जनजातीय समस्याओं को दो भागों में विभाजित किया है।

प्रथम- वह जनजातीय भारत अथवा कुछ जनजातीय समाजों तक ही सीमित है; जैसे नई आदतें, भाषा अथवा स्थान परिवर्ती कृषि।

(2) दूसरा- इसमें वे समस्याएँ आती हैं जो कि ब्रिटिश शासन की लगान पद्धति और विधि विधान से संबंधित हैं। तथा जो जनजातियों तक ही सीमित नहीं हैं।

जनजातियों की समस्याओं के अनेक कारण निम्नलिखित हैं।

(1) दुर्गम निवास स्थानों का होना (2) सभ्य (बाहरी) समाज के साथ संबंध (3) प्रशासन संबंधी व्यवस्था एवं सुधार (4) जनजातीय क्षेत्रों में खनिज पदार्थों का उद्भव (5) बाहरी लोगों द्वारा जनजातिय लोगों का शोषण (6) ईसाई मिशनरी द्वारा धर्म परिवर्तन।

आर्थिक समस्या-(1) स्थान परिवर्तित कृषि की समस्या (2) कृषि संबंधी समस्या (3) ऋणग्रस्ता (4) औद्योगिक श्रमिकों की समस्या (5) स्वास्थ्य एवं शिक्षा संबंधी समस्याएँ।

आदिवासी समाज की समस्याओं का समाधान:-

जनजातीय समस्याओं के समाधान के लिए अनेकों प्रयास किये गये जिसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण समाधान निम्नलिखित हैं।

(1) संवैधानिक प्रावधान:-संवैधान के अनुच्छेद 16(4) तथा 35 के अनुसार सार्वजनिक सेवाओं तथा सरकारी नौकरियों में जनजातियों के लिए सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था है। अनुच्छेद-245(2) में संलग्न छठी अनुसूची के अनुसार जनजातीय क्षेत्रों में प्रशासन के लिए स्वायत्ताशासी जिलों और स्वायत्ताशासी क्षेत्रों की स्थापना की व्यवस्था है। अनुच्छेद-46 में जनजातियों की शिक्षा की उन्नति और उनके आर्थिक हितों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान देना राज्य का कर्त्तव्य माना गया है। अनुच्छेद-23 के अनुसार किसी व्यक्ति से जबरन काम लेना गैर कानूनी घोषित कर दिया है। अनुच्छेद-27 के अनुसार अल्पसंख्यक जनजाति की संस्कृति को राज्य द्वारा रक्षा का आश्वासन दिया गया है। अनुच्छेद-164 के अंतर्गत उड़ीसा, बिहार तथा मध्य प्रदेश में जनजातियों के

समाजिक कल्याण के लिए मंत्रालय की स्थापना। अनुच्छेद-342 के अनुसार राष्ट्रपति राज्य के राज्यपाल से जनजातियों के बारे में परामर्श द्वारा अधिसूचित करना।

भारत सरकार ने जनजातीय कल्याण हेतु निम्न योजनाओं को आरम्भ किया।

- (1) जनजातियों के विकास के लिए अनेक बहुदेशीय विकास खण्डों का निर्माण।
- (2) जनजाति के लोगों को रोजगार दिलाने हेतु जनजातीय क्षेत्रों में कुटीर एवं ग्राम उद्योगों के विकास के लिए प्रशिक्षण एवं उत्पादन केन्द्र खोलना एवं अनुदान देना।
- (3) जनजाति समाज के लोगों के लिए बस्तियों का निर्माण करना तथा उन लोगों को स्थायी रूप से बसाना जो कि स्थान स्थानान्तरित कृषि करते हैं।
- (4) शैक्षणिक सुविधाएँ छात्रवृत्तियाँ तथा अन्य शैक्षिक सुविधाएँ।
- (5) जनजातीय जीवन को प्रभावित करने वाली विभिन्न संस्कृतिक समस्याओं के अध्ययन के लिए जनजातीय सांस्कृतिक संस्थानों की स्थापना करना।
- (6) सरकारी नौकरियों में जनजातियों के लोगों के लिए स्थान सुरक्षित रखना।
- (7) महाजनो के मनमानी दर पर ब्याज लेने पर प्रतिबंध लगाने हेतु अधिनियम बनाना।
- (8) संविधान में जनजातियों की सुरक्षा हेतु प्रतिपादित व्यवस्थाओं को क्रियान्वित करने तथा अनेक कल्याणकारी योजना के मूल्यांकन हेतु अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की केन्द्र सरकार के अधीन नियुक्त की गयी है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले आदिवासी संक्रमण की एक अवस्था से गुजर रहा है। आदिवासीयों के परम्परागत समाजों के सम सन्तुलन में काफी विकार उत्पन्न हुआ है। जनजातीय समाजों के इस संक्रमण में परम्परा तथा आधुनिकता के मिलन की प्रक्रिया के दृष्टिगत होती है। लेकिन विभिन्न आदिवासी समूहों में इसमें भिन्नता भी दृष्टिगत होती है, जबकि कुछ जनजातीय समुदायों में तीव्र गति से आदिवासी समुदाय अपने संस्कृति एवं अस्मिता व अस्तित्व के संकट से जूझने के लिए अभिशप्त है। इस अभिशाप से उन्हें मुक्त कराने के लिए एक कंकरीट प्रयास की आवश्यकता है। जो इनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व को बनाये रखे।

संदर्भ :

1. उपाध्याय, विजय शंकर, शर्मा, विजय प्रकाश, पाण्डेय, गया (2009), 'भारत की जनजातीय संस्कृति', मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ. सं. 5-6
2. उपाध्याय, विजय शंकर, शर्मा, विजय प्रकाश, पाण्डेय, गया (2010), 'जनजातीय विकास', मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ. सं. 5-6
3. शर्मा, लीलाधर (1996), 'पर्वतीय-भारतीय संस्कृति कोश', राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली, पहला संशोधित संस्करण।
4. उप्रेती, डॉ. हरिश्चन्द्र (2000), 'भारतीय जनजातियाँ संरचना एवं विकास', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ.सं. 221-249
5. दूबे, श्यामाचरण (1960), 'मानव और संस्कृति', राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ.सं. 208-209
6. अनिरुद्ध प्रसाद (1991), 'आरक्षण सामाजिक न्याय एवं राजनीतिक संतुलन', रावत प्रकाशन, जयपुर, पृ.सं. 56
7. तिवारी, शिवकुमार (1997), 'मध्यप्रदेश की जनजातियाँ', समाज एवं व्यवस्था, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ.सं. 178

8. तिवारी, शिवकुमार (1992), 'भारत की जनजातीय', नार्दन बुक सेंटर, नई दिल्ली पृ.सं. 17
9. वैरियर, एल्विन (1943), 'दि एवोरिजिकल्स', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, पृ.सं. 7-11
10. डान्डा, ऐ.के. (1973), 'ट्राइबल इकॉनमी एण्ड देयर ट्रान्सफारमेशन, इण्डियन काउंसिल फार सोसल रिसर्च, नई दिल्ली।
11. अनिरुद्ध प्रसाद (1991), 'आरक्षण सामाजिक न्याय एवं राजनीतिक संतुलन', रावत प्रकाशन, जयपुर, पृ.सं. 17



विवाह संस्कार के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण : संताल जनजाति

○ आशीष कुमार ठाकुर

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से संताल परम्परा प्रिय होते हैं। सामाजिक उद्विकास, प्रगति और परिवर्तन की परिघटना तथा प्रक्रिया के पर्यवेक्षण का सर्वोत्तम साधन आदिवासी संस्कृतियाँ हैं। ये दीर्घ अवधि तक बाह्य सम्पर्क से पूर्णरूपेण वंचित रही हैं। अब ये धीरे-धीरे अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आ रही हैं, जिससे उनमें सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया हो रही है।

संताल भाषा में विवाह को बापला कहते हैं। संताल कबीले में सगोत्र विवाह की प्रथा नहीं है, इसलिए कोई व्यक्ति अपने परिवार की किसी लड़की से विवाह नहीं कर सकता है। उनके यहाँ सालियों तथा स्वर्गीय भाई की स्त्रियों से विवाह का रिवाज है, एक व्यक्ति को इसका अधिकार है कि वह अपनी स्त्री की छोटी बहनों से विवाह कर सकता है। इनके यहाँ विवाह के अनेक उपाय हैं किन्तु साधारणतः एक व्यक्ति लड़का और लड़की के माता-पिता से मिलकर किसी के विवाह की बात-चीत करता है। लड़के के माता-पिता अपने बेटे के लिए अनुकूल लड़की की खोज करते हैं इसलिए जब वह किसी सुन्दर लड़की को देख लेते हैं तो एक अगुआ के द्वारा बात-चीत तय कराते हैं लड़की को सबसे पहले गाँव का सरदार देखता है वह लड़की अपनी दो सहेलियों के साथ मटकी में जल भरकर अपने अतिथियों का स्वागत करती है। यदि वह लड़की पसन्द आ जाती है तो लड़के का पिता उसे कुछ मिठाईयाँ देता है। ये लोग ऐसे अवसरों पर देधी मदिरा का विशेष व्यवहार करते हैं। भोजन में उन्हें मांस, चावल खिलाये जाते हैं। लड़के की ओर से आने वाले लोग लड़की की बात-चीत, चाल-चलन आदि पर निगाह रखते हैं। इसलिए लड़की अपने को बहुत संभालकर रखती है और इस बात का ध्यान रखती है कि कोई बात उन्हें बुरी न मालूम हो। वे लोग लड़की के स्वास्थ्य और सुन्दरता का भी ख्याल रखते हैं। यदि लड़की पसन्द आ जाती है तो के स्वास्थ्य और सुन्दरता का भी ख्याल रखते हैं। यदि लड़की पसन्द आ जाती है तो फिर लड़की के माता पिता लड़के के घर जाते हैं। लड़के के घर पर भी उनका स्वागत उसी प्रकार किया जाता है। विवाह का कोई दिन तय कर दिया जाता है। विवाह के अवसर पर गाँव के सभी व्यक्ति उसमें भाग लेते हैं। गाँव का सरदार इस कार्य में आगे रहता है।

यदि कोई लड़का किसी लड़की को पसन्द कर लेता है और लड़की उसे ना पसन्द करती है तो वह लड़की को अपने मित्रों की सहायता से पकड़कर अपने घर ले जाता है तब लड़की के माता-पिता इसकी चर्चा गाँव के सरदार से करते हैं। इसके बाद ये लोग लड़के के गाँव में जाकर घटना के विषय में उस गाँव के सरदार से बात-चीत करते हैं। लड़की के माता-पिता उस लड़के से पूछते हैं कि वह उस लड़की से विवाह करने की इच्छा रखता है या नहीं। यदि लड़का विवाह के लिए तैयार हो जाता है तो फिर उस लड़की का विवाह उस लड़के से हो जाता है। लेकिन यदि लड़का तैयार नहीं होता है तो लड़के के माता-पिता लड़की के

माता-पिता को पाँच रूपये जुमाना देते हैं। संताल लोगों में कन्याधन लड़के के माता-पिता देते हैं किसी काल में यह रकम अधिक थी किन्तु अब धीरे-धीरे इसमें कमी होती जा रही है। इनके समाज में एक से अधिक विवाहित स्त्री रखने की प्रथा नहीं है। ऐसा तभी होता है, जब किसी पहली स्त्री से कोई सन्तान नहीं होता है। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी दोष के अपनी स्त्री का परित्याग कर देता है तो उसे कन्या-धन नहीं लौटाया जाता है। लेकिन यदि कोई लड़की दोषी होती तो उसका मूल्य लड़के को लौटा दिया जाता है।

संताल पूर्णतया बहिर्वैवाहीक (Exogamous) लोग हैं, कोई व्यक्ति अपने उपगोत्र के अन्तर्गत विवाह नहीं कर सकता चूँकि संताल गाँवों में एक ही उप-गोत्र के लोग रहते हैं इसलिए एक गाँव के सदस्य में विवाह ठीक नहीं समझा जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि यदि पत्नी के भाई उसी गाँव में रहते हैं जिसमें पति रहता है तो पति को अपनी पत्नी को नियंत्रित करने में कठिनाई होती है। वह आये दिन अपने मायके भाग जाती है और प्रायः पति और पत्नी के परिवारों में विवाद होने की सम्भावना बनी रहती है।

संतालों में विवाह के पूर्व लैंगिक सम्बन्ध पर विशेष प्रतिबंध नहीं है, लेकिन यदि कोई लड़की गर्भवती हो जाती है तो उस व्यक्ति को उस लड़की से विवाह करना पड़ता है। व्यक्ति की पत्नी बाँझ हो तो वह दूसरा विवाह कर सकता है अथवा बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा से शादी कर सकता है लेकिन दोनों अवस्थाओं में पहली पत्नी से स्वीकृति लेना परम आवश्यक है।

संतालों में चौदह प्रकार का विवाह होता है, परन्तु छः प्रकार के विवाह प्रचलित हैं- 1. नियमित विवाह - बपल्ला या किरिंग बेहू या कन्या, 2. धर्दी जवाल, 3. इतुत, 4. नीरबोलोक, 5. संग्गा, 6. किरिन जवाई (वर-क्रय)।

विनिमय विवाहों में लड़के के लिए लड़की खोजने का कार्य पिता पर होता है। पिता अधिकांशतः इस कार्य के लिए पेशेवर विवाह करानेवाले लोगों का सहारा लेता है। पहले लड़के का पिता लड़की देखता है। यदि लड़की पसन्द होती है तो लड़की वाले लड़का देखने आते हैं। यदि लड़की के पिता को लड़का और उसका घर परिवार योग्य प्रतीत होता है तो मंगनी की रस्म कर दी जाती है। जिसमें लड़के का पिता लड़की के पिता को समान्यतः दस रूपया दे देता है। इसके अतिरिक्त लड़की की माता को कुछ कपड़े भेंट दिये जाते हैं। यदि वर पक्ष के लोग इससे अधिक देते हैं तो वर को अपने भावी ससुर से एक गाय प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। यदि दोनों पक्ष में एक-एक लड़की और एक-एक लड़का विवाह के योग्य है और दोनों पक्ष लड़के और लड़की का विवाह करने का निश्चय करते हैं, तो किसी प्रकार का लेन-देन नहीं होता है।

धर्दी जवाई विवाह उसी समय होता है, जब लड़की कुरूप होती है और किसी कि द्वारा माँगे जाने की संभावना भरी रहती है, इसमें जो लड़का ऐसी लड़की से शादी करने को तैयार होता है, वह अपने ससुर के घर में पाँच साल रहकर काम करता है। इस अवधि के पश्चात् लड़के को एक जोड़ी बैल, खेती के कुछ औजार और कुछ चावल प्राप्त हो जाता है। इस सामान के साथ वह लड़की के साथ अपना अलग घर बसा लेता है।

विवाह तीसरा रूप इतुत है। जब किसी लड़के को यह विश्वास हो जाता है कि उसे कोई लड़की पसन्द नहीं करेगी, तो वह इतुत पद्धति का सहारा लेता है। इसमें लड़का जिस लड़की को पसन्द करता है और उसके माथे में अचानक या बल पूर्वक सिन्दूर या मिट्टी लगा देता है और भाग खड़ा होता है। ऐसा करने से वह लड़की उसकी पत्नी हो जाती है। इसके पश्चात् लड़की के पिता लड़के के पिता के गाँव आते हैं और गाँव के प्रधान से लड़के के पिता की तीन बकरियाँ मारकर खाने की अनुमति लेते हैं। इसके बाद दुग्गा कन्यामूल्य देकर विवाह हो जाता है। इस प्रकार का विवाह पूर्ण वैध माना जाता है। यदि लड़की लड़के से विवाह करने से इन्कार करती है, तो उसे समुचित रूप में तलाक देना पड़ता है क्योंकि सिन्दूर लग जाने के बाद वह विवाहित मानी जाती है।

विवाह का चौथा रूप नीरबोलोक है। इसमें इतुत के ठीक विपरीत लड़की प्रयत्नशील होती है। जब कोई लड़की उपयुक्त पुरुष पाने में असमर्थ होती है तो वह जिस लड़के को पसन्द करती है, वह चावल की शराब लेकर उस पुरुष के घर में जाकर बैठ जाती है। संताली शिष्टाचार के अनुसार घर में आये व्यक्ति को निकाला नहीं जाता है। अतः उसे बलपूर्वक घर से निकालते नहीं हैं फिर भी घर वाले उसे रखना नहीं चाहते। इसलिए वे आग में बहुत लाल मिर्च डाल देते हैं जिससे बहुत कड़वा धुआँ निकलता है। यदि लड़की इस धुएँ के कष्ट को सहन कर लेती है और घर से बाहर नहीं निकलती है तो यह मान लिया जाता है कि उसने पति को जीत लिया है फिर उसे निकाला नहीं जाता। उसे बहू के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

पाँचवे प्रकार का विवाह संग्राम है। वह विधवा या तलाक दी हुई स्त्रियों के लिए होता है। इसमें स्त्री अपनी कुछ सहेलियों के साथ पुरुष के घर जाती है और वहाँ पर पुरुष उसके माथे और बालों में सिन्दूर लगा देता है और विवाह हो जाता है।

छठी प्रकार की विवाह पद्धति किरिन जवाई है, जब कोई स्त्री किसी अपने उप-गोत्र के व्यक्ति से विवाह के पूर्व गर्भवती हो जाती है तो उसे ठीक नहीं समझा जाता। इस स्थिति में किसी दूसरे उप-गोत्र का जो लड़का ऐसी लड़की से विवाह करने के लिए तैयार किया जाता है। उस लड़का को दो बैल, एक गाय और धान उस परिवार द्वारा दिलाया जाता है जिसके सदस्य से लड़की गर्भवती होती है। इसके बाद गाँव का मुखिया सब गाँव वालों के सामने उन दोनों को पति-पत्नी घोषित कर देता है।

संतालों में तलाक की प्रथा प्रचलित है। यदि बिना उचित कारण के पुरुष अपनी पत्नी को तलाक देता है तो उसे पत्नी को हर्जाना देना पड़ता और यदि पत्नी बिना किसी उचित कारण के तलाक देती है तो उसके पिता को कन्या मूल्य वापस करना पड़ता है और साथ-साथ कुछ हर्जाना भी देना पड़ता है। तलाक देने का तरीका यह है कि लड़का गाँव के लोगों के समक्ष सूर्य की ओर मुँह करके एक पेड़ के पास खड़ा हो जाता है। वह गले में कपड़ा लपेटे रहता है जिसके दोनों सिरों पर साल वृक्ष की तीन-तीन पत्तियाँ बाँधी रहती है। सिंगबोंगा का नाम लेकर वह इन पत्तियों को फाड़ता है और तलाक मान लिया जाता है। स्त्री भी ऐसा ही करती है।

संताल जनजाति गोत्र बहिर्विवाह एवं पितृवंशीय समाज वाली जनजाति है। संताल सामान्यतः एक विवाही समाज होता है। एक गोत्र वाले दूसरे गोत्र वाले से ही विवाह कर सकते हैं। जैसे सोरेन लड़का, सोरेन लड़की से विवाह नहीं कर सकते। वह हाँसदा, मुर्मू, मरांडी आदि दुसरे गोत्र की लड़की से ही विवाह कर सकता है। संतालों में बाल विवाह का प्रचलन नहीं है। संताल समाज में विधवा विवाह का प्रचलन है। यह संतालों जनजाति की सामाजिक परम्परा है। संतालों में अपने सामाजिक उत्सवों में ही वर वधू एक दूसरे को चुन सकते हैं। प्रेम की प्रचुरता दाम्पत्य को प्रगाढ़ता प्रदान करती है। संताल समाज में सामान्यतः विवाह से संबंधित कोई समस्या कभी जटिल नहीं हुई है न अतीत में और ना ही वर्तमान में। अर्थात् संताल समाज में विवाह पद्धति लोभ-लालच, दहेज प्रथा, आदि जैसी कुरितियों से मुक्त विवाह पद्धति है।

संदर्भ :

1. अहमद, जियाउद्दीन, विहार के आदिवासी, मोतीलाल बनरसीदास, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1978
2. गुप्ता, रमणिका (सं.), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008
3. दयाशंकर, आदिवासी सवाल और साहित्य, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019
4. शर्मा, राजीव लोचन, जनजातीय जीवन और संस्कृति, किताब घर, नई दिल्ली, 1961
5. समीर, डोमन साहू, आदिवासी समाज में महिलाओं की स्थिति, पटना, 1983.
6. सिंह, सत्येन्द्र कुमार, संताल : जीवन और संस्कृति, एग्रेरियन एसिस्टेंस एसोसिएशन, 2000



आधुनिक जीवन-शैली एवं मोटापा

○ आशा

संक्षिप्ति :

विकास एक ऐसी स्थिति है जो परिवर्तन के साथ-साथ जटिलताओं को भी साथ लाती है। ये जटिलतायें जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित करती हैं। स्वास्थ्य का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। विभिन्न तकनीकी विकासों के फलस्वरूप आज मनुष्य ने ऐसे तमाम उपकरणों का आविष्कार कर लिया है जिनसे समय और श्रम की बचत होती है। लेकिन ऐसे ही विकासात्मक क्रियाओं, व्यस्त जीवन शैली, तनाव, खान-पान में लापरवाही के फलस्वरूप मोटापे की समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इन दिनों यह समस्या आम होती जा रही है। भारत में ही लगभग हर घर में कोई न कोई इस समस्या से ग्रस्त है।

बीज शब्द : मोटापे का अर्थ, कारण, दुष्प्रभाव, रोकथाम के सामान्य नियम एवं योग।

ओबेसिटी या मोटापा एक ऐसा शब्द है जो ऐसे व्यक्तियों के लिए इस्तेमाल किया जाता है जिनके शरीर में वसा की उच्च मात्रा के कारण उनका वजन सामान्य से बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। सामान्य वजन से जब शरीर का वजन 20 प्रतिशत अधिक होता है तब उसे अत्यधिक वजन कहते हैं। परन्तु जब शरीर का वजन 20 से 80 प्रतिशत तक बढ़ जाता है तो उसे मोटापा कहते हैं। मोटापे को मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा गया है: सामान्य वजन से 20 प्रतिशत अधिक- सामान्य मोटापा; सामान्य वजन से 40 प्रतिशत अधिक- अधिक मोटापा एवं सामान्य वजन से 50 प्रतिशत अधिक- अत्यधिक मोटापा।

मोटापा बढ़ने के कारण :

- **आयु :** मोटापा किसी भी आयु में हो सकता है लेकिन प्रौढ़ावस्था में इसके होने की सम्भावना सबसे ज्यादा होती है।
- **लिंग :** मोटापा किसी भी आयु में और किसी भी लिंग के व्यक्ति को हो सकता है लेकिन प्रौढ़ावस्था में पुरुषों से ज्यादा स्त्रियाँ मोटी हो जाती हैं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे-विवाह के बाद अपने शरीर के स्वास्थ्य एवं रख-रखाव के प्रति लापरवाह होना, उच्च आर्थिक स्थिति के कारण शारीरिक श्रम में कमी और अधिक वसायुक्त भोजन का सेवन, गर्भकाल के दौरान गर्भाशय में वसा का संग्रह होना इत्यादि।
- **उच्च आर्थिक स्थिति-** सामान्यतः उच्च सामाजिक-आर्थिक स्तर के लोगों में मोटापा अधिक पाया जाता है, क्योंकि वे शारीरिक श्रम नहीं के बराबर या बहुत कम करते हैं। साथ ही भोजन में भी घी, तेल, सूखे मेवे, मक्खन आदि का अत्यधिक उपयोग करते हैं। इसलिए उच्च आर्थिक स्थिति को मोटापे

का एक प्रमुख कारण माना जा सकता है।

- **वंशानुक्रम-** मोटापा बढ़ने का एक प्रमुख कारण वंशानुक्रम भी है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होने वाली समस्याओं में मोटापा भी है। यदि माता-पिता दोनों मोटापे के शिकार होते हैं तो सन्तान को भी यह बीमारी हस्तान्तरित हो जाती है। लेकिन माता या पिता में से कोई एक इस समस्या से ग्रस्त हो तो सन्तान को 40 प्रतिशत तक इसके होने की सम्भावना रहती है। दरअसल अनुवांशिकता हमारे भोजन सम्बन्धी आदतों को भी प्रभावित करती है। जिसके कारण हमारी शारीरिक संरचना एवं वजन भी हमारे माता-पिता या पूर्वजों जैसी हो जाती है।
- **भोजन सम्बन्धी आदतें-** हमारी भोजन सम्बन्धी आदतें भी मोटापे का कारण बन सकती हैं। कुछ लोगों को दिनभर या थोड़ी-थोड़ी देर में खाने की आदत होती है। कुछ महिलाएं किचन में काम करते हुए, डिब्बों में सामान भरते हुए, परिवार के सदस्यों द्वारा छोड़े गये खाद्य सामग्रियों को फेंकने से बचाने के लिए, खाने का स्वाद परखने के लिए आवश्यकता से अधिक कैलोरी का सेवन कर लेती हैं, जो शरीर में वसा के रूप में एकत्रित होते हुए मोटापे का कारण बन जाता है। अधिकतर बच्चों एवं पुरुषों को टी.वी. देखते हुए तली भुनी चीजें खाने की आदत होती है। अस्वास्थ्यकर भोजन का अत्यधिक सेवन, आवश्यकता से अधिक भोजन का सेवन, टी.वी. देखते हुए भोजन का सेवन ऐसे तमाम कारण हैं जो धीरे-धीरे हमारे वजन में वृद्धि करके बहुत सारी बीमारियों को पैदा कर देते हैं। यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन अपनी आवश्यकता से 100 कैलोरी अतिरिक्त ग्रहण करता है तो एक साल में उसका वजन 4 किलोग्राम तक बढ़ जाएगा।
- **दवाइयाँ-** कुछ दवाइयाँ ऐसी होती हैं जिनके प्रयोग से भूख बढ़ती है जिसके फलस्वरूप मोटापा बढ़ता है। कुछ दवाओं के साइड इफेक्ट के कारण भी मोटापा होता है; जैसे, इन्सुलिन, स्टीरॉयड, गर्भनिरोधक गोलियाँ इत्यादि।
- **संवेगात्मक कारण-** अकेलापन, निराशा, तनाव, असन्तुष्टि, प्यार की कमी महसूस होना आदि नकारात्मक संवेगों की उत्पत्ति के कारण भी व्यक्ति अधिक खाने लगता है और मोटापे का शिकार हो जाता है।
- **अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ-** अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से निकलने वाले हार्मोन्स भी यदि सही और सन्तुलित मात्रा में नहीं निकलते हैं तो मोटापा बढ़ता है। जैसे- थायरॉइड ग्रन्थि, पिट्यूटरी ग्रन्थि आदि से निकलने वाले हार्मोन्स के अनियंत्रित स्राव के कारण।
- **केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में दोष होने पर-** हाइपोथैलमस केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का एक प्रमुख भाग है। इसमें भूख केन्द्र और तृप्ति केन्द्र होते हैं। भूख लगना एवं भोजन ग्रहण करना ये दोनों ही बातें इन्हीं केन्द्रों पर निर्भर करती है। यदि तृप्ति केन्द्र नष्ट हो जाये तो वहाँ की तंत्रिकाएं निष्क्रिय हो हो जाती हैं जिसके कारण व्यक्ति अधिक भोजन ग्रहण करने लगता है और मोटापे का शिकार हो जाता है। नाड़ियों द्वारा प्राप्त संवेदना से अमाशय की माँसपेशियों का संकुचन होता है। रक्त में इन्सुलिन की उपस्थिति से रक्त-शर्करा कम हो जाता है जिससे व्यक्ति को तीव्र भूख का अहसास होता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति अधिक भोजन ग्रहण करने लगता है और मोटापे का शिकार हो जाता है।
- **मौसम-** सर्दी के मौसम में अधिक खाना खाया जाता है क्योंकि शारीरिक तापमान की रक्षा के लिए शरीर द्वारा अधिक आहार का ऑक्सीकरण किया जाता है। जिससे मोटापा बढ़ता है।
- **तकनीकी विकास-** सुबह सोकर उठने से लेकर रात्रि में सोने तक हम ऐसी तमाम मशीनों और विकसित तकनीकों का प्रयोग करते हैं जो हमारी शारीरिक क्रियाशीलता को कम से कम करके मोटापे

को जन्म देती हैं और हमें अस्वस्थ बनाती हैं। जैसे- नहाने के लिए शरीर पर पानी डालने का कार्य मग से करने की बजाय शावर का प्रयोग करना, टी.वी. का चैनल बदलने या आवाज घटाने-बढ़ाने के लिए रिमोट का प्रयोग, सीढ़ी के स्थान पर लिफ्ट का प्रयोग, कपड़ा धुलने के लिए वाशिंग मशीन का प्रयोग, मसाला पीसने के लिए मिक्सर ग्राइण्डर का प्रयोग आदि।

- **आरामदायक स्थिति में रहने की इच्छा-** आज के भौतिकतावादी युग में अधिकतर लोग अपने छोटे-छोटे कार्यों को करने से बचना चाहते हैं और उसे करने के लिए दूसरे लोगों या मशीनों का सहारा लेते हैं जिसके कारण शारीरिक क्रियाशीलता में कमी आती है।
- **रेडी टू इट सामग्रियों की उपलब्धता-** यदि आपको दिनभर तरह-तरह के भोजन करने की आदत है लेकिन दिनभर उन्हें बनाना सम्भव नहीं है तो कोई बात नहीं, अब बिना किसी प्रयास के रेडी टू इट खाद्य सामग्रियों का प्रयोग करके मुश्किल से दो या तीन मिनट में आप स्वादिष्ट व्यंजन तैयार कर सकते हैं क्योंकि इसे गर्म पानी का प्रयोग करके अथवा थोड़े समय तक पकाकर तैयार किया जा सकता है। इस प्रकार मोटापे को बढ़ाने के लिए हर प्रकार की सुविधा बाजार में उपलब्ध है।
- **प्रदर्शन की इच्छा-** आज के भौतिकतावादी युग में जहाँ बाहरी दिखावे को महत्व दिया जाने लगा है, हमारी आहार सम्बन्धी आदतें भी इससे अछूती नहीं हैं। दिन-प्रतिदिन के भोजन में बाहर बनी खाद्य सामग्री का समावेश, अपने स्टेटस सिम्बल को मेण्टेन करने के लिए सप्ताहांत में परिवार के साथ रेस्टूरेण्ट में लंच या डिनर करना जिससे कि सोशल मीडिया पर अपने रहन-सहन के उच्च तौर-तरीकों का प्रदर्शन किया जा सके, पिज्जा, बर्गर, चाइनीज खाने की जबरदस्ती आदत डालना ताकि सामान्य भोजन पसंद करने पर पिछड़ा और गवार होने की संज्ञा मिलने से बचा जा सके आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो हमारी संकुचित सोच को बताती हैं। पहले घर में अतिथियों के आगमन पर रसोई में तरह-तरह के पकवान बनने लगते थे लेकिन आज कोल्ड ड्रिंक, चिप्स, केक, बिस्किट के साथ उनका स्वागत किया जाता है और अतिथि को बाहरी खाद्य पदार्थ सर्व करके उन्हें स्पेशल होने और अपने उच्च आर्थिक स्थिति का होने का अहसास कराया जाता है। आज के समय में जो दिखावे की प्रवृत्ति ने समाज में जन्म लिया है उससे समय रहते नहीं निपटा गया तो हमारी आने वाली पीढ़ी को इसका खामियाजा भुगतना पड़ सकता है क्योंकि इन सभी फास्ट फूड में अत्यधिक वसा एवं शर्करा होती है जो मोटापे का और उसके बाद बहुत सारे रोगों का कारण बन सकती है।
- **नींद की कमी-** वजन कम करने के लिए स्वस्थ लाइफ स्टाइल का होना जरूरी है। नींद की कमी हमारे शरीर को कई तरह की बीमारियों का शिकार बना सकती है। यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन 5 घण्टे से कम सोता है तो कई तरह की समस्याएं पैदा हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में हुए अनेक रिसर्च इस बात की पुष्टि करते हैं कि नींद यदि अक्सर ही पूरी न हो तो मोटापा तेजी से बढ़ता है और सेहत को नुकसान पहुँचाता है। बढ़ता वजन कई तरह की स्वास्थ्य समस्याएं पैदा करता है जिसकी वजह से लोग उल्टे सीधे तरीके और डाइट अपना कर अपना मोटापा कंट्रोल करने की कोशिश करते हैं जिसकी वजह से मोटापा कम होने की बजाय और तेजी से बढ़ने लगता है। मोटापा कम करने के लिए डाइट पर कंट्रोल करना और व्यायाम करना ही जरूरी नहीं है बल्कि पर्याप्त नींद लेना भी आवश्यक है।
- **ऑन लाइन फूड डिलेवरी की सुविधा-** पहले के समय में जब ऑन लाइन फूड डिलेवरी की सुविधा नहीं थी तब लोग घर से निकलकर रेस्टूरेण्ट में कम ही जा पाते थे। जिससे अनावश्यक एवं अस्वास्थ्यकर भोजन तथा अन्य खाद्य सामग्रियों के सेवन से व्यक्ति बचा रहता था लेकिन आज के

समय में कुछ भी खाने की इच्छा हो और बाहर जाने की सुविधा अथवा इच्छा न हो तो घर बैठे हर तरह के व्यंजनों का लुत्फ उठाया जा सकता है। आजकल तो स्ट्रीट फूड की भी होम डिलेवरी होने लगी है। स्ट्रीट फूड तो खासतौर से अत्यधिक तेल, मक्खन, मसाले का प्रयोग करके बनाये जाते हैं जो स्वादिष्ट तो अत्यधिक होते हैं लेकिन हमारे स्वास्थ्य को दुष्प्रभावित करके मोटापा बढ़ाने का कार्य करते हैं। आज के समय में फास्ट फूड की आसान उपलब्धता, माता-पिता के पास वक्त की कमी, खेल के मैदानों का अभाव, प्लैट की व्यवस्था जिसमें सभी की अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी होती है जिसके कारण बच्चों को खेलने के लिए साथी का न मिलना, शारीरिक खेलों के स्थान पर कम्प्यूटर एवं मोबाइल पर खेले जाने खेलों के कारण खासतौर से बच्चों की शारीरिक क्रियाशीलता शून्य होती जा रही है। ऑनलाइन कक्षाएं तथा मानसिक खेलों ने आजकल के बच्चों को एक कुर्सी से बाँध दिया है, जिसके कारण वे एक स्थान पर बैठे-बैठे अपने दिनभर के कार्यों को निपटाते रहते हैं और कम उम्र में ही मोटापे का शिकार होते रहते हैं।

- **डाइटिंग का अवैज्ञानिक तरीका-** डाइटिंग करना अर्थात् अपने खान-पान एवं पूरी दिनचर्या को इस प्रकार बनाना कि शारीरिक फिटनेस को प्राप्त किया जा सके। लेकिन यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से वैज्ञानिक होनी चाहिए। इस प्रक्रिया में सबसे पहले व्यक्ति की सोच एवं मनोवृत्ति को बदलने का प्रयास किया जाता है जिससे कि जीवन पर्यन्त खान-पान के सही तौर-तरीकों को अपनाया जा सके। यदि कोई व्यक्ति डाइटिंग को निश्चित समय के लिए एक टास्क के रूप में लेता है तो इसके विपरीत परिणामों से उसे जूझना पड़ता है, क्योंकि जब व्यक्ति डाइटिंग करना बंद करता है तो उसे पहले से ज्यादा भूख लगती है। उसने लम्बे समय तक अपने भूख को नजरअंदाज किया था और अब वह पहले से भी ज्यादा खाने लगता है और डाइटिंग से पहले जितना मोटा रहता है उससे भी ज्यादा मोटा हो जाता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि डाइटिंग करने का अवैज्ञानिक तरीका भी मोटापे का कारण हो सकता है।

मोटापे का दुष्प्रभाव :

- **शारीरिक संरचना में दोष उत्पन्न होना :** मोटे लोगों की शारीरिक संरचना सामान्य व्यक्तियों से अलग होती है। त्वचा के नीचे वसा का जमाव हो जाता है जिसके कारण वसा की मोटी तहों से न केवल वजन बढ़ता है बल्कि पूरा शरीर ही स्थूल, थुलथुला, भद्दा और बेडौल दिखाई देने लगता है और यदि मोटापा बहुत ज्यादा बढ़ जाता है तो उचित परिधानों के द्वारा भी इन्हें छिपाना मुश्किल हो जाता है। जिसके कारण व्यक्ति धीरे-धीरे समाज के लोगों से दूरियाँ बना लेता है। उसमें हीन भावना विकसित होने लगती है। हीन भावना से ग्रसित लोगों को लगता है कि हर कोई उनके बारे में बात कर रहा है, उनका मजाक उड़ा रहा है।
- **पाचन सम्बन्धी जटिलताओं का उत्पन्न होना :** मोटे व्यक्तियों में अक्सर भोजन के पाचन सम्बन्धी जटिलताएं देखने को मिलती हैं। जैसे- कब्ज, चयापचय में कमी, गैस्ट्राइटिस, पाइल्स इत्यादि। इन सभी अनियमितताओं के कारण मधुमेह, हृदय सम्बन्धी बीमारियाँ, यकृत की बीमारियाँ आदि होने लगती हैं।
- **शारीरिक क्रियाशीलता में कमी :** आलस्य, थकान, भारी पैर, पीठ में दर्द, जोड़ों में दर्द, कार्यों को करने में शीघ्रता की कमी, शारीरिक अक्षमता आदि तमाम ऐसे कारण हैं जो मोटे लोगों की शारीरिक क्रियाशीलता में कमी ला देते हैं।
- **श्वसन सम्बन्धी रोग :** मोटापे के कारण आन्तरिक अंगों की दीवारों पर भी वसा की मोटी परतें चढ़ने

लगती हैं जिसके कारण सभी आन्तरिक अंगों की क्रियाओं में शिथिलता आने लगती है। श्वसन तंत्र के भी अंगों की क्रियाशीलता बाधित होने लगती है जिसकी वजह से व्यक्ति कोई भी मेहनत का कार्य नहीं कर पाता है और सामान्य कार्यों को करने तथा पैदल चलने, सीढ़ी चढ़ने उतरने में भी हाँफने लगता है।

- **जीवन के प्रति निराशा :** मोटापे के कारण इतनी बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि मोटे लोगों की आयु कम हो जाती है। यहाँ तक कि बीमा कम्पनियाँ भी मोटे लोगों का बीमा नहीं करना चाहती हैं क्योंकि मोटापे के कारण जीवन पर खतरा बना रहता है। मोटे लोगों में मनोवैज्ञानिक एवं संवेगात्मक अस्थिरता भी उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण वो दूसरों के मजाक का पात्र बन जाते हैं और जीवन के प्रति निराशाजनक रुख अपना लेते हैं।

मोटापे की रोकथाम एवं उपचार

मोटापा कम करना अपने आप में एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। इसके लिए डाइटिंग न करके अपने खानपान, अपने व्यायाम के तरीके तथा अपनी दिनचर्या में इस प्रकार परिवर्तन लाना आवश्यक है जो आजीवन हमारी आदत में शामिल हो जाये तथा वजन को हमेशा सन्तुलन में रखकर शरीर को फिट रख सके। आजकल इण्टरनेट एवं सोशल मीडिया पर तमाम ऐसे एक्सरसाइज और भोजन के बारे में बताया जाता है जिसके द्वारा वजन कम करने की बात कही जाती है। लेकिन सोशल मीडिया पर सूचनाओं और जानकारीयों की बाढ़ में से हम अपने लिए उपयुक्त और सही जानकारी कैसे ढूँढ़ पाएंगे ये हमारे विवेक और व्यावहारिक ज्ञान पर निर्भर करता है। यहाँ गौर करने वाली बात यह भी है कि हमारे शरीर की व्यवस्था हमारे मस्तिष्क से सम्बन्धित है अर्थात् हमें वजन घटाने से सम्बन्धित किसी भी फॉर्मूले का प्रयोग करते समय अपने दिमाग में ये बात याद रखनी है कि हम जो तरीका अपना रहे हैं उससे हमारा वजन कम होगा, मोटापा कम होगा। अर्थात् हमारी सकारात्मक सोच जरूरी है सकारात्मक पहल से पहले।

मोटापा दूर करने में योग की भूमिका

योग शब्द का सामान्य अर्थ है जुड़ना, मिलना, युक्त होना या एकत्र करना; लेकिन अपने व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ बहुत व्यापक है। योग वह है जो स्व का ज्ञान स्वयं के अनुभव द्वारा प्राप्त करना सिखाता है और साधक को अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। श्रीमद्भगवद् गीता के छठवें अध्याय के 16/17 श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि,

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात् जो बहुत भोजन करता है, उसका योग सिद्ध नहीं होता। जो निराहार रहता है, उसका भी योग सिद्ध नहीं होता। जो बहुत सोता है, उसका भी योग सिद्ध नहीं होता और ना ही उसका योग सिद्ध होता है जो बहुत जागता है। इस प्रकार जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कर्मों में, सोने-जागने में परिमित रहता है उसका ही योग सिद्ध होता है।

पहले की अपेक्षा आज योग की अधिक आवश्यकता है। पहले पर्यावरण, वातावरण, खान-पान, रहन-सहन सभी कुछ आज की अपेक्षा बहुत ही प्राकृतिक था। परन्तु आज दूषित वातावरण, प्रदूषित पर्यावरण, फास्टफूड एवं डिब्बा बंद भोज्य पदार्थ, विटामिन और प्रोटीन रहित खान-पान, बदलता परिवेश और शारीरिक क्रियाशीलता की कमी इन सभी ने हमारे सम्पूर्ण स्वास्थ्य को प्रभावित किया है। आज तकनीकी विकास ने जहाँ कई सुविधाएँ

प्रदान की है वहीं इसके विपरीत प्रभाव ने हमारे स्वास्थ्य को नकारात्मकता प्रदान की है। इन सभी बातों के कारण आज योग शिक्षा की बहुत अधिक आवश्यकता है क्योंकि योग द्वारा हम मात्र वर्तमान पीढ़ी को ही नहीं बल्कि आने वाली पीढ़ियों को सही सोच एवं सच्चा मार्गदर्शन दे सकते हैं

यदि एक दृढ़ निश्चय के साथ प्रतिदिन योग का अभ्यास प्रारम्भ किया जाये तो सभी मोटे व्यक्तियों का वजन कम होकर सामान्य स्तर पर आ सकता है। लेकिन इसके लिए दृढ़ इच्छाशक्ति और सतत प्रेरणा की आवश्यकता होती है। स्वयं अपनी आदतों में सुधार करके सृजनात्मक क्रियाकलापों में रुचि लेने से इस उद्देश्य की पूर्ति अवश्य ही की जा सकती है।

लगातार तनाव की स्थिति में रहने वाले रजस प्रवृत्ति के अति आहारी मोटे व्यक्तियों को योगनिद्रा से अत्यधिक लाभ प्राप्त होता है। प्रत्येक भोजन से पहले 10 मिनट का शवासन का अभ्यास करना चाहिए, जिससे पाचन संस्थान एवं अन्य अंगों के तनाव तथा मानसिक व्यस्तता को दूर किया जा सके। इसके साथ ही सजगतापूर्वक भोजन करना भी आहार की मात्रा को कम करने में मदद करता है। इसी प्रकार नीरसता या अकेलेपन के कारण अधिक खाने वाले व्यक्ति को कर्मयोग की ओर प्रेरित करना चाहिए। उन्हें किसी प्रकार स्वयं को व्यक्त

करने के तरीके जानने चाहिए, जिससे वे घर, रसोई या लगातार भोजन के लालच से दूर रहकर उत्साहवर्द्धक और उपयोगी कार्य कर सकें। जैसे-जैसे अन्य कार्यों में रुचि बढ़ेगी, वैसे-वैसे भोजन की मात्रा में कमी आती जायेगी।

मोटे व्यक्तियों में ऊर्जा प्रवाह को ठीक करने के लिए तथा अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों को सन्तुलित करने के लिए आसन अति आवश्यक है। वजन कम करने के लिए कड़ी शारीरिक मेहनत वाले व्यायाम के स्थान पर योग एवं आसनों का प्रयोग ज्यादा लाभकारी सिद्ध होता है। प्राणायाम के द्वारा चयापचय की क्रिया को बढ़ाकर वसा के जमाव को कम किया जा सकता है। मोटापा दूर करने के लिए निम्नलिखित योगासनों का प्रयोग किया जा सकता है- त्रिकोणासन, कोणासन, उत्तानपादासन, अर्धहलासन, पवनमुक्तासन, सूर्य नमस्कार इत्यादि।

आगे कुछ सामान्य नियम भी बताये जा रहे हैं जिनका प्रयोग करके हम स्वस्थ एवं निरोगी काया प्राप्त कर सकते हैं-

- सुबह की शुरुआत हेल्दी ड्रिंक से- सुबह-सुबह खाली पेट चाय या कॉफी लेने की बजाय यदि कोई हेल्दी ड्रिंक लिया जाये तो पाचन तंत्र के साथ-साथ पूरे शरीर को फिट रखने में आसानी होती है, दिनभर ताजगी रहती है तथा शरीर के व्यर्थ पदार्थों का निष्कासन सरलता से हो जाता है। कुछ हेल्दी ड्रिंक्स इस प्रकार से हैं-

 1. एक गिलास गर्म पानी में नींबू और एक चम्मच शहद का प्रयोग करने से न केवल पाचन संस्थान, त्वचा और बाल अच्छे होते हैं बल्कि अतिरिक्त वसा के जमाव को कम करने में भी सहायता मिलती है।
 2. एक चम्मच जीरा एक गिलास पानी में रात भर भिगोंकर रख देने और सुबह उसे आधा होने तक गर्म करने के बाद उसमें एक नींबू निचोंड़कर पीने से भी मोटापे से छुटकारा मिल सकता है।
 3. मेथी, जीरा, अजवाइन, सौंफ एवं दालचीनी बराबर मात्रा में मिलाकर हल्का भूनकर, पीसकर पावडर तैयार करके सुबह एक गिलास गर्म पानी में एक चम्मच घोलकर लेने से भी पाचन सम्बन्धी समस्याओं से छुटकारा मिलता है।

4. सुबह-सुबह खाली पेट नारियल पानी का सेवन भी लाभकारी होता है।
 5. शहद के साथ ग्रीन टी या एलोवेरा जूस का सुबह खाली पेट सेवन लाभकारी सिद्ध होता है।
- *नियमित रूप से योग या व्यायाम करना-* शरीर के फिटनेस को बनाये रखने के लिए प्रतिदिन थोड़े समय के लिए योग या व्यायाम करना आवश्यक है। लेकिन व्यायाम करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि वह इतना सरल हो कि बिना किसी कठिनाई के और बिना किसी अंग पर अनावश्यक दबाव डाले आसानी से किया जा सके। बहुत कठिन और बहुत देर तक करने वाले व्यायाम को लोग लम्बे समय तक जारी नहीं रख पाते हैं और उससे बचने के बहाने दूढ़ने लगते हैं। तेज चलना, बैडमिंटन खेलना, मनपसंद संगीत पर नृत्य करना, फुटबॉल खेलना या तमाम पुराने परम्परागत शारीरिक क्रियाशीलता वाले खेलों में से मनचाहे खेलों का चयन किया जा सकता है। कोशिश होनी चाहिए कि प्रतिदिन निश्चित समय पर एक्सरसाइज अवश्य किया जाये।
 - *हेल्दी ब्रेकफास्ट की अनिवार्यता-* सुबह का नाश्ता यानी ब्रेकफास्ट सभी के लिए अति आवश्यक है। जो लोग मोटापा कम करने के लिए सुबह का नाश्ता छोड़ देते हैं उनको इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि सुबह का नाश्ता छोड़ देने से मोटापा कम नहीं होगा बल्कि ऐसा करने से मोटापा और बढ़ेगा। सुबह का नाश्ता करने के बाद सभी की दिनचर्या प्रारम्भ होती है अर्थात् इस समय ली गयी कैलोरी शीघ्रता से ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है, जिसकी वजह से वसा का अनावश्यक जमाव नहीं हो पाता। दिनभर की कैलोरी का एक तिहाई सुबह के नाश्ते से प्राप्त करना चाहिए। केवल प्रयास यह होना चाहिए कि नाश्ता हेल्दी हो अर्थात् उसमें अंकुरित अनाज एवं दाल, फल, हरी एवं पीली सब्जियाँ, दूध एवं दूध से बने खाद्य पदार्थ तथा प्राकृतिक वसा का समावेश हो।
 - *अत्यधिक वसा एवं मसालेयुक्त भोजन से बचाव-* प्रतिदिन के भोजन में तेल, मसाले एवं घी का कम से कम प्रयोग करके भी मोटापे से बचा जा सकता है या मोटापे को दूर किया जा सकता है। यदि भोजन सम्बन्धी स्वस्थ आदतों को अपना लिया जाए तो शीघ्र ही मोटापे से छुटकारा पाया जा सकता है और हमेशा के लिए फिजिकल फिटनेस को पाया जा सकता है। ऐसा करने के लिए बाहर बनी भोज्य सामग्रियों से भी बचने की आवश्यकता है क्योंकि फास्ट फूड अत्यधिक कैलोरी और वसा से युक्त होते हैं जो अनावश्यक रूप से शरीर में वसीय ऊतकों के रूप में जमा होकर न केवल शरीर को बेडौल बनाते हैं बल्कि अनेक रोगों को भी जन्म देते हैं।
 - *फलों का नियमित प्रयोग-* फलों में भरपूर मात्रा में विटामिन्स और खनिज लवण होते हैं जिसके कारण हमारे शरीर को विभिन्न रोगों से मुक्त रखने में सहायक माने जाते हैं। फल हमारी पाचन क्रिया को उत्तेजित करते हैं जिससे भोजन के पाचन में सहायता मिलती है। फल में कैल्शियम, आयरन, कैरोटीन, रेशा, कार्बोज शर्करा तथा अनेक महत्वपूर्ण विटामिन्स भी होते हैं और ये सभी मिलकर हमारी अस्थियों, दाँतों, रक्त निर्माण की प्रक्रिया एवं आँखों को स्वस्थ बनाते हैं और वसा के जमाव को रोकते हैं क्योंकि फलों में उपस्थित विटामिन सी फैट कटर का काम करता है।
 - *रेशेदार खाद्य पदार्थों का सेवन-* रेशेदार खाद्य पदार्थ मोटापे को कम करने में बहुत सहायक है। रेशेदार खाद्य पदार्थ न तो ऊर्जा देते हैं और न ही शरीर में अवशोषित होते हैं। यह आहार की मात्रा को बढ़ा देते हैं। रेशेदार पदार्थ युक्त भोजन लेने से पेट भरा महसूस होता है और इसका कोई कैलोरी मूल्य भी नहीं होता है। फलों के द्वारा तथा सम्पूर्ण अनाज एवं दाल के प्रयोग द्वारा उच्च रेशेदार खाद्य पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं।

- जल का भरपूर सेवन- न केवल मोटे व्यक्तियों को बल्कि सभी लोगों को प्रतिदिन स्वस्थ भोजन के साथ भरपूर मात्रा में जल का भी सेवन करना चाहिए। जल कोशिकाओं के भीतर होने वाली रासायनिक क्रियाओं में घोलक के रूप में कार्य करके प्रत्येक कोशिका तक उसे पहुँचाने का कार्य करता है। विभिन्न पेय पदार्थ एवं 2 लीटर शुद्ध जल का सेवन एक प्रौढ़ व्यक्ति की पाचन क्रिया को सुचारु रूप से चलाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार स्वस्थ जीवन के उपरोक्त नियमों तथा योगासनों का उपयोग करके न केवल मोटापे को दूर किया जा सकता है बल्कि सरल एवं सुखद जीवन जिया जा सकता है।

सन्दर्भ :

- बी. के. बख्शी, 'आहार एवं पोषण के मूल तत्व', श्री विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संस्करण-7, 2015, पृ. 144
- डॉ. वृन्दा सिंह, 'आहार एवं पोषण विज्ञान', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, संस्करण-10, 2012, पृ. 428, 429, 724 एवं 725
- डॉ. प्रवीण पन्त, 'योग द्वारा रोग निवारण', सरस्वती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण-प्रथम 2019, पृ. 254-256



भारतीय भोज्य समूह एवं संतुलित आहार

[2010 से 2020 के संगठित आँकड़ों के अनुसार]

○ वालेन्तिना प्रिया

संक्षिप्ति :

आजकल कल की भागदौड़ वाली जिन्दगी में प्रत्येक मानव का जीवन दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है, इसका कारण खान-पान में असन्तुलन का होना है। प्रत्येक मनुष्य पेट तो किसी न किसी रूप में भर लेता है, लेकिन वह सन्तुलित आहार लेने में सामंजस्य नहीं बैठा पाता। कारण यह कि उसमें भोज्य समूहों की जानकारी का अभाव है अथवा उसकी आर्थिक स्थिति कमजोर होती है। भोज्य तत्वों को भोज्य पदार्थों की समानता की दृष्टि से भोज्य पदार्थ की उचित मात्रा शरीर के लिए आवश्यक भोज्य तत्व प्रदान करेगी। सन्तुलित आहार वह भोजन है, जिसमें सभी पौष्टिक तत्व उचित अनुपात में उपस्थित हों, जितनी एक व्यक्ति को प्रतिदिन आवश्यकता होती है। अतः सन्तुलित वह आहार है, जो हमारे शरीर को आवश्यक व उचित मात्रा में ऊष्मा उत्पादक, बाढ़वर्धक, तोड़फोड़ की मरम्मत करने वाले, शरीर की क्रियाओं को संचालित और निरोग करने वाले पौष्टिक तत्वों को उचित भोज्य पदार्थों के द्वारा प्रतिदिन प्रदान करता हो अर्थात् सभी भोज्य घटक सन्तुलित मात्रा में तथा शरीर की आवश्यकतानुसार आहार में उपस्थित हों। आहार को सन्तुलित करने के लिए उत्तम साधनों के उचित भोज्य पदार्थों का आहार में उपस्थित होना आवश्यक है।

बीज शब्द : भोज्य, विटामिन, मिनरल्स, राइबोफ्लेबिन, फल, सब्जी, खद्यान, दूध, वसा।

सन्तुलित आहार के उद्देश्य :

शरीर को शक्ति, गर्मी, शारीरिक वृद्धि, मानसिक वृद्धि, रोगों से शरीर की रक्षा, रोगरोधक क्षमता तथा शारीरिक संस्थाओं पर नियंत्रण रखना है।

सन्तुलित आहार अत्यन्त उत्तम आहार माना जाता है। अतः जन-स्वास्थ्य की दृष्टि से इसके अन्तर्गत उचित मात्रा में कार्बोज, वसा, खनिज, लवण तथा विटामिन्स का उपस्थित रहना अनिवार्य है।

विश्लेषण :

भोज्य समूह : कोई भोज्य पदार्थ कितना ही पोषणयुक्त क्यों न हो, लेकिन वह हमारे लिए सन्तुलित आहार नहीं बन सकता। अतः सन्तुलित आहार लेने के लिए विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ लेना आवश्यक हो जाता है। भोज्य समूह विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों में भोज्य तत्वों की समानता की दृष्टि से ही बनाए गए हैं। प्रत्येक आहार में प्रत्येक भोज्य समूह से भोज्य पदार्थ के आवश्यक मात्रा में सम्मिलित होने पर आहार सन्तुलित रहता है। हमारे शरीर के लिए कार्बोहाइड्रेट, वसा, प्रोटीन, खनिज तत्व तथा विटामिन आदि बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह भोज्य तत्व हमें एक भोज्य पदार्थ से प्राप्त नहीं होते हैं। अतः भोज्य समूह के आधार पर प्रतिदिन का आहार पोषणयुक्त बनाया जा सकता है। तथा कुपोषण तथा अवशोषण की स्थितियों से बचा जा सकता है। यदि प्रतिदिन

आहार का पोषक महत्व जानने के लिए आहार के पोषक तत्वों की गणना की जाये तो यह कार्य बहुत समय खर्च करने वाला होगा। भोज्य तत्वों को भोज्य पदार्थों की समानता की दृष्टि से भोज्य पदार्थों की आधारभूत पाँच भोज्य समूहों में विभाजित किया गया है। इन भोज्य समूहों से भोज्य पदार्थ की उचित मात्रा शरीर के लिए आवश्यक भोज्य तत्व प्रदान करेगी। ये पाँच भोज्य समूह निम्नलिखित सारणी में दिये गए हैं।¹

समूह	भोज्य पदार्थ	मुख्य पोषक तत्व
प्रथम	दूध व दही से बने भोज्य पदार्थ, (दही, पनीर, छैना, सूखा पाउडर, दूध)	प्रोटीन, कैल्शियम व राइबोफ्लेबिन
द्वितीय	मोस, मछली, अण्डा, गृह पक्षी, दालें, सेम, नट्स आदि।	प्रोटीन लोहा व नायलिन
तृतीय	फल(सन्तरा, टमाटर, आम, पपीता, आंवला, नींबू आदि) हरी पत्ती वाली सब्जियाँ, (कुल्फी, पालक, मैथी, पत्ता गोभी, चुकन्दर व मूली के पत्ते, चना व सरसों का साग आदि) अन्य सब्जियाँ (बैंगन, लौकी, काशीफल, फूलगोभी, भिण्डी आदि)	विटामिन ए (कैराटीन) विटामिन सी (खनिज लवण, लोहा)
चतुर्थ	अनाज (गेहूँ, चावल, मक्का, रागी, ज्वार, बाजरा आदि)	ऊर्जा, लोहा, थायमिन व नायसिन
पंचम	घी एवं तेल (बनस्पति तेल मक्खन, शुद्ध घी आदि) भाककर व गुड़।	ऊर्जा, आवश्यक वसीय अम्ल, विटामिन ए (जन्तु वसा)

आधारीय भोज्य समूह :

Basic of Food Groups: National Research Council अमेरिका के पोषण विशेषज्ञों ने आहार में 10 पोषक तत्व विशेष रूप से महत्वपूर्ण बताए हैं। ये तत्व कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, कैल्शियम, लोहा, विटामिन 'ए' थायमिन, राइबोफ्लेबिन, नायसिन, विटामिन सी व विटामिन डी है। इन तत्वों की भोज्य पदार्थों में उपस्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने भोजन को 7 समूहों में विभाजित किया है। तथा इन समूहों को आधारीय भोजन समूह नाम दिया है।²

प्रथम समूह : हरी व पीली सब्जियाँ तथा फल

ये भोज्य पदार्थ कच्चे, पके या ठण्डे खाये जा सकते हैं। इनके द्वारा विटामिन 'ए', विटामिन 'सी', लोहा व राइबोफ्लेबिन प्रमुख रूप से प्राप्त होते हैं, इस समूह से एक पदार्थ प्रतिदिन प्रति आहार होना आवश्यक है।

इस समूह में पालक, मैथी, चैलाई, हरी धनियाँ, पोदीना, मूली व गाजर, हरा मटर, चने का साग, सहजनी की पत्तियाँ, काशीफल, सेम, शकरकन्दी, आम, पपीता आदि सम्मिलित होते हैं।

द्वितीय समूह : खट्टे, रसीले फल व सब्जियाँ

इस समूह में विटामिन 'सी' युक्त पदार्थ सम्मिलित होते हैं। ये कच्चे, बिना पके व ताजे खाये जाते हैं। प्रतिदिन आहार में एक बार ये भोज्य पदार्थ अवश्य लेने चाहिए।

अमरूद, नींबू, सन्तरा, सन्तरा अनानास, आँवला, सहजनी तथा कच्चा पत्ता गोभी भोज्य पदार्थ इस समूह में सम्मिलित होते हैं।

तृतीय समूह : आलू, फल व अन्य सब्जियाँ

प्रथम व दूसरे समूह के अतिरिक्त अन्य फल व सब्जियाँ इस समूह में सम्मिलित होते हैं आलू प्याज व चुकन्दर, फूल गोभी, केला, खजूर खुमानी, करेला, बैंगन, ककड़ी, खीरा, भिण्डी, लौकी, सेब, तरबूज आदि भोज्य पदार्थ इसी समूह के अन्तर्गत आते हैं।

चतुर्थ समूह : दूध, दूध से बने भोज्य पदार्थ

इस समूह के भोज्य पदार्थों में प्रोटीन कैल्शियम, फास्फोरस, 'ए' थायमिन, राइबोफ्लेबिन आदि तत्व उपस्थित होते हैं। हर उम्र के व्यक्तियों के लिए इसका लेना महत्वपूर्ण होता है। दूध, दही, मट्ठा पनीर, खोआ, दूध पाउडर आदि इस समूह के उदाहरण हैं।

पंचम समूह : (अ) मांस, मछली, अण्डा

(ब) दालें, सूखे बीज, नट्स व सोयाबीन

इस समूह के भोज्य पदार्थ प्रमुख रूप से प्रोटीन युक्त होते हैं। मांस मछली, अण्डा गृहपक्षी जन्तु भोज्य पदार्थों के उदाहरण हैं। वनस्पति भोज्य पदार्थों में दालें, सूखी सेम, सूखा मटर, सोयाबीन तथा मेवे आदि इसी समूह में आते हैं, पर जन्तु भोजन से प्राप्त प्रोटीन, वनस्पति जगत से प्राप्त प्रोटीन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

षष्ठ समूह : विभिन्न खाद्यान्न व उनसे बने पदार्थ

टोस समूह में अनाज, आटा, ब्रेड आदि आते हैं। इस समूह के भोज्य पदार्थ ऊर्जा तथा कैलोरी के प्रमुख साधन होते हैं। विटामिन 'बी' लोहा तथा फास्फोरस में भी इस समूह के द्वारा प्राप्त होता है। गेहूँ चावल मक्का इस समूह के उदाहरण हैं।

सप्तम समूह : घी, तेल, व शर्करा

मक्खन, घी तथा विभिन्न वनस्पति तेल इस समूह के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार यदि हम प्रतिदिन अपने भोजन को समूहों के आधार पर लेना शुरू करें तो निश्चित हमारी जीवन में सुधार होगा।

भोज्य समूहों के आधार पर भोजन ग्रहण करने का उद्देश्य संतुलित आहार प्राप्त करना है। सन्तुलित आहार का अर्थ ऐसे भोजन से है जिसमें एक व्यक्ति के लिए उसकी दैनंदिन आवश्यकतानुसार सभी पौष्टिक तत्व उचित अनुपात में उपस्थित हों। अतः सन्तुलित आहार वह आहार है जो हमारे शरीर को आवश्यक व उचित मात्रा में ऊष्मा उत्पादक, बाढ़वर्धक, तोड़-फोड़ की मरम्मत करने वाले, शरीर की क्रियाओं को संचालित और निरोध करने वाले पौष्टिक तत्वों को उचित भोज्य पदार्थों के द्वारा प्रतिदिन प्रदान करता हो अर्थात् सभी भोज्य घटक सन्तुलित मात्रा में तथा शरीर की आवश्यकतानुसार आहार में उपस्थित होना आवश्यक है। सन्तुलित आहार हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग होता है। किसी व्यक्ति का सन्तुलित आहार उसकी आयु, लिंग, व्यवसाय, जलवायु, मौसम, कार्य एवं परिश्रम पर निर्भर करता है।

आयु : शिशुओं, बालकों एवं किशोरों को प्रौढ़ एवं वृद्ध व्यक्तियों के अनुपात में अधिक मात्रा में पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता होती है इसका मुख्य कारण है कि इस काल में उनकी शारीरिक वृद्धि एवं विकास तेजी से होता है। बालकों में 1 वर्ष से 5 वर्ष तक बाढ़ की गति तीव्र होती है। इस उम्रसीमा के पश्चात् बाढ़ की गति मन्द हो जाती है। किशोरावस्था में फिर बाढ़ की गति तीव्र हो जाती है। प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था में बाढ़ की गति रुक जाती है।

लिंग : स्त्रियों की शारीरिक बनावट पुरुषों की अपेक्षा भिन्न होती है। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा लम्बाई एवं भार में कम होती हैं। स्त्रियाँ शारीरिक परिश्रम भी कम करती हैं। अतः उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम भोजन की आवश्यकता होती है। परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ स्तनपान एवं गर्भावस्था की दशा में।³

व्यवसाय : व्यवसाय के अनुसार कार्य करने वाले व्यक्तियों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है- मानसिक कार्य करने वाले कठोर परिश्रम करने वाले, मानसिक एवं मध्यम परिश्रम करने वाले व्यक्ति। एक

शारीरिक कार्य करने वाले मजदूर के शरीर से 150-300 कैलोरी ऊर्जा प्रति घंटा खर्च होती है। जबकि मध्यम क्रियाशील तथा कम क्रियाशील व्यक्तियों के शरीर से क्रमशः 75-120 कैलोरी ऊर्जा प्रति घण्टा खर्च होती है। अतः अधिक परिश्रम करने वाले को अधिक प्रोटीन एवं कम परिश्रम करने वाले को कम प्रोटीन की आवश्यकता होती है। एक किशोर की ऊर्जा आवश्यकता भी अधिक होती है। रूग्णावस्था में ऊर्जा की कम आवश्यकता होती है क्योंकि वह विश्राम की अवस्था होती है।⁴

जलवायु और मौसम : शीतप्रधान देशों के निवासियों को गर्म देशों के निवासियों की अपेक्षा अधिक ऊष्मादायक भोज्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। सन्तुलित आहार का आयोजन करते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि किसी व्यक्ति को कितनी मात्रा में पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता होती है। अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं ने विभिन्न पौष्टिक तत्वों की मात्रा प्रस्तावित की है।⁵

सन्तुलित आहार के अनुसार आयोजन करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए; यथा,

1. सन्तुलित आहार में सभी भोज्य-समूहों को सम्मिलित करना चाहिए।
2. सन्तुलित आहार से व्यक्ति की आयु, लिंग, व्यवसाय व मौसम के अनुसार पौष्टिक तत्व प्राप्त होने चाहिए।
3. सन्तुलित आहार को आयोजित करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सुबह का नाश्ता उचित हो तथा उसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक होनी चाहिए। दोपहर का खाना भी सम्पूर्ण रूप से सन्तुलित होना चाहिए। रात का भोजन हल्का व सुपाच्य हो ताकि रात में सोते समय आसानी से पच जाए।
4. प्रतिदिन के तीन भोजन के साथ बीच-बीच में कुछ स्वल्पाहार भी लेना चाहिए ताकि पाचन संस्थान में किसी भी प्रकार की अम्लीय क्रिया न हो। छोटे बच्चों में वृद्धि एवं विकास की गति तीव्र होती है। अतः उनको मुख्य खाने के बीच में उच्च प्रोटीन उक्त स्वल्पाहार देना चाहिए। इसका उनकी वृद्धि व विकास पर उत्तम प्रभाव पड़ता है। इसी नियम का पालन गर्भावस्था, दुग्धपान करते समय व वृद्धावस्था में भी करना चाहिए।⁶
5. गर्भवती महिला व दुग्धपान कराने वाली माता को अतिरिक्त पोषण की आवश्यकता होती है। अतः इन अवस्थाओं के लिए आहार नियोजन करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।
6. शिशुओं, बालकों व किशोरों को वृद्धि व विकास के लिए अतिरिक्त मात्रा में पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता होती है। अतः उनके आहार में उचित मात्रा में भोज्य-पदार्थों का समावेश होना चाहिए।
7. प्रौढ़ावस्था में केवल शरीर में क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करने के लिए अतिरिक्त मात्रा में पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता होती रहे।
8. वृद्धावस्था में शरीर के अंग शिथिल पड़ जाते हैं और इस अवस्था में कार्य क्षमता में कमी आ जाती है अतः शरीर के रोगों से बचाव करने के लिए वही भोज्य-पदार्थ देना चाहिए जिनको उन सभी पौष्टिक तत्वों की मात्रा हो जो कि शरीर की रोगों से रक्षा कर सकें।⁸

ऊष्मा :

शरीर को ऊष्मा या कैलोरीज तीन भोज्य पदार्थों से प्राप्त होती है- श्वेतसार, वसा एवं शर्करा। तीनों ही भिन्न-भिन्न भोज्य पदार्थों में पाये जाते हैं। श्वेतासार ही दैनिक आहार में प्रमुख ऊर्जा प्रदान करने वाला घटक है। आहार की 60 प्रतिशत ऊष्मा केवल श्वेतसार से ही प्राप्त होती है। श्वेतसार सस्ते होते हैं तथा उनका उपयोग सभी वर्गों के लोग कर सकते हैं। श्वेतसार सुपाच्य होते हैं, वसा की तुलना में अधिक खाये जाते हैं। श्वेतसार युक्त भोज्य पदार्थों में तृप्तिदायक गुण अन्य भोज्य पदार्थों से अधिक होता है। इस कारण संसार के कोने-कोने से तृण धान्य के रूप में वे दैनिक आहार में प्रमुख भोज्य पदार्थ रहते हैं दैनिक आहार में चावल, गेहूँ, ज्वार,

बाजरा, मक्का का जो महत्व है वह घी, शक्कर या अन्य भोज्य पदार्थों का नहीं रहता है। श्वेतसार युक्त भोज्य पदार्थ आहार में अन्य कई पौष्टिक तत्व भी प्रदान करते हैं। इसमें विटामिन 'बी', और 'बी2' महत्वपूर्ण हैं। जीवन सत्व 'बी1' श्वेतसार के चयापचय के लिए उपयोगी है।⁹

ऊर्जा उत्पन्न करने वाले अन्य पौष्टिक तत्वों में दूसरा स्थान शर्करा का है। प्रतिदिन के आहार में 30 से 60 ग्राम तक शर्करा की आवश्यकता होती है। इसकी मात्रा मिठाई, मुरब्बा, जैम, जैली द्वारा बढ़ाई जाती है। अधिक मात्रा में इनका उपयोग स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। गरीबों के आहार में शक्कर के स्थान पर गुड़ या खांड का उपयोग अधिक लाभकारी है।

तीसरा :

ऊर्जा के उत्पादन में पौष्टिक तत्व वसा व तेल उपयोगी है। यह घी, मक्खन, पशु की चर्बी व तेलों में पाया जाता है। वसा से आवश्यक वसीय अम्ल प्राप्त होते हैं। जो कि बुद्धि के लिए आवश्यक होते हैं। वसा में घुलनशील विटामिन ए, डी, ई, के लिए कुछ मात्रा में वसा की उपस्थिति अनिवार्य है। आहार में अधिक वसा का सेवन करने से रक्त में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ जाती है जिससे हृदय रोग हो जाता है। विभिन्न आयु के लिए निर्धारित की गयी वसा की मात्रा इस प्रकार है-

प्रौढ़ : आहार में कुल कैलोरीज का 10 प्रतिशत भाग वसा से प्राप्त होना चाहिए।

बालक : (1 से 11 वर्ष) कुल कैलोरीज का 15 प्रतिशत भाग वसा युक्त भोज्य पदार्थों से प्राप्त होना चाहिए।

किशोर : कुल कैलोरीज का 15 प्रतिशत भाग वसा युक्त भोज्य पदार्थों से प्राप्त होना चाहिए।

शिशु : (जन्म से 1 वर्ष तक) आहार में कुल कैलोरीज का 30 प्रतिशत भाग वसा से प्राप्त होना चाहिए।

सन्तुलित आहार मानव जीवन का सबसे बड़ा धन है। यदि स्वास्थ्य ठीक है तो सब कुछ आसान है। भूख से तड़पते लोग अपना पेट भरने के लिए खाने योग्य कोई भी पदार्थ स्वीकार कर लेते हैं; जबकि साधारण परिस्थितियों में वे उसे पसन्द भी न करते। प्रायः यह देखा गया है कि कुछ लोग भूखे होते हुए भी ऐसा भोजन स्वीकार नहीं करते जो उनकी धार्मिक और पारम्परिक भावनाओं के विपरीत हो। भोजन का चयन हम अपने स्वभाव के अनुसार नहीं करते हैं। जो मिल जाता है उसी के अनुसार कर लेते हैं। अतः भोजन को हमें सन्तुलित रूप में ग्रहण करना चाहिए।

सन्दर्भ :

1. A Report for the Expert Group, 2020(ICMR)
2. Who (world Health Organisation) 1978. Arterial Hypertension. Report of WHO expert committee, Technical Report Series 628. WHO, Geneva: 58pp
3. Sumati R. Mudami, "Fundamentals of Food Nutrition and Diet Therapy" New Age International Pvt.Ltd. New Delhi, 6th Ed. (2018)
4. Punita Sethi and Poonam Lakda, "Aahar Vigyan.Suraksha evam Poshan" Elite Publishing House, New Delhi, 2015.
5. Dr. Brinda Singh, Manav Sharir evam kriya vighan Panchsheel Prakashan, Jaipur 2015, 15th Ed.
6. Keena, Evans, S, & Child development allyn and Bacon 1992(6th) Edition.
7. Ghosh, S1989, Feeding and Care of infants and young children. Voluntary health Association of India, New Delhi.
8. Who, 1974. Hand Book on Human Nutritional Requirements. World Health Organisation Geneva.
9. डॉ. सुधा पाण्डेय, मानव विकास, साहित्य प्रकाशन, आगरा, 2018



आर्थिक विकास एवं हरित अर्थव्यवस्था का भारतीय समाज पर प्रभाव

○ कमलेश कुमार सिंह

संक्षिप्ति :

किसी भी समाज की प्रगति का एक महत्वपूर्ण कारक उस समाज की आर्थिक प्रगति होती है। सामाजिक दृष्टिकोण से आर्थिक विकास इसका सिर्फ एक लेकिन महत्वपूर्ण पहलू है। साथ ही अन्य पहलुओं, जैसे कि सामाजिक, मानवीय एवं पर्यावरणीय मूल्यों की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। लेकिन देखा जाये तो भारत में वर्तमान समय में विकास के सारे पैमाने आर्थिक आधार पर गढ़े जाने लगे हैं जिससे मानवीय और पर्यावरणीय मूल्यों पर गहरा संकट आ चुका है। औद्योगिकीकरण की प्रतिद्वंद्विता में सभी देश विकास को महत्व दे रहे हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अवैज्ञानिक तरीके से अंधाधुंध दोहन एक गहरे मानवीय एवं पर्यावरणीय संकट को आमंत्रण दे रहा है। जिससे सबसे ज्यादा प्रभावित होने वालों में गरीब-वंचित, किसान, अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़े, स्त्री, बूढ़े, बच्चे इत्यादि सम्मिलित हैं। इस शोध पत्र में मुख्य चर्चा आर्थिक विकास का भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है? तथा यह जानना है कि हरित अर्थव्यवस्था का इसे एक मानव-पर्यावरण-सुगम व्यवस्था बनाये रखने में क्या योगदान है?

बीज शब्द : आर्थिक विकास, सतत विकास, पर्यावरण, प्राकृतिक संसाधन, भारतीय समाज, हरित अर्थव्यवस्था

किसी भी देश के विकास का आधार स्तम्भ उसकी मजबूत आर्थिक अर्थव्यवस्था पर निर्भर करती है। अर्थव्यवस्था का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आर्थिक विकास से होता है। आर्थिक विकास का सामान्यतया अर्थ अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में उत्पादकता के स्तर पर वृद्धि से लगाया जाता है। व्यापक अर्थों में आर्थिक विकास से आशय राष्ट्रीय आय में वृद्धि करके निर्धनता को दूर करना तथा सामान्यजन के जीवन स्तर में सुधार करना है। दूसरे शब्दों में कहें तो आर्थिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें देश के समस्त उत्पादक साधनों का कुशलतम एवं अनुकूलतम प्रदोह किया जाता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि मानव का सर्वांगीण विकास ही आर्थिक विकास है। आर्थिक विकास के प्रभाव को भारतीय समाज के सन्दर्भ में देखने से पहले हमें इसकी सामाजिक संरचना का अध्ययन करना होगा। भारतीय समाज की विशिष्टता के रूप में इसका विन्यासित जातीय स्वरूप तथा उसमें व्याप्त छुआछूत और ऊँच-नीच की भावना ने एक गहरे सामाजिक असमानता को जन्म दिया है। अम्बेडकर इस असमानता को श्रेणीगत असमानता मानते थे। उनके अनुसार समाज में ऊपर के पायदान के लोगों के प्रति सम्मान बढ़ता जाता है और नीचले पायदान के लोगों के प्रति अवमानना/अवहेलना बढ़ती जाती है। “जाति व्यवस्था नस्लों का विभाजन नहीं करती। जाति व्यवस्था एक नस्ल के लोगों के बीच सामाजिक विभाजन है।”¹ आज भी हम देख सकते हैं कि जब किसी उच्च श्रेणी के व्यक्ति की हत्या होती है तो हाहाकार मच जाता

है जबकि दूसरी तरफ निचली जाति के व्यक्ति की हत्या होने पर वैसी प्रतिक्रिया नहीं आती। इस संरचना में सामाजिक संसाधनों पर उनके (जातियों के) अधिकार को भी इसी दृष्टिकोण से आसानी से समझा जा सकता है। विकास का पैमाना निश्चित रूप से समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता और आर्थिक असमानता को दूर करने का होना चाहिए। सोचने वाली बात यह है कि क्या आर्थिक विकास का लाभ समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्राप्त हो रहा है? इसका सीधा उत्तर है- नहीं! फिर इस विकास का क्या अर्थ है जो समाज में रह रहे लोगों में असमानता और असंतोष को जन्म दे। संसाधनों (जल, जंगल, जमीन और आय) के असमान वितरण ने समाज में अमीर और गरीब के बीच की खाई को और गहरा कर दिया है। निस्संदेह भारत एक अत्यधिक विषमतापूर्ण अर्थव्यवस्था है। अगर हम भारतीय समाज में व्याप्त आर्थिक असमानताओं की बात करें तो पाते हैं कि भारतीय समाज की स्तरीकृत व्यवस्था के समनुरूप ही इसकी आर्थिक असमानता भी पायी जाती है। विश्व असमानता रिपोर्ट 2022² के अनुसार भारत में शीर्ष 10 प्रतिशत आबादी के पास कुल राष्ट्रीय आय का 57 प्रतिशत हिस्सा है। इस 10 प्रतिशत में भी शीर्ष के एक प्रतिशत अभिजात वर्ग के पास कुल आय का 22 प्रतिशत हिस्सा है। इसकी तुलना में समाज के निचले स्तर की 50 प्रतिशत आबादी के पास कुल राष्ट्रीय आय का महज 13 प्रतिशत हिस्सा है। इस आंकड़े से हम भारतीय समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता का सहज ही आंकलन कर सकते हैं। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि भारत में लैंगिक असमानता बहुत अधिक है। भारत की राष्ट्रीय आय में महिला श्रमिक की आय की हिस्सेदारी सिर्फ 18 प्रतिशत है। यह एशिया के औसत 21 प्रतिशत से भी कम है। इसमें भी देखा जाये तो इस हिस्सेदारी में सबसे कम योगदान अनुसूचित जाति, जनजाति एवं अन्य वंचित वर्ग की महिलाओं का है। यह महज एक संयोग नहीं है बल्कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था और उसकी संरचना का यथार्थ है जिसमें स्त्रियाँ दोहरी वंचना की शिकार हैं। एक तरफ उनकी क्रियाशीलता को महज घर की चहारदीवारी के अन्दर समेटकर उत्पादन के समस्त साधनों पर पुरुष कब्जा जमाए बैठे हैं तो दूसरी तरफ पितृसत्ता आधारित समाज स्त्रियों की स्वतंत्रता पर काफी हद तक अपनी पकड़ बनाये हुए है।

विश्व आर्थिक मंच की हालिया लैंगिक अंतराल रिपोर्ट के मुताबिक कोविड महामारी ने लैंगिक असमानता को और भी बढ़ा दिया है। यह रिपोर्ट बताती है कि “अब महिलाओं और पुरुषों के बीच समानता आने में करीब 136 वर्ष लग जाएंगे। वहीं आर्थिक असमानता खत्म होने में 250 से अधिक वर्ष लग सकते हैं। आर्थिक असमानता का एक बहुत बड़ा कारण महिला और पुरुष के बीच वेतन का एक बड़ा अंतर है। विभिन्न अध्ययन बताते हैं कि दुनिया भर में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में 23 प्रतिशत तक कम वेतन मिलता है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि यह स्थिति केवल अकुशल महिला श्रमिकों में ही नहीं, बल्कि बालीवुड से लेकर कारपोरेट दुनिया और खेल के मैदान तक अपने पांच पसारे हुए है।”³

भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति अत्यन्त चिंतनीय बनी हुई है। समाज में स्त्रियों का समाजीकरण व आन्तरीकरण इस प्रकार किया जाता है कि वे समाज के बने-बनाये मानदंड को बिना किसी प्रतिरोध के आत्मसात कर सकें तथा बगैर किसी प्रश्न और शिकवा-शिकायत के प्रदत्त सामाजिक दायित्वों का निर्वहण करती रहे। उनके द्वारा किए गए घरेलू श्रम को आर्थिक गतिविधियों में सम्मिलित नहीं किया जाता जिससे उनके श्रम की महत्ता को नगण्य समझा जाता है। यह एक हद तक अर्थव्यवस्था में उनकी भूमिका को नाकारा जाता है जिससे लैंगिक आर्थिक असमानता कायम रह सके।

सीमा चिश्ती लिखती हैं कि “वर्ष 1949 में बी.आर. अंबेडकर ने चेतावनी दी थी कि यदि हम लंबे समय तक सामाजिक और आर्थिक असमानता से मुँह मोड़ते रहे, तो हम राजनीतिक लोकतंत्र के ढांचे को नष्ट कर देंगे। आज हम उसी खतरे को आमंत्रण दे रहे हैं।”⁴ मार्क्सवाद और उदारवाद हमारे समाज की प्रमुख राजनीतिक विचारधाराएँ हैं। मार्क्स ने दलील दी है, “खाईनुमा असमानताओं का बुनियादी कारण महत्वपूर्ण आर्थिक संसाधनों

जैसे- जल, जंगल, जमीन या तेल समेत अन्य प्रकार की संपत्ति का निजी स्वामित्व है। निजी स्वामित्व मालिकों को सिर्फ अमीर नहीं बनाता, उन्हें ताकत भी देता है। यह ताकत उन्हें राज्य की नीतियों और कानूनों को प्रभावित करने में सक्षम बनाती है और वे लोकतांत्रिक सरकार के लिए खतरा साबित हो सकते हैं।”⁵ पूंजीपतियों ने अपनी निजी संपत्ति के लिए सरकारों के साथ मिलकर प्राकृतिक संसाधनों का बहुत ही नृशंस तरीके से दोहन किया है। जिसके फलस्वरूप अमीर और गरीब के बीच आर्थिक असमानता की खाई और गहरी हो गई है। देखा जाये तो गहरी खाई जैसी वे असमानताएँ अधिक खतरनाक हैं जो पीढ़ियों से अनछुई रही हैं। एक तरफ समाज के कुछ खास वर्ग के लोग पीढ़ियों से बेशुमार धन दौलत के साथ हासिल होने वाली विशेषाधिकार और सत्ता का उपभोग करते आये हैं और दूसरी तरफ वे लोग जो पीढ़ियों से गरीब बने रहे। ऐसे समाज को अधिक खुला और समतावादी बनाने के लिए सुधारना ज्यादा दुरूह साबित हो सकता है। समाजशास्त्र की भाषा में पियरे बोर्दिउ इसे ‘सांस्कृतिक पुनरुत्पादन’ कहते हैं।

वर्ल्ड इनइक्वालिटी लैब द्वारा प्रकाशित विश्व असमानता रिपोर्ट 2022 में दुनिया भर के 100 से अधिक शोधकर्ताओं ने चार वर्षों से न केवल उस गति को मापा है, जिस पर असमानता बढ़ रही है बल्कि इसकी मात्रा भी निर्धारित की है। रिपोर्ट में धन, आय, लिंग और कार्बन उत्सर्जन में असमानता को मापा गया है। पर्यावरणीय दृष्टिकोण से विकास को परिभाषित करने का पैमाना प्राकृतिक संसाधनों के उचित उपयोग और उसके संरक्षण पर निर्भर करता है। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के साथ साथ पर्यावरण संतुलन बनाने के लिए अब ‘हरित विकास’ या ‘ग्रीन-ग्रोथ’ के विचार को बढ़ावा दिया जा रहा है। माना जा रहा है कि इस तरह से हम विकास की जरूरतों को पूरा करने के साथ-साथ प्रकृति के संरक्षण का काम भी कर सकेंगे।

हरित विकास की परिकल्पना की बुनियाद इस बात पर टिकी है कि प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को आर्थिक वृद्धि से अलग रखा जाये। इसका अर्थ यह है कि आर्थिक विकास के लिए हम जिन प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करते हैं, उनकी जगह नए संसाधनों का विकास किया जाये। अर्थात् आर्थिक विकास के लक्ष्य के साथ साथ प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के लक्ष्य भी निर्धारित किए जाने चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि सतत विकास को बढ़ावा दिया जाये।

सतत विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज में उपलब्ध तकनीकी के आधार पर प्राकृतिक संसाधनों का इस प्रकार उपयोग किया जाता है ताकि वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही भावी पीढ़ी की जरूरतों को पूरा किया जा सके तथा संसाधनों की गुणवत्ता भी बनी रहे। इसमें पर्यावरण को हानि पहुँचाए बिना संसाधनों का कुशलतम उपयोग किया जाता है। हरित अर्थव्यवस्था को इसी प्रक्रिया का उत्पाद माना जाता है, जिसमें पर्यावरण पर अर्थव्यवस्था के प्रभाव को ध्यान में रखते हुए सामाजिक एकता और समानता की भावना के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। इस व्यवस्था के तहत उन लोगों की मदद करने पर विशेष जोर दिया जाता है जो जीवन जीने के लिए पूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर हैं और जिनके पास अधिक धन या संसाधन नहीं है। यह विचार हरित न्याय पर आधारित है जिसमें सामाजिक और पर्यावरणीय आंदोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका के साथ ही साथ प्रकृति और अर्थव्यवस्था के बीच सामाजिक न्याय का सिद्धांत भी अन्तर्निहित है। हालाँकि, देखने में यह जितना आसान मालूम पड़ता है इसमें उतनी ही जटिलता व्याप्त है।

हरित अर्थव्यवस्था शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वर्ष 1989 में ब्रिटेन के कुछ पर्यावरणविदों द्वारा वहाँ की सरकार को सतत विकास के सम्बन्ध में सौंपी गई एक रिपोर्ट में किया गया था। अक्टूबर 2008 में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) ने एक हरित अर्थव्यवस्था पहल प्रारम्भ की जिसका उद्देश्य हरित क्षेत्रों में निवेश करने तथा पर्यावरण प्रतिकूल क्षेत्रों को पर्यावरण अनुकूल बनाने हेतु विश्लेषण एवं नीतिगत सहयोग प्रदान करना था। हरित अर्थव्यवस्था बेहतर मानवहित तथा सामाजिक समता स्थापित करती है तथा पर्यावरणीय

खतरों व पारिस्थितिकीय अभावों में कमी करती है। यह निम्न कार्बन, संसाधन कुशल तथा समाजिक रूप से समावेशी है। देखा जाये तो यह निश्चित ही बेहतर और प्रभावशाली अवधारणा है जिसे अमल में लाने हेतु कई विरोधाभासों से जूझना पड़ेगा। अभी तक की मानी और सर्वसाधारण अवधारणा थी कि प्राकृतिक संसाधनों का तेजी से दोहन कर विकास की गति को और भी तीव्र किया जा सकता है। यह अवधारणा ऐसे समाजों के लिए अनुकूल नहीं है जहाँ संसाधनों का असमान वितरण हो। अर्थात् एक ऐसे समाज के लिए जहाँ विषमता उसकी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों क्षेत्रों में विद्यमान हो। साथ ही संसाधनों के अंधाधुंध दोहन से जो पर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न हुई हैं उनको भी दृष्टिगत रखते हुए प्रगति के राह पर आगे बढ़ना है। ऐसे में हरित अर्थव्यवस्था एक बेहतर विकल्प साबित हो सकता है। भारतीय किसान अर्थव्यवस्था की धुरी है। उनका समुचित विकास और सक्रिय भागीदारी से ही इस योजना का सार्थक परिणाम प्राप्त कर सकते हैं। बेरिंगटन मूर (1966) ने तर्क दिया है कि, “भारतीय लोकतंत्र तब तक काम नहीं करेगा जब तक कि अधिकांश किसान उत्पादकों को राजनीतिक जीवन में भाग लेने के लिए आवश्यक बौद्धिक और राजनीतिक संसाधनों की आवश्यकता न हो।”⁶ प्रश्न यह उठता है कि भारत में आर्थिक प्रगति के बावजूद आबादी के गरीब तबके की मजदूरी और आमदनी में इतनी कम वृद्धि क्यों हुई है? यह समझना आसान है। इस मुख्य कारण यह है कि, “सेवा के क्षेत्र में अधिकतम वृद्धि कौशल आधारित क्षेत्रों तक सीमित रही है, न कि पारंपरिक श्रम आधारित क्षेत्रों में। इसने श्रमिकों में ज्यादा शिक्षित वर्ग को अधिक मजदूरी और वेतन कमाने में सक्षम बनाया जबकि अधिकांश श्रमिक कृषि और अन्य क्षेत्रों में फँसे हैं, जहाँ मजदूरी और उत्पादकता काफी कम है और ऐसे ही रहती है।”⁷ एक तरफ श्रमिक और मजदूर मुख्यतः निम्न जातियों के लोगों की आय और दूसरी तरफ उच्च वर्ग की आय में असमानता की खाई बहुत गहरी है। कहा जाये तो, “वास्तव में, जाति ने भारत में श्रम के अनुत्पादक बँटवारे के रूप में नहीं बल्कि- जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने ज्यादा स्पष्टता के साथ कहा- लोगों को लोहे के खाँचों में बाँट कर सामाजिक प्रगति के रस्ते में बड़ा रोड़ा बनने का काम भी किया।”⁸

किसी भी देश के लिए विकास दर को हमेशा ही उच्च स्तर पर बनाए रखना संभव नहीं है। ऐसे में उच्च विकास की दर हासिल करने के लिए कोई ऐसी नीति बनाना संभव नहीं है जिसमें प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को अलग किया जा सके। लेकिन, “यहाँ ये बात समझना भी जरूरी है कि सिर्फ जीडीपी बेहतर करने से समाज का कल्याण नहीं होता। वैसे भी जीडीपी को समाज का कल्याण मापने के सूचकांक के तौर पर ईजाद नहीं किया गया था।”⁹ इसके अन्य सूचकांक के तौर पर जीवन प्रत्याशा और शिक्षा को भी सम्मिलित किया जाता है। अतः लंबी अवधि के लिए किसी भी समाज की खुशहाली और बेहतरी का लक्ष्य हासिल करने के लिए सिर्फ जीडीपी को विकास दर का पैमाना नहीं बनाया जा सकता। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से विकास दर हासिल करने के बजाय दोनों को अलग-अलग करके ‘प्रगति’ को हासिल कर पाना एक दुष्कर प्रयास है। प्रगति में सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों का समावेश होता है। प्रगति हमेशा समाज में सकारात्मक अभिवृद्धि को दर्शाती है। अतः विकास और प्रगति को एक ही खाँचे में सम्मिलित नहीं कर सकते। विकास में आर्थिक गतिविधियाँ तात्कालिक भौतिक लाभ पर आधारित होती है।

हरित विकास की परिकल्पना असल में एक अलंकार है। विकास का रंग वास्तविक रूप में ‘भूरा’ ही होता है। जो प्रदूषण का प्रतीक है। आखिर हम कब तक विकास के उस पथ पर चलेंगे जहाँ इसके परिणामस्वरूप प्रदूषण का सामना करना पड़े। प्राकृतिक संसाधनों के लगातार दोहन से प्राकृतिक पूंजी कम से कमतर होती जाएगी। परिणाम यह होगा कि एक तरफ उत्पादों की कीमत बढ़ेगी तो दूसरी तरफ प्रदूषण हमें बहुत महंगा पड़ेगा। इसका खामियाजा हम हरित क्रांति के दौरान उठा चुके हैं। हरित क्रांति के कारण एक समय तक अंधाधुंध रासायनिक खाद तथा कीटनाशक का प्रयोग, अत्यधिक सिंचाई से हम कुछ फसलों का उत्पादन बढ़ाने में जरूर

सफल हुए लेकिन साथ ही मिट्टी में उर्वरकता की कमी, उसर भूमि का विस्तार, मृदा में लवणीयता तथा कीटनाशकों का भू-जल में प्रवेश तथा जलस्तर का काफी नीचे चले जाना जैसे एक भयावह पारिस्थितिक असंतुलन को जन्म दिया है। हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी भाग और पश्चिमी उत्तर प्रदेश इसके गवाह हैं। हरित क्रांति के हानिकारक सामाजिक और पर्यावरणीय प्रभावों के चलते अब सदाबहार क्रांति की बात की जाने लगी है। इसके तहत यह परिकल्पना की गई है कि उत्पादकता में वृद्धि केवल उन्हीं उत्पादों की होनी चाहिए जो पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित, आर्थिक रूप से व्यवहार्य और सामाजिक रूप से टिकाऊ हो। इस क्रांति में प्रौद्योगिकी विकास और प्रसार में पारिस्थितिकीय सिद्धांतों का एकीकरण शामिल है। पर्यावरणीय संतुलन कायम रखने और विकास की वृद्धि दर को बढ़ाये रखने के लिए हमें नवीनीकरण ऊर्जा के ऐसे संसाधन (सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, जल विद्युत ऊर्जा, महासागरीय ऊर्जा, भूतापीय ऊर्जा, जैव ईंधन, हाइड्रोजन ऊर्जा इत्यादि) विकसित करने होंगे, जिससे प्रदूषण को कम किया जा सके। साथ ही समाज के सभी वर्गों का हरित अर्थव्यवस्था के अनुरूप समावेशीकरण किया जाये ताकि समाज का प्रत्येक तबका इसके विकास में समुचित सहयोग प्रदान कर सके। यह व्यक्तिगत स्तर पर संभव नहीं है। इसे जनसमुदाय स्तर पर लागू किया जाना चाहिए। समाज के एक बड़े हिस्से की सहभागिता को दरकिनार हम एक स्वस्थ एवं खुशहाल भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते।

प्रत्येक समाज के प्रगति का आधार उस समाज की आर्थिक व्यवस्था में होने वाले सतत विकास को ही माना जाता है। विकास का यह क्रम सतत बना रहे इसके लिए हमें अपने प्राकृतिक संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग पर जोर देना होगा। भारत में सतत विकास के लिए सरकार द्वारा अनेक कार्यों, जैसे- वृक्षारोपण एवं सामाजिक वानिकी, कृषि जलवायु प्रादेशीकरण, वाटर शेड प्रबंधन, जनसंख्या स्थिरीकरण, प्राकृतिक संसाधनों का उपयुक्त प्रयोग आदि को क्रियान्वित कर रही है। प्राकृतिक संसाधन के रूप में अपनी मृदा, वन, जल और वायु की गुणवत्ता और उपलब्धता को बढ़ाना होगा तथा उसके संरक्षण के लिए भारतीय संविधान के मौलिक कर्तव्य में उल्लिखित पर्यावरण संरक्षण के प्रति हम सभी को सजग रहना होगा। गरीबी, बेरोजगारी एवं क्षेत्रीय असमानता परस्पर जुड़ी हुई है, इनसे निजात तभी मिल सकता है जब भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार स्तम्भ यानी कृषि के विकास के लिए समेकित नीति केंद्र और राज्य मिलकर तैयार करें। परम्परात्मक समाज में अनेक सामाजिक प्रथाएँ, कुरीतियाँ तथा अन्धविश्वास व्याप्त हैं, जिनका अर्थव्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। लोग बाल-विवाह, मृतक भोज, विवाह पर अनावश्यक खर्च तथा आभूषण निर्माण कर्ज लेकर करते हैं, जो अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव डालते हैं, हमें इस तरह की प्रवृत्ति से बचने की आवश्यकता है। सामाजिक, नैतिक और मानवीय मूल्यों पर ध्यान देना होगा। आदिवासी समूह जो प्राकृतिक रूप से संसाधनों के संरक्षक और पोषक हैं उन्हें वाजिब हक देना होगा। जल, जंगल और जमीन ये सब जनता के अधीन, जैसे सूक्ति वाक्य आम जनमानस का अपने प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम को दर्शाती है। भारत जैसे देश में जहां एक तरफ शिक्षा व राजनीति में गरीब, वंचित, अनुसूचित जाति, जनजाति, अल्पसंख्यकों, महिलाओं को बराबर के अवसर दिए जाने की कवायद है, वही दूसरी तरफ अर्थव्यवस्था में इस बहुसंख्यक आबादी को समान रूप से भागीदार न बनाना एक गंभीर सामाजिक परिणाम को जन्म देंगे जिसका सीधा असर नवाचार, उद्यमशीलता और उत्पादकता लाभ के मामले पर पड़ेगा।

1. डॉ. भीमराव अम्बेडकर, जाति का विनाश, (अनुवाद) राजकिशोर, द मर्जिनालाइज्ड पब्लिकेशन, 2018. पृ. 61.
2. <https://navbharattimes.indiatimes.com/india/india-is-among-the-countries-with-the-highest-inequality-the-top-one-percent-reports-22-percent-of-the-national-income/articleshow/88153028.cms>

3. <https://www.jagran.com/editorial/apnibaat-ncr-serious-effort-needed-to-remove-economic-inequality-in-the-country-22415008.html>
4. <https://www.thehindu.com/opinion/lead/the-cold-truth-about-indias-income-inequality/article38050949.ece>
5. समानता, अध्याय-3. ncert. 2022-23. पृ. 40.
6. Moore Jr, Barrington. 1966. Social Origins of Dictatorship and Democracy: Lord and Peasant in the making of Modern World. Boston: Beacon Press.
7. ज्यां द्रेजे और अमर्त्य सेन, भारत और उसके विरोधाभास, राजकमल पेपरबैक. 2018. पृ. 49.
8. वही : 51.
9. <https://www.orfonline.org/hindi/research/analysis-of-green-growth-and-other-dimensions-in-the-context-of-indias-economic-progress/>



औद्योगीकरण, नदियाँ एवं पेयजल : एक विश्लेषण

○ महेन्द्र यादव

○ राजेश कुमार यादव

बिगत दो-तीन दशकों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो एक बात निकलकर सामने आती है कि जीवन की मूलभूत आवश्यकता अर्थात् पेयजल का बीना किसी रोक-टोक, इस तरह से अंधाधुंध व अव्यवस्थित दोहन हो रहा है कि आने वाले दशकों में एक बहुत बड़ी पेयजल त्रासदी का सामना करना पड़ सकता है। विकास की अन्धी दौड़ में शहरीकरण और औद्योगिकीकरण का समय के साथ दिनों-दिन बढ़ते जाना, बहुत ही जटिल समस्या को जन्म दे रहा है। जिस कारण हमारे आस-पास पाए जाने वाले जलाशयों व तालाबों का अस्तित्व धीरे-धीरे अब समाप्ति की तरफ बढ़ रहा है। बहरहाल तालाबों व जलाशयों के पुनरुत्थान के लिए सरकार ने हर संभव प्रयास किए हैं लेकिन कहीं ना कहीं समाज में जागरूकता की कमी सरकार के प्रयास में रोड़ा बनकर सामने आ जा रही है। परिणामस्वरूप पेयजल की समस्या निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। इस शोधपत्र में पेयजल की समस्या व भविष्य में उसके निदान पर प्रकाश डाला गया है।

पृथ्वी पर जीवन के इतिहास के बारे में पढ़ा जाय या फिर देखा जाय तो जीवन की उत्पत्ति में जल का वैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रोल रहा है। जल ने समुद्र से लेकर नदियों, तालाबों व जलाशयों को भी अस्तित्व प्रदान किया है। मानव जीवन में जो रोल जल या फिर पेयजल का है शायद इतना महत्व किसी और जीवों के लिए न हो। इस धरा पर या फिर मानव शरीर में जैसा कि हम सभी लोग जानते हैं अधिकतर भाग जल का ही है, बावजूद इसके मानव ही नहीं अपितु सभी जीव-जन्तु पेयजल की जटिल समस्या से जूझ रहे हैं। अभी ज्यादा समय नहीं बीता है जब पेयजल की पर्याप्त उपलब्धता थी, लेकिन 7-8 दशक में ऐसा मानव ने क्या कर दिया कि पूरा विश्व परेशान सा हो गया है। जल के वे सारे संसाधन जिससे मानव के अलावा अन्य सभी जीवों का जीवन चक्र सुचारू रूप से संचालित हो रहा था। आज न उसमें जल है और यदि है भी तो वह भी पूरी तरह से दूषित हो चुका है जिससे उसमें व उसके आस-पास पाये जाने वाला जीवन भी पूरी तरह समाप्ति की ओर बढ़ चला है। बिडम्बना यह है कि बावजूद इसके मानव जो इसके लिए पूर्णतया जिम्मेदार है कुछ भी समझने को तैयार नहीं है।

आजादी के बाद हमने औद्योगिक विकास तेजी से किया है जिससे देश में हर छोटे-मोटे सामानों की उपलब्धता सुलभ हुई है। औद्योगिकीकरण के अव्यवस्थित विकास ने उपलब्ध सतही व भूमिगत जल के लगभग 70 प्रतिशत भाग को काफी हद तक बुरी तरह प्रभावित किया है। एक तरफ जहाँ उद्योग-धन्धों ने भूमिगत पेयजल का मनचाहा दोहन किया है तो वहीं पे सतही पेयजल को आवश्यकता से अधिक दूषित भी किया है। विकास के लिए औद्योगिकीकरण हर एक देश के लिए जरूरी है पर साथ में इसके नाकारात्मक पक्ष को भी ध्यान में रखना आज बेहद जरूरी है। भूजल विशेषज्ञों का एक अनुमान है कि जहाँ आजादी के समय देश में

प्रति व्यक्ति लगभग 5277 धनमीटर जल उपयोग हेतु उपलब्ध था वह मात्रा आज के समय में मात्र 1869 धनमीटर लगभग रह गयी है।¹ हमारी विडम्बना यह है कि काश हम वर्षा के जल का सही ढंग से संरक्षण कर पाते तो शायद ये नौबत हमारे सामने न आती। बहरहाल अब भी समय है अगर जल संरक्षण पर ध्यान दिया जाय तो समस्या को कम किया जा सकता है।

नदियों का अस्तित्व जल से ही बचा रह सकता है, और यह जल ही है जो नदियों में पाये जाने वाले हर एक जीव को जीवन प्रदान करता है या फिर यूँ कह लें कि उनके जीवन के लिए एक पारिस्थितिकी तंत्र का आधार बनता है चाहे वह छोटा हो या फिर बड़ा। बिगत कुछ वर्षों से यह देखा जा रहा है कि नदियों के जल की शुद्धता में बेहद गिरावट देखी जा रही है। ये गिरावट इस हद तक हो गयी है कि जल में जीवन यापन के लिए हर रोज संघर्ष से दो चार होना पड़ता है। नदियों के किनारे पाये जाने वाले पेंडू-पौधे व वनस्पतियाँ भी प्रदूषित जल के कारण विकास नहीं कर पा रही हैं जिससे इस पर निर्भर रहने वाले जीवों का जीवन कठिनाईयों से बमूश्किल चल पा रहा है। प्रदूषण के कारण नदियों के आस-पास की उपजाऊ मिट्टी की गुणवत्ता दिनों-दिन कम होती जा रही है जिस कारण फसलों के लिए उपजाऊ क्षेत्र कम हो गया है। इसके पीछे भी ध्यान से देखा जाय तो कहीं ना कहीं इसके लिए अव्यवस्थित औद्योगिकीकरण ही जिम्मेदार नजर आता है।

मानव की बढ़ती आबादी, औद्योगिकीकरण, अनियोजित व अवैज्ञानिक विकास ने हमारी नदियों को बड़े पैमाने पर प्रदूषित किया है। मानव इतिहास पर अगर हम दृष्टि डालें तो यह देखा जा सकता है कि जब मानव सभ्यता में औद्योगिकीकरण इतने बड़े पैमाने पर नहीं था तब सभी जीवों के लिए जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। भारत देश के मानचित्र पर अगर नजर डाली जाय तो ये सहज ही देखा जा सकता है कि इस देश में चारों तरफ नदियों का जाल बिछा है जो प्रायः पर्वतों से निकलती हैं। इनके जल संसाधन का बहुत बड़ा हिस्सा देश की जनसंख्या को जीवन के हर स्तर पर मिलता है। एक अनुमान के अनुसार भारत देश में लगभग 113 स्वतन्त्र नदियाँ हैं और हजारों इनकी सहायक नदियाँ हैं। जहाँ तक देखा जाय तो कुल जलग्रहण क्षेत्र के 82 प्रतिशत से अधिक जलग्रहण भाग में बड़ी नदियों का योगदान है तथा शेष में मध्यम वर्ग की नदियाँ का है।² बड़ी नदियों में गंगा, ब्रह्मपुत्र एवं सिन्धु विशेष तौर पर जानी जाती हैं जो हिमालय से निकलती हैं। इनके अलावा अन्य नदियों को प्रायद्वीपीय के नाम से जाना जाता है। किसी भी नदी के आस-पास, मानव समाज की हर एक गतिविधि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कहीं ना कहीं नदी की गुणवत्ता को प्रभावित करती है। इसकी अनदेखी से नदी का पारिस्थितिकीय तंत्र असंतुलित होना स्वाभाविक है, जो मानव व जलीय जन्तु के लिए शुभ लक्षण नहीं है।

भारतीय समाज व संस्कृति में नदियों को प्रायः श्रद्धा और सम्मान के साथ देखा जाता है, परन्तु वास्तव में नदियों में प्रदूषण की स्थिति दिनों दिन बड़ी ही भयावह होती जा रही है। प्रदूषण का मुख्य कारण बढ़ता हुआ शहरीकरण, पानी की कमी, उद्योग-धन्धे, भूक्षरण आदि प्रमुख रूप से काफी हद तक जिम्मेदार है। अमूमन नदी के किनारे बसे शहरों के कारण इस क्षेत्र में नदी का हिस्सा अत्यधिक प्रदूषित होता है क्योंकि शहरों से निकलने वाले दूषित जल एवं कचरे को बीना ही शोधित किये इन्हें सीधे नदियों में प्रवाहित कर दिया जाता है। जहाँ तक सवाल नदियों के किनारे बसे गाँवों व कस्बों के लोगों का है तो इनके द्वारा भी नदी का उपयोग नहाने, कपड़े धोने, पशुओं को नहलाने तथा ढेरों धार्मिक क्रियाकलापों में किया जाता है, ये सभी गतिविधियाँ नदियों के प्रदूषण को बढ़ाने के लिए एक तरह से जिम्मेदार हैं। वैसे तो नदियों में स्वयं शुद्धिकरण की प्रक्रिया पायी जाती है किन्तु वाहनों में प्रयोग किये जाने वाले पेट्रोल, डिजल, मोबिल ऑयल और कल-कारखानों में प्रयोग में आने वाले विभिन्न प्रकार के ऑयल किसी ना किसी रूप में दूषित जल के साथ नदियों में प्रवाहित होते रहते हैं जो शुद्धिकरण की प्रक्रिया को बाधित करते हैं। एक अनुमान के अनुसार प्रथम श्रेणी व द्वितीय श्रेणी के बड़े व छोटे शहर प्रतिदिन लगभग 3,40,000 लाख लीटर तरल अपशिष्ट उत्सर्जित करते हैं, जबकि

तरल अपशिष्ट शोधन की क्षमता देश में महज 70,000 लाख लीटर है, जो आवश्यकता से बहुत कम है, जिसमें समय के साथ सुधार बेहद जरूरी है, अन्यथा यह मानव के साथ-साथ अन्य जीवों के जीवन के लिए भी कहीं से उपयुक्त नहीं होगा।³

मानव समाज के सतत् विकास व उत्थान पर दृष्टि डाली जाय तो यह बात निकलकर सामने आती है कि इसमें नदियाँ एक आवश्यक भूमिका अदा करती हैं। इस पहलू पर विचार करते हुए भारत सरकार में 2014 में 'नमामि गंगे योजना' की शुरुआत की, जिसका मुख्य उद्देश्य गंगा नदी को प्रदूषण मुक्त करना है। इसी क्रम में 2022 में प्रधानमंत्री नमामि गंगे योजना भी शुरू की गयी, जिसका मुख्य लक्ष्य ग्रामीणों की सक्रिय भागीदारी के माध्यम से गंगा तट पर बसे गाँवों के सम्पूर्ण विकास के लिए एकीकृत दृष्टिकोण को अपनाना। ग्रामीण क्षेत्रों की नालियों से आने वाले ठोस व तरल अपशिष्ट का शोधन और शौचालयों का निमार्ण, शवदाह गृह का नवीनीकरण ताकि अधजले या आंशिक रूप से जले हुए शव को नदी में बहाने से रोका जा सके।

केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के द्वारा जारी नवीनतम आकड़ों के अनुसार भारत देश की नदियों के अत्यधिक रूप से प्रदूषित खंडों की संख्या 302 (वर्ष 2016) से बढ़कर 351 (वर्ष 2018) हो गयी है। जहाँ तक सरकार का सवाल है तो सरकार ने नमामि गंगे, यमुना रिवर एक्सन प्लान जैसी योजनाओं पर पर्याप्त मात्रा में धन व्यय किया है और सतत् इस दिशा में आगे भी बढ़ रही है। बावजूद इसके, अपेक्षित सफलता अभी हाथ नहीं लग पायी है। इसके पीछे का कारण सरकार को जितना सहयोग लोगों का मिलना चाहिए था उतना नहीं मिला। उम्मीद है कि समय के साथ लोगों में प्रदूषण के प्रति जागरूकता पैदा होगी और देर सबेर ही सही सरकार इस दिशा में सफल होगी। जहाँ तक मानव व अन्य जीवों के स्वास्थ्य का है तो नदी प्रदूषण के कारण टाइफाइड, हैजा जैसी तमाम संक्रामक रोग होते हैं, साथ ही साथ इसके कारण नदियों का जल भी उपयोग के लिए हर तरह से अनुपयुक्त हो जाता है। आज कल जिस तरह से देशों में औद्योगिकीकरण तेजी से पांव पसार रहा है इससे निष्कासित विषाक्त रसायन व धातुओं (पारा, शीशा व कैडमियम) का भी मानव व समुद्री जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

पेयजल समस्या एक वैश्विक समस्या के रूप में विश्व के हर एक समाज के सामने वर्तमान में दिखाई दे रही है। यह पूरे मानव समाज के लिए दिनों दिन चुनौती बनती जा रही है। इसे देखते हुए 1971 में आर्जेन्टीना में किया गया सम्मेलन में 1981-90 को अन्तरराष्ट्रीय जल आपूर्ति एवं स्वच्छता दशक के रूप में मनाये जाने का फैसला किया गया और साथ ही साथ 1990 तक विकासशील देशों की लगभग दो अरब जनसंख्या, जो पेयजल की मूलभूत समस्या से हर रोज जूझ रही है, को पेयजल उपलब्ध कराने का कार्यक्रम तैयार किया गया। जल हो या फिर पेयजल अपनी उपयोगिता के कारण जीवन के हर एक भाग में मौजूद है।⁴ इसलिए लोगों को 'जल ही जीवन है' कहते हुए अकसर देखा जा सकता है। पृथ्वी के लगभग 70 प्रतिशत भाग पर जल फैला हुआ है; जैसा कि हम सभी जानते हैं, और ये भी देखा जा सकता है कि मानव शरीर का लगभग 70 प्रतिशत भाग जल का ही है।⁵ शरीर में जल की कमी के कारण मानव के अलावा अन्य जीव भी अनेक प्रकार की गंभीर बीमारियों से ग्रसित हो जाता है। स्वस्थ जीवन के लिए कहीं ना कहीं शुद्ध जल अहम रोल अदा करता है। कोई भी मौसम क्यों ना हो पर जल या पेयजल के बीना जीवन संभव नहीं होगा।⁶

एक रिपोर्ट के अनुसार विकासशील देशों के कस्बों व गाँवों में लगभग 80 प्रतिशत लोग ऐसे हैं, जिन्हें कहीं से भी शुद्ध और स्वच्छ पेयजल उपलब्ध नहीं है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की सूचना के अनुसार शुद्ध व स्वच्छ पेयजल की सर्वाधिक कमी दक्षिण अफ्रिका में है; जबकि, पश्चिम एशिया के विकासशील देशों में थोड़ी राहत की बात जरूर दिखाई देती है। आज एक तरह से देखा जाय तो पूरे विश्व पर पेयजल की कमी का संकट मंडरा रहा है। कहीं भू-जल के गिरते स्तर के रूप में तो कहीं सूखते तालाबों, नदियों और झीलों के रूप में।

इसका मुख्य कारण जल का इन श्रोतो से भारी मात्रा में अव्यवस्थित रूप से सतत दोहन किया जाना।

औद्योगिकीकरण विकास के इस दौर में एक अहम पहलू है जो किसी भी देश के विकास की दिशा तय करता है। रोजगार के अवसर प्रदान करने के साथ ही साथ जीवन की हर एक छोटी-मोटी आवश्यकता की पूर्ति भी करता है। लेकिन उद्योग-धंधों का वर्तमान में जिस प्रकार से चारों तरफ एक जाल सा फैल रहा है इससे कहीं ना कहीं आस-पास के क्षेत्र प्रभावित होंगे, प्रदूषण से लोगों का जीवन स्तर प्रभावित होगा। तरह-तरह के रोगों से जीवन को हर कदम पर जूझना होगा। जरूरत इस बात की है कि समय रहते उद्योग-धंधों को सही ढंग से और सही जगह पर स्थापित किया जाय। इससे आस-पास के जल संसाधन व नदियाँ प्रदूषित नहीं होंगी, इससे जल संसाधनों का जल स्वच्छ व पेयजल योग्य बना रहेगा। जिससे मानव के अलावा अन्य जीवों का भी जीवन सामान्य और निरोग होगा।

संदर्भ :

1. पर्यावरण विज्ञान के विविध आयाम, डॉ. दयाशंकर त्रिपाठी, 2013.
2. इकोलॉजी और इन्वायरमेन्ट, आर. एन. भार्गव, वी. राजाराम, 2016.
3. नया ज्ञानोदय (विशेषांक), बिन पानी सब सून, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 2004.
4. इन्वायरमेंटल पॉल्यूशन एण्ड प्लांट रिस्पान्सेज, एस. बी. अग्रवाल एण्ड एम. अग्रवाल, 1999.
5. बायोडाइवर्सिटी एण्ड इन्वायरमेंटल कन्जर्वेशन, एम. डेविड, 2007.
6. वॉटर पॉलूशन, कारण, प्रभाव व नियंत्रण, पी.के. गोयल, 2006.



पंचायती राज व्यवस्था एवं ग्रामीण विकास

○ सर्वेश कुमार सिंह

प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने भारत के ग्रामीण विकास में नागरिकों की सहभागिता के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम सन् 1952 में प्रारम्भ किया। किन्तु यह कार्यक्रम सरकारी तन्त्र तथा जनता के बीच की दूरी कम करने में असफल रहा। इस कार्यक्रम की असफलता की जाँच हेतु बलवन्त राम मेहता की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गयी। इस समिति ने सन् 1957 के अन्त में अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के सफल बनाने हेतु पंचायती राज संस्थाओं की तुरन्त शुरुआत की जानी चाहिए। अध्ययन दल ने इसे लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का नाम दिया।

1. ग्राम स्तर पर ग्राम सभा, ग्राम पंचायत तथा न्याय पंचायत
2. ब्लॉक स्तर पर पंचयत समिति
3. जिला स्तर पर जिला परिषद्

भारत में जमीनी स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत करने में पंचायती राज संस्थाओं की अहम भूमिका रही है। संविधान के 73वें संशोधन के जरिये इन संस्थानों के लिए मजबूत बुनियाद तैयार की गयी है। इसके तहत पंचायती राज संस्थाओं के रूप में स्थानीय स्तर पर नागरिकों की भागीदारी सुनिश्चित की गई है।

ग्राम सभा के तहत, गाँवों में फैसले लेने की प्रक्रिया में वहाँ के नागरिकों की सीधी भागीदारी की सुविधा उपलब्ध कराई गई है। यह नागरिकों के लिए सार्वजनिक मंच है जहाँ वे अपनी समस्या के बारे में विस्तार से बता सकते हैं। साथ ही यहाँ पर स्थानीय समुदाय अपनी आकांक्षाओं के बारे में बात कर सकते हैं। ग्राम सभा के कामकाज में भी चुनौतियाँ देखने को मिली हैं और यहाँ नियमितता एवं पारदर्शिता का अभाव नजर आता है। न्यूनतम भागीदारी, ग्राम सभा की बैठकों में अनियमितता, बेहतर कार्य सूची का अभाव जैसी गड़बड़ियाँ आदि वजहों से ग्राम सभा का संचालन प्रभावकारी तरीके से नहीं हो पाता है। कई मामलों में ऐसा देखा गया है कि गाँवों में रहने वाले कमजोर तबके के लोग खुलकर अपनी राय नहीं रख पाते हैं। ग्राम पंचायत के निर्वाचित प्रतिनिधि, खास तौर पर सरपंच अपने अधिकारों का मनमाना इस्तेमाल करते हैं, जिसकी वजह से ग्राम सभाओं में उनकी आलोचना नहीं हो पाती। इस तरह अक्सर ग्राम सभा की भूमिका महज एक सांकेतिक मंच के तौर पर सिमट कर रह जाती है।

ग्राम पंचायतों को प्रभावी बनाने के लिए नियमित स्तर पर ग्राम सभाओं की बैठक बुलाना जरूरी है। साथ ही पंचायतों को मजबूत बनाने के लिए स्थानीय स्तर पर ग्राम सभाओं की स्वयत्तता भी आवश्यक है। वित्त आयोग द्वारा आवंटित समग्र अनुदान का इस्तेमाल पंचायतों से जुड़ी विभिन्न जरूरतों के लिए किया जा सकता है। इस तरह की स्वायत्तता को मजबूत बनाने की दिशा में यह अहम कदम है। पंचायती राज मंत्रालय, राज्यों में मौजूद पंचायती राज से जुड़े संस्थाओं के फण्ड, काम-काज आदि के विकेन्द्रीकरण की दिशा में काम कर रहा है। मंत्रालय का मकसद ज्यादा से ज्यादा विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ ग्राम सभाओं का सशक्तीकरण भी है। इसके तहत ग्राम सभाओं को जरूरी संसाधन मुहैया कराये गये हैं ताकि वे सही ढंग से अपना कार्य कर सकें। पंचायती

राज मंत्रालय ने ग्राम सभाओं की भूमिका को पहचानते हुए राज्य स्तर पर मौजूद पंचायती राज विभागों के प्रतिनिधियों के साथ बातचीत की है, ताकि ग्राम पंचायतों के लिए जमीनी स्तर पर मौजूद चुनौतियों को समझा जा सके। इस सिले में राज्यों की चुनौतियों को देखते हुए प्रदेशों को ये सुझाव पेश किये गये हैं।

1. ग्राम सभाओं का नियमित आयोजन सुनिश्चित करना :

ग्राम पंचायतों को नियमित तौर पर ग्राम सभा की बैठकों का आयोजन करना चाहिए। पंचायतों को हर साल कम से कम 6 से 12 ऐसी बैठकों का आयोजन करना चाहिए।

2. एजेंडा तैयार करना और उसका वितरण :

ग्राम सभाओं की बैठक से पहले हमें उसका कार्यसूची तैयार किया जाना चाहिए और इसमें पिछले बैठक से जुड़े पहलुओं और कार्रवाई रिपोर्ट, ग्राम पंचायत विकास योजना की मंजूरी आदि को शामिल किया जाना चाहिए।

3. सालाना कैलेंडर तैयार करना :

ग्राम सभाओं की बैठक के लिए राज्य के सभी ग्राम पंचायतों को एक कैलेंडर तैयार करना चाहिए। इस तरह का कैलेंडर बनाने से सभी ग्राम सभाओं में सालाना कार्यक्रम से जुड़ी जानकारी मुहैया कराने और बैठकों के लिए बेहतर तैयारी करने में मदद मिलेगी।

4. बैठक के लिए अनुकूल समय :

ग्राम सभाओं की बैठक का समय ग्रामीण आबादी के लिए अनुकूल होना चाहिए ताकि बड़ी संख्या में लोग इसमें पहुँच सकें।

5. ग्राम सभाओं में लोगों की भागीदारी बढ़ाना :

ग्राम सभाओं में सभी सक्षम नागरिकों की मौजूदगी सुनिश्चित करने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। ग्राम सभाओं की बैठक में कम से कम 10 प्रतिशत महिला और 30 प्रतिशत पुरुषों की मौजूदगी जरूरी है।

6. निर्वाचित सदस्यों को प्रोत्साहन :

ग्राम पंचायतों के सभी निर्वाचित सदस्यों को उपसमितियों का सदस्य बनाया जाना चाहिए। साथ ही हर वार्ड सदस्य को दो से ज्यादा उपसमितियों का सदस्य नहीं बनाया जाना चाहिए।

ग्राम विकास में पंचायती राज व्यवस्था का योगदान :

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात पंचायतों के पुनर्गठन के पीछे सत्ता के विकेंद्रीकरण का विचार एवं ग्रामवासियों को अपना विकास स्वयं करने के लिए व स्वयं निर्णय लेने योग्य बनाना हे। ऐसा अनुभव किया गया कि इन दृष्टिकोणों से पंचायती राज ग्रामीण विकास एवं ग्रामीण पुनर्निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. शिक्षा का विकास:

ग्राम समाज में शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करना तथा ग्रामवासियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना ग्राम पंचायतों का मुख्य कार्य है।

2. स्वास्थ्य व्यवस्था:

ग्रामीण पंचायतों का एक और महत्वपूर्ण कार्य ग्रामवासियों के लिए शुद्ध पेयजल की व्यवस्था करना तथा प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध करना है, जिससे ग्रामवासियों के स्वास्थ्य स्तर को उन्नत बनाया जा सके।

3. कृषि सुधार :

ग्राम पंचायतों का महत्व इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि ये न केवल ग्रामवासियों का कृषि की आधुनिक एवं नवीन पद्धतियों से परिचित कराती हैं, वरन् उन्हें कृषि की आधुनिक पद्धतियों से कृषि कार्य करने के लिए

प्रेरित भी करती है।

4. लघु उद्योगों की स्थापना :

ग्रामीण समाज के आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से ग्राम पंचायतें गांवों में लघु उद्योगों को स्थापित करने के लिए विकसित प्रौद्योगिकी से ग्रामवासियों को परिचित कराता है तथा उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित भी करती है।

5. पशुपालन :

पशुपालन ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है। ग्राम पंचायतें उन्नत नस्ल के पशुओं की व्यवस्था करती है। इसके लिए कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों की स्थापना तथा पशु खरीदने के लिए ऋण की भी व्यवस्था करती है।

6. भूमिहीन कृषकों की समस्या का निराकरण :

ग्रामीण समाज में अनेक ऐसे लोग भी निवास करते हैं जिनके पास कृषि योग्य भूमि का नितान्त अभाव होता है। ऐसे लोगों के लिए आय की व्यवस्था करना इन पंचायतों का प्रमुख कार्य होता है।

7. मातृत्व तथा बाल-कल्याण :

ग्राम पंचायतों का एक महत्वपूर्ण कार्य गर्भवती महिलाओं के लिए समुचित चिकित्सा व्यवस्था करना है। इसके अतिरिक्त शिशु कल्याण के लिए टीकाकरण आदि की व्यवस्था भी करना।

8. सामाजिक कुरीतियों का निराकरण :

भारतीय ग्रामीण समाज अनेक प्रकार की कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों से ग्रस्त है, जैसे बाल-विवाह, दहेज प्रथा, नशा, पर्दाप्रथा, बालक तथा बालिका में भेदभाव करना आदि। ग्राम पंचायत इनके निराकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं

9. सार्वजनिक कल्याण कार्य :

सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से ग्राम पंचायतें अनेक महत्वपूर्ण कार्य करती हैं-

क) पेयजल की व्यवस्था

ख) मनोरंजन के साधनों (मेले, खेलकूद, प्रदर्शनियाँ आदि) का प्रबंध।

ग) प्राकृतिक प्रकोपों की रोकथाम में सहायता।

घ) चिकित्सा सुविधायें व सामाजिक स्वास्थ्य में सुधार।

ङ) यातायात के साधनों का विकास।

सामाजिक न्याय के क्षेत्र में पंचायतें अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। पंचायतों द्वारा अस्पृश्यता जातिवाद और शोषण से मुक्ति निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं। कमजोर वर्गों को सुरक्षा प्रदान करने में भी ग्राम पंचायतें प्रभावशाली भूमिका निभा रही हैं। ग्रामवासियों में राजनीतिक तथा प्रजातांत्रिक चेतना जाग्रत करने में पंचायती राज संस्थाओं का अपूर्व योगदान रहा है।

सहायक सामग्री :

1. प्रतियोगिता दर्पण, अर्थशास्त्र विशेषांक
2. योजना, नवम्बर 2021
3. दैनिक समाचार पत्र-दैनिक जागरण
4. भारत 2021 ईयर-बुक
5. विवास पैनोरमा समसामयिक, 2021
6. भारत का संविधान, दुर्गादास बसु
7. भारतीय अर्थव्यवस्था, दन्त एवं सुन्दरम्



लैंगिक भेदभाव को खत्म करने में अहम भूमिका निभा सकते हैं खेल

○ सौरभ सिंह

भारत एक ऐसा देश है जहाँ प्राचीन काल में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर दर्जा प्राप्त था। वह विभिन्न विधाओं, जिन्हें अब खेलों के रूप में जाना जाता है, को प्राप्त करती थीं और उनमें पारंगतता हासिल करती थीं। लेकिन समय के साथ बाहरी देशों के हमलों और बढ़ती सामाजिक कुरीतियों के चलते महिलाएँ घर की चहारदीवारी तक सीमित हो गयीं। ब्रिटिश राज में महिलाओं की खेलों में भागीदारी थोड़ी बहुत बढ़ी लेकिन बेहतर अवसर महिलाओं को आजादी के बाद ही प्राप्त हुए। स्वतंत्रता के पश्चात् महिलाओं की खेलों में भागीदारी को बढ़ाने के लिए बहुत सी योजनाओं का शिलान्यास हुआ। बदलाव की लहर चली, ग्रामीण परिवेश की महिलाएँ जैसे कि पी.टी. उषा, मीराबाई चानू, मेरी काम, गीता फोगाट, दीपिका कुमारी इत्यादि खेल जगत का अभिन्न हिस्सा बनीं। इन्होंने परिस्थितियों के विपरीत जाकर सफलता प्राप्त की और आज के समाज में पुरुषों से कन्धा से कन्धा मिला कर और लाखों ग्रामीण महिलाओं को प्रेरित किया।

बेशक ये महिलाएँ अपने-अपने खेल की बेजोड़ खिलाड़ी हैं, क्योंकि इन्होंने समाज की दकियानूसी सोच का पहाड़ पार कर लिया है। ऐसी सोच जो लड़कियों की जिंदगी सिर्फ चूल्हे और घर में सीमित कर दिया करती थी। यूं तो ओलंपिक खेलों में हर साल महिला खिलाड़ियों की भागीदारी बढ़ रही है, जो एक अच्छी बात है लेकिन जब अपने आस-पास के गांव में लड़कियों को खेल-क्षेत्र में बढ़ावा देने या उनकी भागीदारी का हिस्सा लेने की बात हो तो ओलंपिक में खेलती ये महिला खिलाड़ी किसी और ग्रह की लगने लगती हैं। इसे आप मेरी सीमित समझ भी कह सकते हैं, लेकिन मैं ये बात अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ

खेल के मैदान में भी हावी है लैंगिक असमानता

इस पितृसत्तात्मक समाज में हर छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी चीज लिंग के आधार पर वर्गीकृत है। कपड़े और रंग से लेकर ऑफिस या घर के काम से लेकर उठने, बैठने, चलने, बात करने आदि का तरीका भी लैंगिक आधार पर ही बंटा हुआ है। लिहाजा खेल भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं है। क्रिकेट और फुटबॉल जैसे खेलों को लड़कों का खेल मानना और खो-खो जैसे खेल को लड़कियों के लिए निर्धारित करना इसी लैंगिक असमानता की उपज है।

भारत एक ऐसा देश है, जहाँ पुरुष क्रिकेट को एक धर्म माना जाता है। बाकी खेलों को क्रिकेट जितनी तवज्जो नहीं मिलती। न तो खेल मंत्रालय से ही और न ही आम लोगों से। स्कूल और जिला जैसे जमीनी स्तर पर भी यही हाल है। स्थिति तब और ज्यादा खराब हो जाती है जब महिलाओं के खेल की स्थिति पर नजर डालें। महिलाओं को न तो खेल में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और न ही उनके लिए खेल आयोजित होते हैं। खेलों में जाने से पहले समाज को सबसे पहले उनके 'रंग-रूप' और 'चेहरा काला हो गया

तो शादी कैसे होगी' की ही चिंता सताती है। इन सबके बावजूद आज अगर हम भारत में महिलाओं के खेल की स्थिति पर नजर डालें तो वे बेहतरीन प्रदर्शन कर रही हैं। ऐसे में उन सभी महिला खिलाड़ियों का समाज की रूढ़िवादी सोच से आगे जाकर खेल को अपना करियर बनाना मात्र ही उन्हें तारीफ का हकदार बना देता है क्योंकि यकीन मानिए हमारे समाज में ऐसा करने के लिए नाते-रिश्तेदार, पड़ोसियों तक से तो क्या परिवार से भी लड़ना पड़ता है।

मिताली राज, रानी रामपाल, पीवी सिन्धु, दीपा कर्माकर, मैरी कौम, सान्या मिर्जा, हरमनप्रीत कौर, गीता फोगाट, साईना नेहवाल, शिरीन लिमाय, हिमा दास, दुती चंद, झूलन गोस्वामी जैसे अनेक नाम आज अलग-अलग खेल में भारत का सिर ऊंचा किए हुए हैं। मिताली जहाँ विश्व की सबसे सफल महिला क्रिकेटर्स में से एक हैं। वहीं सिन्धु 2016 के रियो ओलंपिक्स में सिल्वर मेडल जीतने के बाद टोक्यो ओलंपिक्स 2021 में भारत की तरफ से गोल्ड मेडल की सबसे बड़ी दावेदार थीं। मगर आज भी स्थिति ये है कि अखबारों के स्पोर्ट्स पन्ने का ज्यादातर हिस्सा या तो पुरुष क्रिकेट की खबरों से पटा पड़ा रहता है और या फिर अन्य पुरुष खिलाड़ियों को मिलता है। महिला खिलाड़ियों या उनके खेल को 'अन्य' में ही जगह मिलती है।

ये सभी खिलाड़ी, जहाँ वैश्विक स्तर पर भारत का सिर ऊंचा किए हुए हैं, वहीं देश के अंदर इनका बुरा हाल है। इस बात को नजरंदाज नहीं किया जा सकता कि खेल में अपना भविष्य बनाने को उत्सुक लड़कियों और उनके परिवार को वित्तीय नजरिए से खेल में अस्थिर और अप्रत्याशित लगता भविष्य उनके कदम पीछे खींचता है। जहाँ पुरुष क्रिकेट में अथाह पैसा निवेश किया जाता है, वहीं महिला खिलाड़ियों को उसके आधे पैसे भी नसीब नहीं होते। फिर चाहे वह महिलाओं का क्रिकेट ही क्यों न हो। देश के लिए मेडल लाने के लिए साल भर जी तोड़ मेहनत करते इन सभी खिलाड़ियों को इतनी मेहनत के बाद भी नौकरी करनी पड़ती है और वह भी जब वे खोजने निकलती हैं तो उसके लिए भी कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है और सबसे बड़ा धक्का तो तब लगता है जब खेल कोटा से पढ़ाई करने वाले या खेल कोटा से नौकरी पाने वाले लोगों पर 'कम डिजर्विंग' होने का लांछन लगता है।

बीबीसी द्वारा 2020 में 14 राज्यों में कराए गए एक सर्वे के अनुसार जिन 10,181 लोगों ने सर्वे में भाग लिया था उनमें से 42 लोगों का मानना था कि महिलाओं के खेल पुरुषों जितने 'मजेदार' नहीं होते। चेहरे की 'सुंदरता' और बच्चे जनने की क्षमता पर सवालिया निशान तो ये समाज अनिवार्य रूप से लगाता ही है। इस सर्वे में भी यह सवालिया निशान सहज ही लगा। इस सर्वे ने लोगों के बीच प्रसिद्ध खिलाड़ियों का नाम भी जानने की कोशिश की और जो परिणाम आया वह चौंकाने वाला नहीं था। मगर हां, दुर्भाग्यपूर्ण जरूर था। जब लोगों से किसी भी एक खिलाड़ी का नाम पूछा गया तो रिटायर हो जाने के बावजूद सचिन तेंदुलकर का नाम सबसे ज्यादा लोगों की जुबान पर था। जो दुर्भाग्यपूर्ण था वो ये कि बीबीसी द्वारा सर्वे किए गए लोगों में से 50 लोग एक भी महिला खिलाड़ी का नाम नहीं बता सके।

हालांकि, 18 लोगों ने यह सवाल पूछे जाने पर मशहूर टेनिस खिलाड़ी सानिया मिर्जा का नाम लिया। साइना नेहवाल और पीवी सिन्धु के बाद पीटी उषा लोगों की जुबान पर थीं। बीबीसी के सर्वे में यह भी पाया गया कि सर्वे में शामिल लोगों का एक तिहाई हिस्सा ऐसा भी था जिसने कबड्डी, कुश्ती, मुक्केबाजी, भारोत्तोलन, एथलेटिक्स जैसे खेलों को महिलाओं के लिए 'अनुपयुक्त' बताया। यह सर्वे भारत में महिला खेलों के अप्रचलित होने की सभी निराधार और पितृसत्तात्मक वजहें भी साफ दिखाता है। ऐसे में तथाकथित 'अनुपयुक्त' खेलों में वैश्विक स्तर पर महिलाओं का सफल प्रदर्शन इन सभी रूढ़िवादी सोच और परंपराओं को टेंगा दिखाता है। खेल न सिर्फ स्वास्थ्य के लिए जरूरी है बल्कि व्यक्तित्व विकास का भी एक अभिन्न अंग है। इसलिए आज महिलाओं के विकास के लिए उन्हें न सिर्फ पढ़ाई में बल्कि साथ-साथ खेल में भी आगे बढ़ने के लिए

प्रोत्साहित करने की जरूरत है। इस बात पर जोर देने की जरूरत है कि न तो उनके जीवन का लक्ष्य उनकी शादी हो सकता है और न ही चेहरे या फिर त्वचा का रंग उनकी शादी का मापदंड ही बन सकता है।

लैंगिक समानता के लिए जरूरी है महिला खिलाड़ियों को बढ़ावा देना

मुहल्ले की गली में लड़कियों को छुआछुई तो कभी केवल झित-कित्ता खेलते देखता। मुझे लगा कि लड़कियों के लिए यही घर-घर, गुड़िया का खेल और छुआछुई ही है। वे उन खेलों के लिए नहीं बनीं, जिनमें अधिक शारीरिक बल लगता हो। शायद इसीलिए वे कभी पेशेवर खिलाड़ी एक प्रोफेशनल एथलीट नहीं बन सकती। एक पहले से हमारे अंदर पूर्वग्रह बन गया है कि लड़कियाँ खेलने के लिए नहीं बनीं। वे कोमल हैं और चोट के कारण अगर उनके शरीर में दाग हो गया तो उनका भविष्य खराब हो जाएगा, कोई उनसे शादी नहीं करेगा और भी न जाने क्या-क्या।

पितृसत्ता को बरकरार रखने, खुद को श्रेष्ठ और सत्ता के करीब रखने के लिए पुरुष कभी भी खेलों के माध्यम से भी महिलाओं को आत्मनिर्भर नहीं होने देते। स्त्री की जिंदगी केवल पुरुष के इर्द-गिर्द बना दी गई है। हम कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाली और खेलने वाली लड़कियाँ देखना ही नहीं पसंद। इसीलिए क्योंकि हम खेल के मैदानों में पुरुष को ही देखने के आदी हो चुके हैं।

प्राचीन ओलंपिक खेलों के वक्त महिलाओं के लिए ओलंपिक शुरू होने से पहले महिला एथलीट्स की प्रतियोगिता होती। विश्वभर में कई नारीवादी आंदोलनों ने सामाजिक परिवर्तन लाया, जिसने पुरुषों के साथ समाज में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा दिया। जिसके बाद महिलाएँ भी खेलों में आईं। पर भले ही हमने खेलों में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा दिया, लेकिन हमने अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में इसपर कोई काम नहीं किया। हमने कभी पितृसत्ता की जड़ें नहीं काटी जो महिलाओं को खेलों में आने से रोकते हैं। इसका जीवंत उदाहरण है भारतीय महिला क्रिकेट टीम की खिलाड़ी शेफाली वर्मा, जिन्हें क्रिकेट की प्रैक्टिस करने के लिए लड़का बनना पड़ा। यह सच है कि हम हमेशा अखबार के खेलों के सेक्शन में बड़ी-सी तस्वीर पुरुष खेल की देखते हैं। वहीं कोने में पड़ी होती है महिला खेल की तस्वीर। अब हालात बदले हैं। थोड़ी सी दिलचस्पी हमारी महिलाओं के खेल के प्रति जागी है। इसीलिए, अब हम गीता फोगाट, विनेश फोगाट, पी.वी. सिंधु, मिताली राज, हरमनप्रीत कौर, जैसे महिला खिलाड़ियों को जान पाए हैं। लेकिन इस वक्त की सबसे बड़ी चुनौती महिलाओं के खेलों में है, गैर-बराबरी। महिला खिलाड़ियों को पुरुष खिलाड़ियों की तुलना में कम वेतन मिलता है। हम बराबरी की ओर जाना चाहते हैं, जहाँ सबको एक ही काम के लिए सामान वेतन मिले। लेकिन, कम स्पॉन्सरशिप और कम दर्शकों की वजह से स्थिति वैसी ही है। हाल ही में BCCI ने अपनी महिला क्रिकेटर्स के लिए भी सामान वेतन की घोषणा की है जिससे निश्चित ही महिला क्रिकेट खिलाड़ियों की स्थिति ठीक होगी परन्तु अन्य खेल अभी भी सामान वेतन पर अमल नहीं कर पाया है। खेल महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाता है। खेल महिलाओं को इस समाज में एक नई पहचान देता है। खेल बराबरी का भाव लाता है। खेल महिलाओं के जीवन को चूल्हे चौके से अलग भी एक नई जिंदगी प्रदान करता है। हमें बस खुले दिल से महिलाओं को खेलों में भागीदारी को बढ़ावा देना चाहिए, क्योंकि लैंगिक समानता के ये मजबूत और प्रभावी कदम हैं।

निष्कर्ष :

खेल महिलाओं के जीवन को चूल्हे चौके से अलग भी एक नई जिंदगी देता है। इसलिए हमें बस खुले दिल से खेलों में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा देना चाहिए। लड़कियों को खेल के क्षेत्र में आगे बढ़ाने में उनका परिवेश भी बहुत मायने रखता है। अधिकतर लड़कियाँ न चाहते हुए भी किसी भी खेल से कदम पीछे खींच लेती हैं क्योंकि उनको बताए ‘अच्छी लड़की’ के खांचे में खेलना मना है। लेकिन अब इस खांचे

को बदलने की जरूरत है और ग्रामीण क्षेत्रों में भी लड़कियों को खेल की दिशा में प्रोत्साहित करने की जरूरत है, क्योंकि खेल न केवल समाज की छोटी सोच बल्कि लैंगिक भेदभाव की गहरी जड़ों को उखाड़ फेंकता है और इस बदलाव की शुरुआत हमें अपने घर और स्कूल से करनी होगी, लड़कियों के हाथ में घर-घर के खिलौने नहीं बल्कि फुटबाल, क्रिकेट, हाकी जैसे खेल के समान थमाकर।

संदर्भ :

1. <https://afeias.com/wp-content/uploads/2021/11/कुरुक्षेत्र-ग्रामीण-महिलाओं-की-खेलों-में-बढ़ती-भागीदारी-27-11-21.pdf>
2. <https://hindi.feminisminindia.com/2021/07/29/women-gender-equality-olympics-2021-hindi/>
3. <https://hindi.feminisminindia.com/2021/03/24/women-and-gender-inequality-in-india-hindi/>
4. <https://hindi.feminisminindia.com/2020/03/12/supporting-women-in-games-for-gender-equality-hindi/>



महिला अधिकार आंदोलन और महिलाओं की स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन

○ विजय लक्ष्मी यादव

संक्षिप्ति :

महिलाओं के अधिकार आंदोलन विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग समय में अलग-अलग मांगों को लेकर उभरे हैं जिसमें अनेक संघर्षशील महिलाओं ने अपना योगदान दिया है। महिला अधिकार आंदोलन किसी एक योजना को लेकर आगे नहीं बढ़े बल्कि अलग-अलग काल खंडों में इनके आंदोलन का आधार और मांगें भी अलग-अलग रही हैं। इन आंदोलनों के फलस्वरूप महिलाओं की स्थिति में आवश्यक सुधार हुआ है। वर्तमान समय में भी विश्व के अनेक भागों में महिलाओं के अधिकारों और उनकी अवस्था में सुधार के लिए अनेक प्रयास हो रहे हैं। अतः आवश्यक है कि उनकी मांगों को समग्रता के साथ समझकर उस पर चिंतन किया जाए और उनके विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को सरकारी संरचनाओं और समाज के स्तर पर भी दूर किया जाए।

बीज शब्द : विकास, अधिकार, सभ्यता, आंदोलन, दासता, व्यवस्था, भेदभाव, रोजगार ।

प्रस्तावना : आज हम 21वीं सदी में जी रहे हैं जहाँ अनेक पुरानी परंपराएँ टूट रही हैं और अनेक नए विचारों को समाज स्वीकार कर रहा है तथा उससे प्रभावित हो रहा है। नवीन स्थापनाओं के इस युग में स्त्रियों की भूमिका और प्रभाव में अंतर आया है। स्त्रियाँ विभिन्न क्षेत्रों में अपने निर्णय और प्रभाव के फलस्वरूप विशेष योगदान दे रही हैं। 21वीं सदी को महिला सशक्तीकरण की सदी माना जा रहा है जिसमें हेलरी क्लिंटन, बेनजीर भुट्टो, सोनिया गांधी, ओपेरा विनफ्रे, सीरीन इवादी, मलाला यूसुफजई, इंदिरा नूई, एंजेला मार्कल, मदर टेरेसा इत्यादि किसी विशेष परिचय की मोहताज नहीं हैं, परंतु इन महिलाओं के पीछे जो संघर्षपूर्ण इतिहास रहा है बिना उसका विवेचन किए मात्र कुछ नाम गिनाने से 21वीं सदी में स्त्री की स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता है जिसमें स्त्रियों का अधिकांश भाग हिंसा और उसके प्रति होने वाले अपराधों से ग्रसित है। महिलाओं की स्थिति के संबंध में एक सामान्य मान्यता यह है कि उनके प्रति हिंसात्मक अपराध रोकने के लिए कड़े विधिक प्रावधानों की व्यवस्था होनी चाहिए तभी उनकी स्थिति को बेहतर बनाया जा सकता है। स्त्रियों की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए उनके इतिहास स्थिति और अधिकारों की विवेचना आवश्यक है।

महिलाओं की स्थिति :

स्त्री समाज पर जब हम विचार करना प्रारंभ करते हैं तो हमारे समक्ष अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं जैसे कि किस युग की स्त्री पर विचार करें या स्त्री की किस स्थिति पर विचार करें अथवा सामाजिक व्यवस्था की किस धारणा पर विचार करें। संसार के सभी देशों और कमोवेश सभी व्यवस्थाओं में स्त्रियाँ पुरुषों की

अधीनस्थ ही रही हैं, पुरुषों से स्वतंत्र होने की चेतना के अभाव में उन्हें शताब्दियों तक गुलाम की तरह जीवन यापन करने के लिए विवश किया गया। स्थिति इतनी खराब थी कि उनकी अपनी देह भी अपनी नहीं थी। वह मालिक के इशारे पर खरीदी और बेची जाती थीं। पूरी सामाजिक व्यवस्था की संरचना इस प्रकार से की गई थी कि वह स्त्रियों को दासता की बेड़ियों में जकड़ने के लिए बनाई गई थी। स्त्रियों में दासता की चेतना संस्कारजनित थी पूरा धर्म, समाज, सभ्यता आदि इस प्रकार गुंथे हुए थे कि स्त्री उससे अपने आप को अलग करने में अक्षम थी। फ्रांसीसी लेखिका सीमान द बोउवार ने अपनी पुस्तक ‘द सेकंड सेक्स’ में लिखा है कि “स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि उसे बना दिया जाता है।”

प्रसिद्ध साहित्यकार राजेंद्र यादव ने सामंती समाज का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि “कृषि आधारित सामंती व्यवस्था किसी प्रकार की मोबिलिटी की अनुमति नहीं देती। वहाँ मालिक और श्रमिक दोनों स्थाई होते हैं जो जहाँ है उसे वहीं रहकर धर्म अर्थात् कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। इस ढांचे में स्त्री ही अपेक्षाकृत अधिक मोबाइल है। वह वस्तु की तरह अनेक समाज, धर्मों और परिवारों में ले जायी जाती है। अक्सर ही स्वेच्छा से नहीं मालिकों की हैसियत के हिसाब से यहाँ तक की उसकी अपनी देह और जिंदगी के फैसले भी दूसरे करते हैं वह डिस्पोजेबल वस्तु है। इसलिए अनुपयोगी होने पर इससे जान छुड़ाई जा सकती है। स्वतंत्रता उन्हें सामंती व्यवस्था से बाहर जाकर ही मिल सकती है। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि स्त्री की स्थिति प्रारंभिक युग में और विशेष रूप से मातृसत्तात्मक समाज में ठीक थी। वह भी परिवार में मालिक की हैसियत रखती थी।” सामंती समाज की संरचना और उसके मूल्य स्त्री को अनुगामिनी या दोयम दर्जे का नागरिक मानते हैं क्योंकि सामंती व्यवस्था में अर्थव्यवस्था का स्वरूप कृषि आधारित है जिसमें पुरुष की शक्ति का प्रयोग होता था और स्त्री उसमें सहायक की भूमिका में होती थी। उसकी यह भूमिका, जो अर्थव्यवस्था में थी, उसी ने सामाजिक स्तर पर भी उसे दोयम दर्जे का बना दिया।

समाज में स्त्री की दास्तां सबसे पुरानी है और इस दास्तां की यात्रा और दर्द भी उतना ही पुराना है जितना कि मजदूर और दलित वर्ग का। परंतु दलित और मजदूर वर्गों ने स्त्री की तुलना में अपने अधिकारों और स्थिति को ज्यादा सशक्त तरीके से प्राप्त किया है। स्त्री अभी उनसे पीछे है क्योंकि उसने अपने अधिकारों की मांग उतने संगठित तरीके से नहीं की जितना कि दलित और मजदूरों ने की। स्त्री अधिकार आंदोलन भी उतने सशक्त और तीव्र रूप से आगे नहीं बढ़ सका, जिस प्रकार से अन्य सामाजिक आंदोलन आगे बढ़े। इसका कारण यह था कि यह आंदोलन तभी सफल हो सकता था, जब पूरी संरचना में बदलाव किया जाता। स्त्री अधिकार आंदोलन सशक्त रूप से आगे क्यों नहीं बढ़ा इसकी ओर संकेत करते हुए राजेंद्र यादव अपना तर्क देते हैं कि “जाहिर है कि दलितों और स्त्रियों की मुक्ति का सवाल राजनीतिक हिस्सेदारी या उससे भी पहले सामाजिक न्याय का प्रश्न है लड़ाई उस मर्दवादी वर्ण व्यवस्था के खिलाफ है जो इन दोनों वर्गों को कोई अधिकार नहीं देता।” जे० फ्रडमैन का विचार है कि “स्त्रियों का आंदोलन किस नियत तिथि को प्रारंभ हुआ यह जान पाना कठिन है, क्योंकि इनके अनेक समूह, तरीके और ढंग रहे हैं।” इतिहासकार ए०आर० देसाई का कहना है कि “नए आर्थिक पर्यावरण के उद्भव, नवीन राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना, आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा पद्धति और चिंतन शैली के प्रसार आदि के फलस्वरूप भारत में राष्ट्रीय और प्रजातांत्रिक जागरण हुआ, उसी की एक अभिव्यक्ति यह थी; क्योंकि जिस मध्ययुगीन सामाजिक अधीनस्थता और प्रकीर्णन से भारतीय नारी सदियों से त्रस्त थी उसकी मुक्ति के आंदोलन शुरू हुए। वास्तव में यही वह परिस्थितियाँ थीं जिसने स्त्री आंदोलन को प्रेरणा दी और उसने दमन और अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाई।”

नारीवादी विमर्श का लगभग पहला काम यही था कि महिलाओं को अधीन करने वाली जटिल संरचना को समझा जाए इस संरचना को बीसवीं सदी के आठवें दशक के मध्य में पितृसत्ता का नाम दिया गया। इसके

जरिए अब संस्थाओं के एक खास समूह को पहचाना जाता है जिसकी सामाजिक संरचना और क्रियाओं का समूह स्त्रियों पर वर्चस्व रखता है और उनका शोषण करता है। पितृसत्तावाद के द्वारा पुरुष और स्त्री के बीच शक्तियों और हैसियत में असमानता के लिए जैविक निर्धारणवाद के मत को खारिज करने में सहायता मिलती है और साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि स्त्री या पुरुष का वर्चस्व कोई व्यक्तिगत घटना नहीं है बल्कि यह एक व्यापक संरचना का अंग है। पितृसत्ता के अंतर्गत यह विचारधारा प्रभावी रहती है कि पुरुष स्त्रियों से अधिक दर्दश्रेष्ठ है। जो स्त्रियाँ पितृसत्ता के कायदे कानून और तौर-तरीकों को अपना सहयोग या सहमति नहीं देती हैं उन्हें पथ भ्रष्ट करार दे दिया जाता है और भौतिक संस्थाओं के उपयोग से बेदखल किया जाता है। महिलाओं के प्रति अपराध एक सार्वभौमिक समस्या है जो प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में किसी न किसी मात्रा में विद्यमान है।

वर्तमान स्वरूप में स्त्री का अपने अधिकारों के लिए संघर्ष आधुनिक राष्ट्र राज्य की उपज है आधुनिक राष्ट्र राज्यों में स्त्री की उन्नति के लिए जो भी कदम उठाए गए, वे सामाजिक थे। स्त्रियों को प्रांतीय तथा राष्ट्रीय सरकारों में कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं था। इनको मताधिकार भी नहीं प्राप्त था। सुकरात से लेकर मिल के पहले तक कमोवेश सभी विचारक और चिंतक स्त्री के संबंध में पूर्वग्रह से ग्रसित थे। उनका विचार था कि इन्हें दार्शनिक और बौद्धिक चिंतन से दूर ही रखा जाना चाहिए। इन विचारकों का मानना था कि स्त्रियों के स्वभाव में अत्यंत चंचलता और अस्थिरता जैसी कमजोरी होती है। मिल ने पहली बार दार्शनिक और राजनीतिक इतिहास में स्त्रियों के लिए समानता, स्वतंत्रता, शिक्षा और मताधिकार की वकालत की। इससे पहले किसी अन्य विचारक ने ऐसी कोई बात नहीं की थी। गार्डनर के अनुसार, “शोषण का कारण स्त्री का इतिहास ना होना और उसके अपने वर्ग के नायकों का अभाव है।” कुछ हद तक यह बात सत्य है परंतु पूरी तरह से नहीं क्योंकि यदि हम ऐतिहासिक विश्लेषण करें तो हमें अनेक स्त्रियाँ नारी अधिकारों की आवाज बुलंद करती हुई दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार मार्क्स का मानना है कि “संपूर्ण मानव सभ्यता का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।” उसी प्रकार स्त्रीवादी विमर्श का एक खेमा ऐसा भी है जो मानता है कि “मानव सभ्यता का इतिहास स्त्री शोषण का इतिहास है।” भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग प्रकार की व्यवस्थाओं का जन्म हुआ लेकिन स्त्रियाँ उस विकास की दौड़ से बाहर रहीं। विकसित अर्थव्यवस्थाओं में भी स्त्रियों की विकास में भागीदारी इतनी नहीं हो सकी जितनी उनकी जनसंख्या थी।

महिला अधिकार आंदोलन :

यदि हम महिला अधिकार आंदोलन के दर्शन को समझने की कोशिश करें तो पश्चिमी जगत में हमें वह तीन धाराओं के रूप में दिखाई देता है :

1. उदारवादी नारीवाद : महिलाओं के अधिकार से संबंधित यह आरंभिक विचारधारा है जिस पर उदारवाद से जुड़ी मान्यताओं के आधार पर स्त्रियों के अधिकारों की वकालत या मांग की जाती है। यह कानूनी सुधार और सार्वजनिक क्षेत्र में समानता की मांग करते हैं। इस विचारधारा के समर्थकों में मेरी वोल्स्टोनक्राफ्ट, जॉन स्टुअर्ट मिल, कैरोल पैटमैन, बेट्टी फ्रीडन है

2. आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद : यह विचारधारा द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विकसित हुई। यह सामाजिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन करना चाहती है और साथ ही निजी जीवन में भी समानता की मांग करती है। इस विचारधारा के प्रमुख समर्थकों में सीमोन द बुआ, शुलामिथ फायरस्टोन, कैट मिलेट और वर्जिनिया वुल्फ का नाम लिया जाता है।

3. समाजवादी नारीवाद : समाजवादी नारीवाद की विचारधारा वास्तव में समाजवाद के विचारों से प्रभावित

है। यह विचारधारा समाज में स्त्री पुरुष की असमानता और स्त्रियों की दुर्दशा का कारण सामाजिक, आर्थिक संरचना को मानते हैं और इनका दावा है कि सामाजिक क्रांति द्वारा उसे समाप्त किया जा सकता है। समाजवादी विचारधारा स्त्री की मुख्य समस्या पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा स्त्रियों के शोषण को मानती है। इस विचारधारा के समर्थकों में चार्ल्स फ्यूरीए, फ्रेडरिक एंजल, और शीला रोबोथम हैं।

शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार मिलने से उनके आत्मविश्वास और बौद्धिक स्तर में सुधार हुआ लेकिन सन् 1700 तक इनको विश्वविद्यालयों में अध्ययन की सुविधा नहीं प्राप्त थी। स्त्रियों को पारिवारिक जीवन में विवाह बंधन में ही सुरक्षित माना जाता था। पारिवारिक स्तर पर भी इनका जीवन दूसरे दर्जे का माना जाता था यहाँ तक कि उनके बच्चों के बारे में भी निर्णय लेने का अधिकार इनके पतियों को ही था। यह अनुचरी के रूप में अपने पतियों की आज्ञा का पालन करती थी। उनसे अलग हटकर इनका स्वयं का कोई व्यक्तित्व, पहचान और निर्णय नहीं था। स्त्रियों की चर्चा समाजशास्त्र में ज्ञानोदय के विचारों से प्रेरित होकर पुरुषों से उनकी बराबरी के संदर्भ में की जाने लगी संपूर्ण स्त्रीवादी दर्शन इस बात पर आधारित है कि स्त्रियों को एक व्यक्ति होना चाहिए। उनकी एक व्यक्ति के रूप में मान्यता नहीं है। पूंजीवाद एवं ज्ञानोदय के विचारों में इस बात को स्थापित करने का प्रयास किया गया कि स्त्रियों को एक व्यक्ति होना चाहिए और इसमें अनेक बाधाएँ हैं इन बाधाओं को भी चिह्नित किया जाना चाहिए। सन 1570 से 1700 तक विचारकों ने प्रबुद्ध स्त्रियों का उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यदि स्त्रियों को भी अवसर मिले तो वे भी पुरुषों के समान समाज में सकारात्मक योगदान दे सकती हैं। 1642 से 1660 में विचारकों ने यह प्रसारित किया कि सभी मनुष्य ईश्वर के सामने एक समान हैं, ओल्ड टेस्टामेंट से साराह, रेबेका आदि और न्यू टेस्टामेंट से एलिजाबेथ, वर्जिन मैरी आदि के उदाहरण दिए गए। सन् 1792 में मेरी वॉलस्टोन क्राफ्ट ने अपनी पुस्तक “विडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वूमेन” में पहली बार राजनीतिक क्षेत्र को महिलाओं के लिए जिम्मेदार ठहराया। इनका मानना था कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था की वजह से स्त्री कभी भी समाज की वर्चस्वशील स्थिति में नहीं पहुँच पायी; क्योंकि राजनीतिक संरचना द्वारा स्त्रियों के अधिकारों के संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इसके लगभग एक शतक बाद 1870 में ब्रिटेन में एक महत्वपूर्ण कानून बनाया गया जिसमें स्त्रियों को यह अधिकार दिया गया था कि वह स्वयं अर्जित की गई संपत्ति की मालिक और निजी संपत्ति के उत्तराधिकारी को घोषित करने की अधिकारी हैं। 1982 तक ब्रिटेन में अनेक ऐसे कानून पारित किए गए जो स्त्री अधिकारों से संबंधित थे।

सन् 1848 में अमेरिका के सेनेका फाल्स में एक सम्मेलन में लगभग 300 लोगों ने यह मांग की कि लिंग आधारित भेदभाव समाप्त होना चाहिए और इन 300 प्रतिनिधियों में 40 महिलाएँ भी थीं। एलिजाबेथ, कैडी स्टैन्टन, लुक्रिसिया मोट इसकी संगठनकर्ता थीं। उन्होंने अपनी अनेक मांगें रखी, परंतु वोट देने का अधिकार इन्हें यहाँ भी प्राप्त नहीं हो सका। अमेरिका में तथा अन्य यूरोपीय देशों में स्त्रियाँ बीसवीं सदी के प्रथम चरण में ही मताधिकार हासिल करने में सफल हुई। यदि एक ओर मध्यवर्गीय स्त्रियाँ केवल अपने साथ हो रहे अन्याय को हटाने के लिए संघर्ष कर रही थी तो वही निम्न वर्गीय मजदूर स्त्रियों ने अपने पुरुषों के साथ मिलकर मजदूरी की दरें सुधारने, कम करने, अवकाश की सुविधा, आवास व्यवस्था, सेवाओं के प्रावधानों में परिवर्तन और काम की स्थितियाँ सुधारने के लिए प्रयासरत थीं।

भारत में महिला अधिकार आंदोलन और महिलाओं की स्थिति :

भारत में स्त्री विमर्श की शुरुआत मध्यवर्गीय स्त्री के सवाल से होती है और भारत में स्त्रियों को दलितों के समान सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक मुद्दों पर अधिकारों और समानता की मांग हेतु प्रेरित किया जाता है। भारतीय संदर्भ में कुछ विचारकों का मानना है कि मनुवादी व्यवस्था में स्त्रियों को अपने अधिकार

के लिए एकजुट होकर संघर्ष करना चाहिए। भारत में महिला अधिकार आंदोलन मुख्यतः दो रूपों में दिखाई पड़ता है :

1. पुरुषों के द्वारा स्त्रियों के अधिकार व मांगों के रूप में
2. महिलाओं के द्वारा किए गए प्रयास के रूप में

भारत में नारीवादी आंदोलन का इतिहास सामान्यतः 3 तीन चरणों में दिखाई पड़ता है :

1. प्रथम चरण की शुरुआत 19वीं शताब्दी के मध्य में होती है जब समाज में व्याप्त सती प्रथा, बाल विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ आंदोलन किया गया और इनकी समाप्ति के लिए अनेक कानूनों का निर्माण किया गया।
2. नारीवाद का दूसरा चरण 1915 के बाद माना जाता है। इसी समय भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी ने प्रवेश किया था। उनके द्वारा चलाए गए अनेक आंदोलनों में महिलाओं ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। इस चरण में अनेक प्रकार के संगठन भी उभर कर आए जो महिलाओं के हितों और सम्मान के लिए कार्य करते रहे।
3. भारत में नारीवाद का तीसरा चरण स्वतंत्रता के बाद माना जाता है जिसमें व्यक्तिगत सुरक्षा और अधिकार के मुद्दों को प्रमुख रूप से उठाया गया। इसमें कार्यस्थल पर सुरक्षा और राजनीतिक समानता जैसे मुद्दे शामिल रहे।

प्राचीन भारत में स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। वेदों में अनेक विदुषियों का वर्णन मिलता है जिन्होंने वेद सूत्रों की रचना की थी। अपाला, घोषा आदि इसी प्रकार की स्त्रियाँ थीं। उस समय स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ सार्वजनिक समारोहों में भी भाग लेती थीं; परंतु भारत में इनकी स्वतंत्रता पर राजपूत काल में बाधाएँ लगनी प्रारंभ हो जाती हैं और समाज सामंती व्यवस्थाओं की मान्यताओं से ग्रसित होने लगा। इसी के साथ जिस इस्लामिक सभ्यता का आगमन हुआ और उनके आपसी सांस्कृतिक संघर्ष ने स्त्रियों को पर्दा, बाल विवाह, सती प्रथा और जन्म लेते ही मार डालने जैसे अभिशापों से ग्रसित कर दिया। इस युद्ध और सांस्कृतिक संघर्ष में सबसे ज्यादा हानि स्त्रियों की हुई। मध्यकाल तक आते-आते इनकी स्थिति और दयनीय हो गई। रीतिकालीन कवियों ने स्त्री को मात्र भोग और सुंदरता की वस्तु माना। यद्यपि भक्तिकाल में कबीर, रैदास, दादू आदि ने इनकी स्थिति की ओर संकेत किया है। इस युग में स्त्री शिक्षा सहित सभी अधिकारों से वंचित हो गई। भारत में अंग्रेजों के आगमन के पश्चात भारतीय स्त्रियों की वास्तविक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया लेकिन पश्चिमी शिक्षा और नवजागरण के पश्चात कुछ कुलीन महिलाओं को शिक्षा का अधिकार प्राप्त हुआ। वह नवजागरण से प्रभावित हुई इन महिलाओं में सरला देवी चौधरी, सरोजिनी नायडू, पंडिता रमाबाई, राजकुमारी अमृत कौर, नलिनी दत्त, दुर्गाबाई देशमुख इत्यादि थीं। आगे चलकर इन्हीं भारतीय महिलाओं ने उत्साहवर्धन के साथ-साथ स्वतंत्रता आंदोलन में भी स्त्री शक्ति को सिद्ध किया।

15वीं से 19वीं सदी तक स्त्री की वैधानिक स्थिति अपरिवर्तित रही किंतु पुनर्जागरण के बाद प्रारंभ हुए व्यक्तित्व प्रधान युग ने शिक्षा के दरवाजे नारी के लिए भी खोल दिए। इसकी वजह से धनी वर्ग की स्त्रियाँ लेखक, साहित्यकार, कलाकार आदि की भूमिकाओं में उभरीं; परंतु वह चोटी तक नहीं पहुँच पायीं, क्योंकि उनके पास वह भौतिक स्वतंत्रता नहीं थी जो आंतरिक स्वतंत्रता को विकसित करने में सहायक हो सके। विकसित, विकासशील और अविकसित समाजों की संरचनाओं की भिन्नता का असर वहाँ की स्त्रियों और उन पर होने वाले अपराधों पर भी दृष्टिगत होता है। भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज रहा है। अतः सामाजिक संरचना व सामाजिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंगों व घटकों में पुरुष की प्रधानता रही है तथा सामाजिक नियम

व परंपराएँ भी उन्हीं की अनुकूल थीं।

आधुनिक चेतना के उदय के साथ महिलाओं की सामाजिक दशा को सुधारने के लिए भी प्रयास किए गए। मानवतावादी एवं समतावादी भावनाओं से प्रेरित होकर सुधारकों ने उनकी दशा को सुधारने के लिए आंदोलन शुरू किए। गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक ने 1829 ईस्वी में सती प्रथा का अंत कर दिया। प्रारंभ में यह केवल बंगाल में लागू हुआ, किंतु 1830 ई. में मुंबई एवं मद्रास में भी लागू कर दिया गया। इसी प्रकार शिशु हत्या निषेध के लिए भी समय-समय पर कानून बनाए गए जिससे बालिका शिशु की रक्षा हो सके। स्त्रियों की स्थिति सुधारने की दिशा में बाल विवाह का निषेध एवं विधवा विवाह अनुमति के प्रश्न पर आंदोलन शुरू किए गए। ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने वेदों से प्रमाण लेकर यह स्थापित किया कि वैदिक युग में विधवा विवाह प्रचलन में था। अतः 1856 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित हुआ जिसके द्वारा विधवाओं को विवाह की अनुमति मिल गई। मुंबई में प्रोफेसर डी.के. कर्वे और मद्रास के वीरेसलिंगम पुंटलू ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया। ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने विधुर होने पर 1893 में एक विधवा ब्राम्हण स्त्री से विवाह किया और 1899 में पूना में एक आश्रम स्थापित किया। मुंबई में भारतीय महिला विश्वविद्यालय भी स्थापित हुआ। बाल विवाह का भी विरोध किया जा रहा था। 1872 ई. में इस दिशा में प्रयास हुआ जब 'नेटिव मैरिज एक्ट' पारित हुआ। इसमें 14 वर्ष से कम आयु की कन्या को विवाह से वर्जित कर दिया गया तथा बहु विवाह को गैरकानूनी घोषित किया गया। एक पारसी समाज सुधारक वी.एम. मलावरी के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1891 ई. में 'सम्मति आयु अधिनियम' पारित हुआ। इसमें 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर रोक लगा दी गई थी। 1930 में हरप्रसाद शारदा के प्रयासों से शारदा एक्ट पारित किया गया। इसमें पुरुषों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु सीमा 18 वर्ष तथा कन्याओं के लिए 14 वर्ष गई थी। स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार के लिए भी प्रयत्न किए गए इस दिशा में सर्वप्रथम ईसाई मिशनरियों ने प्रयास किया 1819 में 'कलकत्ता तरुणी सभा' की स्थापना हुई। जे. ई. बेटन द्वारा 1849 में एक बालिका विद्यालय की स्थापना की गई। 1854 की घोषणा पत्र में भी स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया था।

नारी मुक्ति की दिशा में राष्ट्रीय आंदोलन ने भी अपनी अहम भूमिका निभाई। बीसवीं शताब्दी में बंग भंग आंदोलन में स्त्रियों ने बढ़ चढ़कर भाग लिया। असहयोग आंदोलन एक जन आंदोलन था जिसमें महिलाओं की अच्छी भागीदारी हुई। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में किसान आंदोलन एवं ट्रेड यूनियन आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी हुई। 1937 में जब लोकप्रिय सरकार गठित हुई तो उसमें भी महिलाओं की अच्छी भागीदारी रही। 1920 के बाद महिलाओं में विशेष जागृति दिखाई पड़ती है जिसके परिणामस्वरूप 1927 में अखिल भारतीय महिला सभा का गठन हुआ; परंतु महिलाओं के विकास के लिए जो वास्तविक प्रयास थे, वह स्वतंत्रता के बाद ही किए जा सके। 1950 में जब भारत का संविधान लागू हुआ तो संविधान में महिलाओं और पुरुषों के लिए समान प्रावधान किए गए कहीं भी किसी भी स्तर पर महिलाओं के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया गया। महिलाओं को भी समान योग्यता के साथ समान नागरिकता और समान अधिकार प्रदान किए गए। 1955 में हिंदू विवाह अधिनियम लाया गया जिसके द्वारा स्त्री को विवाह विच्छेद का अधिकार दिया गया और 1956 में हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम लाया गया। इसके द्वारा भी महिलाओं को पुरुषों के समानांतर स्थिति में खड़ा करने का प्रयास किया गया।

भारतीय नारीवादी आंदोलन के समक्ष सबसे बड़ी समस्या पितृसत्तात्मक संस्कृति और सामंती व्यवस्था है जिसमें भू-स्वामित्व पुरुषों के एकाधिकार में है इसके कारण विकास के अवसर और समान राजनीतिक सहभागिता करने में स्त्रियाँ पिछड़ी हुई हैं। भारत में भ्रूण हत्या, महिलाओं के साथ हिंसात्मक अपराध, घरेलू हिंसा इत्यादि ने महिलाओं के विकास के समक्ष प्रमुख रूप से चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं। भारत में नारी आंदोलन

विशेष वर्ग या जाति की महिलाओं को ध्यान में रखकर उनके हितों की मांग के रूप में उभरा जिससे समाज के सभी तबके की स्त्रियाँ इससे नहीं जुड़ पायीं।

भारतीय समाज व सभ्यता के विकास में महिलाओं का योगदान सर्वोपरि रहा है। भारतीय प्रजातंत्र में महिलाओं की भूमिका दिनों दिन बढ़ती जा रही है। गांव से लेकर शहरों तक विकास तथा प्रगति में महिलाओं के सबल हाथों की भागीदारी इसका प्रतीक है। लोकसभा, विधान सभा और ग्राम पंचायतों के चुनाव में मतदान का सबसे ज्यादा प्रतिशत महिलाओं का होता है जिससे यह साबित होता है कि लोकतंत्र में अपनी सहभागिता को लेकर ये सजग हैं। संसद से लेकर के अन्य चुनावों तक इनकी भागीदारी को और प्रबल बनाने के लिए महिला आरक्षण की मांग की जा रही है।

राजनीतिक आंदोलनों की तुलना में सामाजिक आंदोलनों को संचालित करना और लंबे समय तक चलाए रखना काफी कठिन कार्य है, परंतु फिर भी नारीवादी आंदोलन अपनी तमाम बाधाओं के होते हुए भी आगे बढ़ रहा है यह महत्वपूर्ण बात है। नारीवादी विमर्श की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसके जो आदर्श और मानदंड हैं, वह यूरोपीय दर्शन और विचार पर आधारित हैं। जबकि इसे देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार जमीनी स्तर पर काम करना चाहिए था। नारीवादी आंदोलन कई दशकों से चल रहा है, परंतु अभी यह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाया है। महिलाओं को समान भागीदारी व आत्म सम्मान के साथ सभी अधिकार प्राप्त हो सके, इसके लिए आवश्यक है कि महिलाएँ अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए नवीन ज्ञान विज्ञान और कौशल सीखने की कोशिश करें। ऐसा करने से पुरुष सत्तात्मक समाज उन्हें उनका उचित स्थान स्वयं ही दे पाएगा और वे राष्ट्र तथा सभ्यता के विकास में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सकेंगी।

संदर्भ :

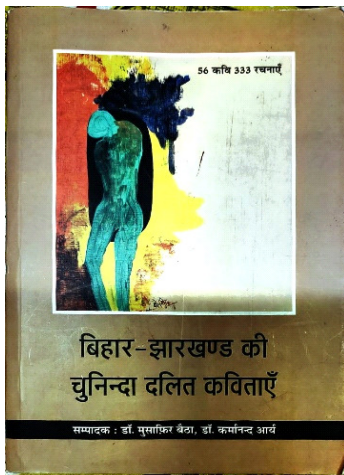
1. हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856
2. बंगाल सती विनियमन, 1829
3. बाल विवाह निषेध अधिनियम, 1829
4. विवाह निषेध अधिनियम, 1931
5. मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939
6. विशेष विवाह अधिनियम, 1954
7. हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956
8. हिंदू नाबालिक एवं अभिभावक अधिनियम, 1956
9. हिंदू दत्तक एवं भरण पोषण अधिनियम, 1950
10. दहेज निषेध अधिनियम, 1961
11. ए.आर. देसाई, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद
12. ओल्ड टेस्टामेंट
13. न्यू टेस्टामेंट
14. K.M Kapadia, "marriage and family in India", 1966
15. P.H Prabhu, "Hindu social organisation", 1979
16. Professor Indra, "status of women in ancient India", 1981
17. Radha Kumud Mukherjee, "Ancient India", 2017
18. Dr. A.S Altekar, "the position of women in Hindu civilization", 1938
19. Alisson Jaggar, "feminism politics and human nature", vol-13, no2, winter 1988

20. Simone De Beauvoir, “The second sex”, 1949
21. Susie Pharu and Tejaswini Niranjana, “problems of a contemporary theory of gender”, April 1994
22. Suzanne.J.Kessler, “the medical construction of gender”, 1990
23. Juliet Mitchell, “women estate”, 1971
24. Neera Desai and Maithrayee krishnaraj, “women and Society in India”, 1987
25. Kamla Bhasin, “What is patriarchy”, 1993
26. Female infanticide prevention act, 1870
27. Manorama savur, women liberation and productive activit , social scientist, vol.4,4/51975
28. A Code of gentoo laws, 1775
29. Hindu women’s right to property act ,1937
30. Domestic violence act 2005
31. IPC sec. 498A
32. National commission for women act , 1990



हाशिए के साहित्य का संग्रहणीय दस्तावेजी अंक

○ अरुण नारायण



‘बिहार-झारखंड की चुनिंदा दलित कविताएँ’ संयुक्त बिहार के 56 समकालीन कवियों की 333 कविताओं का संकलन है जो बोधि प्रकाशन, जयपुर से डॉ. मुसाफिर बैठा और डॉ. कर्मानंद आर्य के सम्पादन में आया है। लेखक द्वय ने इस संकलन के प्रकाशन के मद्देनजर कुछ जरूरी और आवश्यक विचार भी अपने-अपने सम्पादकीय में साझा किये हैं। बिहार सामंती रूप से सबसे घनीभूत भूभाग रहा है, जहाँ दलित-दमित उत्पीड़न की वर्षों से परम्परा रही है। याद नहीं पड़ता कि हिन्दी में बिहार या यहाँ से बाहर से कभी इस तरह के संकलन आये हों। इस रूप में यह ऐतिहासिक और जरूरी कार्यभार था जिसे इस पुस्तक के माध्यम से मूर्त रूप मिला है।

डॉ. मुसाफिर बैठा ने अपने सम्पादकीय में कई गंभीर बातों की ओर इशारा किया है जो भारतीय समाज, राजनीति और यहाँ की व्यवस्था में दलितों के साथ कायम रही है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के कारणों को उन्होंने एड्रेस करने की कोशिश की है। कबीर, रैदास की हिन्दी आलोचना में उपेक्षा और मुक्तिबोध की सर्वस्वीकार्यता में शामिल उत्तर दक्षिण विचारधारा की गलबहियां करती प्रवृत्ति को भी उन्होंने टारगेट किया है। यह उचित ही सवाल उठाया है कि ‘प्रगतिशील होना और हिन्दू जातिवादी होना एक साथ नहीं हुआ जा सकता। आप यदि समाज से ही संलग्नता रखते हैं तो आप पीक एंड चूज नहीं कर सकते हैं। धर्म एवं जाति की खुरदरी उपस्थिति को नजरंदाज नहीं कर सकते हैं।’ (पृष्ठ : 10)

डॉ. कर्मानंद आर्य ने अपने सम्पादकीय में कई सारे सवालों से मुठभेड़ की है। उन्होंने दलित पिछड़ा अन्तर्विरोध के साथ ही उनमें एकता के सूत्र और दलित लेखन में पनप रही प्रवृत्तियों की भी पड़ताल की है। उनकी एक बात समझ से परे है जब बिहार में दलित लेखन की बात करते हैं तो दलित लेखन के प्रेरक जगजीवन राम से लेकर भोला पासवान शास्त्री को भी मानते हैं। सवाल यह है कि जिस दलित लेखन का आधार ही आंबेडकरवाद रहा है उसकी प्रेरणा आंबेडकर के खिलाफ इस्तेमाल हो रहे जगजीवन राम और भोला पासवान शास्त्री कैसे हो सकते हैं? यह एक आधारभूत सवाल है जिसपर सम्पादक की असाधारण चूक नजर आती है। वैसे उन्होंने और बातों की तपसील से चर्चा की है। वे लिखते हैं :

‘यह वह समय है जब उत्पीड़क उत्पीड़ितों की क्रूरता और मृदुता के छद्म को अपनी भाषा में मुखर

अभिव्यक्ति दे रहा है। उनका प्रवेश वह अब ऐसे वर्जित क्षेत्र में हो चुका है जहाँ सामान्य वंचितों का जाना किसी निषेध से कम न था और अंग-भंग हत्या से लेकर पिघला हुआ शीशा तक उनके अंगों में डाल दिया जाता था। साहित्य आज ब्राह्मणी छद्मों से निकलकर आम्बेडकरी सरोकारों से जुड़ रहा है। यहाँ वर्णव्यवस्था की उच्चता का धिक्कार ही नहीं लताड़ भी है। हीरा डोम की कविताएँ आज बाबूलाल मधुकर की कविता में दहाड़ मार रही है। भाषा में कविता के दिन बहुर रहे हैं। जिस कलयुग का ख्वाब सोचकर ब्राह्मणवादी घबराते थे वह कलयुग अब साक्षात् हो रहा है।' (पृष्ठ : 19)

दलित मुक्ति की एक विराट दुनिया संग्रह की इन कविताओं की चिन्ता परिधि है। जाति व्यवस्था की सदियों से चली आ रही रूढ़ परम्परा पर प्रहार संग्रह की कविताओं का मुख्य फोकस एरिया है। इसके साथ ही समकालीन जीवन की विडम्बना को संग्रह में शामिल कविताओं में प्रमुखता से दर्ज किया गया है। बुद्ध, आंबेडकर और संविधान को मुक्ति का रास्ता मानती हैं ये कविताएँ। यहाँ दशरथ मांझी के अदम्य साहस को लक्षित करती कविताएँ भी हैं। और बेलछी, बाथे से रोहित बेमुला तक राज्यसत्ता से लेकर व्यवस्था की मार में शहीद हुए लोगों की भी यादें भी इन कविताओं में बहुत ही तल्खी और मार्मिक वेदना के रूप में प्रकट हुई हैं। इन कविताओं में दुख है, संताप है, आक्रोश है और यथास्थितिवाद को पलट देने की एक अदम्य इच्छाशक्ति भरी वह साहसिकता है जो धार्मिक आडम्बर के नाम पर वर्षों से कायम रही है। संग्रह में शामिल कविताओं का कथ्य और उसकी कथन भंगिमा का रेंज भी बहुविध विस्तार के साथ यहाँ आये हैं। कविताओं में अभिव्यक्त विषय का दायरा दलित जीवन है। संग्रह में शामिल कुछ कविताएँ नरसंहार में मारे गये बेलछी और बाथे कांड को अपने कथ्य का विषय बनाती हैं और उसके कारणों को कविता में उभारती है। संग्रह में कविताओं की प्रस्तुति और कवियों का परिचय बहुत खूबसूरती के साथ पेश किया गया है। प्रत्येक कवि का एक संक्षिप्त और सम्यक जीवन परिचय, उनका फोटो, पत्राचार, मेल और फोन नंबर के साथ दिये गए हैं।

संग्रह में कुछ कवि अपनी वैचारिकी को लेकर बहुत दृढ़ हैं और उनमें आंबेडकरवादी चेतना का बहुत ही सूक्ष्म और गहरा अंडरकरेंट हम पाते हैं। ऐसे कवियों में बाबूलाल मधुकर, बुद्ध शरण हंस, प्रह्लाद चंद्र दास, रमाशंकर आर्य, अजय यतीश बिपिन बिहारी, जयप्रकाश फाकिर, अरविंद पासवान, सुनील कुमार सुमन और खुद दोनों सम्पादक द्वय हैं। जबकि कुछ कवि ऐसे हैं जिनपर हिन्दू पौराणिकता का गहरा असर है। जियालाल आर्य की एक कविता है 'हीरा पासी' नाम से। यह एक दलित आइकन के संघर्ष को उभारने वाली कविता है, लेकिन कवि ने जो प्रतीक और बिम्ब गढ़े हैं वह पूरी तरह से हिन्दू फ्रेम वर्क में रच-बसकर।

संग्रह में 6 कवयित्रियों की कविताएँ हैं। कावेरी, रंजू राही, ऋचा, सविता कुमारी, अंजु कुमारी बौद्ध, राखी आनंद और माया संग्रह में शामिल कवयित्रियाँ हैं। इनकी कविताओं में घर, परिवार और दलित जीवन का परिवेश तो है ही, यहाँ जीवन के दूसरे अनुभव परिवेश भी अपनी सूक्ष्मता के साथ मुखर हुए हैं। इनमें कावेरी सबसे ज्यादा वय की हैं। उनकी कविताओं में घर परिवार से इतर समस्याओं पर भी विचार किया गया है। वहाँ बाद है, तो सनातन धर्म पर चोट करती 'जादुई छड़ी' जैसी मारक कविता भी। रंजू राही की कविताओं की दुनिया भी अपेक्षाकृत बड़ी है। यद्यपि संग्रह में ऋचा, सविता कुमारी, राखी आनंद आदि की भी कविताएँ शामिल हैं लेकिन इनमें आंबेडकरी चेतना और कविता का मिजाज आप नहीं पाएंगे।

संग्रह की अपनी सीमाएँ भी हैं। मसलन यह कि संग्रह में पूरे बिहार झारखंड की विभिन्न भौगोलिक सीमाओं के अंदर से लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है और दलित जातियों की पासवान, धोबी, चमार के अलावे अन्य जातियों का प्रतिनिधित्व बहुत सीमित है। दूसरी सीमा यह है कि यह महज समकालीन कवियों का संकलन है जबकि विभिन्न कालखंडों में जाकर कवियों की तलाश की जाती और उनको उभारा जाता तो इसका एक

ऐतिहासिक महत्व बनता। इसके लिए तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन कर कुछ गुमनाम लेखकों को सामने लाया जा सकता था।

बावजूद इसके, यह संकलन इसलिए विशिष्ट है कि यह मेरे जानते अपनी तरह का पहला और व्यवस्थित संकलन है जो बिहार-झारखंड के परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य की मौजूदगी, उसके अंडरकरेंट को उभारती है। बहुजन मध्यवर्ग और उसमें भी दलित वर्गों का बहुत विस्तार हुआ है। उम्मीद है आनेवाले दिनों में इस संकलन की प्रेरणा से दलित कविता का एक और बड़ा और व्यवस्थित दस्तावेजी संकलन रिसर्च स्कॉलर पूर्ण करेंगे। हमारी कामना है कि 56 दलित कवि के 333 कवियों की कविताओं के संकलन का यह कारवां हजारों कवियों और कविताओं तक विस्तारित होता हुआ साहित्य, समाज और राजनीति में भी इसी तरह की दमदार धमक के साथ ठोस रूप में सामने आये।

सम्पादक द्वय को कोटिश: बधाई और शुभकामनाएँ।



मधुकर गंगाधर का समग्र मूल्यांकन

○ श्रीधर करुणानिधि

डॉ. वरुण कुमार तिवारी साहित्य के गहरे अध्येता और शोधकर्ता हैं। खासकर कोसी-क्षेत्र के सम्पूर्ण साहित्यिक इतिहास और कोसी-मिट्टी-पानी की रचनात्मक प्रतिभाओं पर उनकी एक गहरी एवं बारीक नजर रही है। खुद इसी क्षेत्र की मिट्टी-पानी की उपज होने के कारण उन्होंने इस क्षेत्र के रचनाकारों पर विश्वसनीयता के साथ आलोचना कर्म किया है। इसी कड़ी में उनकी आलोचना और गंभीर शोधपरक पुस्तक 'मधुकर गंगाधर का साहित्य : समग्र मूल्यांकन' हाल में ही मुकुल प्रकाशन, नई दिल्ली से छपकर पाठकों के सम्मुख है। जैसा कि पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है कि यह हिन्दी के एक महत्वपूर्ण और बहुचर्चित रचनाकार मधुकर गंगाधर के संपूर्ण साहित्यिक अवदान पर केन्द्रित है। भूमिका सहित कुल 15 अध्यायों के कुल 340 पृष्ठों की यह किताब एक महत्वपूर्ण और लगभग उपेक्षित रचनाकार की विविध विधाओं में की गई रचनाओं का मूल्यांकन रचनात्मक शीर्षकों में बांटकर सम्यक दृष्टि से करती है।

मधुकर गंगाधर एक महत्वपूर्ण कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, कवि एवं अनुवादक के रूप में चर्चित रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनके इन अवदानों को रेखांकित तो किया ही गया है साथ ही उनके संस्मरणों, उनके चिंतन, साक्षात्कार आदि को शामिल कर लेखक ने शोध-अभिवृत्ति का परिचय दिया है। इससे इस वृहत शोध परक पुस्तक की धार तीव्र हो गई है। इस पुस्तक में शामिल मधुकर गंगाधर का जीवन वृत्त तो जैसे उनके व्यक्तित्व के हर पक्ष को बहुत ही संजीदगी से अभिव्यक्त करता है। यह जीवन-वृत्त संस्मरण और जीवनी के बीच आवाजाही करता हुआ प्रतीत होता है। इससे इसकी रचनात्मकता में वृद्धि हुई है साथ ही यह बोझिल होने से भी बच गया है। यह जीवन-वृत्त अपने आप में इतना पूर्ण है कि कथाकार के बचपन से उनके व्यक्तित्व निर्माण के साथ उनका राजनीतिक सामाजिक जीवन, साहित्यकार के निर्माण की प्रक्रिया, संपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेजों के साथ प्रस्तुत है। इस जीवन-वृत्त में उनके समकालीन और वरिष्ठ साहित्यकारों के साथ संबंध तथा लेखक के रूप में उनके निर्माण के साथ उनकी रचनाओं के विविध पत्रिकाओं में प्रकाशन संबंधी जानकारीयाँ भी उपलब्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त संपूर्ण समकालीन साहित्यिक गतिविधियों का सजीव चित्र भी उपस्थित होता है। जीवन-वृत्त जैसे नीरस विषय में भी इतनी सरसता का संचार कर पाना निश्चित रूप से प्रस्तुत पुस्तक लेखक की सफलता है। लेखक ने रचनाकार 'मधुकर गंगाधर' के किसी भी पक्ष को छिपाया नहीं है। इस प्रसंग में उनका 'संघ की शाखा' में शामिल होने का वाक्या विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मधुकर गंगाधर की पहचान हिन्दी साहित्य में कोसी-क्षेत्र से आए हुए एक प्रतिनिधि रचनाकार के रूप में होती है। उस समय कोसी-ग्रामांचल के प्रतिनिधि रचनाकार के रूप में रेणु की चर्चा चारों ओर हो रही थी साथ ही आंचलिक कहानी और उपन्यासों की चर्चा बड़े जोर-शोर से चल रही थी। ऐसे में उस क्षेत्र से आए हुए

किसी भी रचनाकार के पास ये बड़ी चुनौती थी कि रेणु की छाया से कैसे मुक्त हों? इस दृष्टि से मधुकर गंगाधर ने कहानी और उपन्यासों में अपनी एक नई जमीन तैयार की। मधुकर जी मूलतः कहानीकार और उपन्यासकार ही थे। यद्यपि उन्होंने लगभग हर विधा में रचना की है। कथा-उन्मेष शीर्षक अध्याय में प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डॉ. वरुण कुमार तिवारी ने लिखा है कि मधुकर गंगाधर ग्रामीण, कस्बाई या शहरी शीर्षक के अंतर्गत कहानियों को बांटने के पक्षधर नहीं हैं। उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा है, “वस्तुतः मैं तो आदमी के संघर्ष और उसकी विजय की खोज कर रहा हूँ- वह गांव का परिवेश हो, शहर का परिवेश हो या कस्बे का परिवेश।” फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए लेखक ने मधुकर गंगाधर की कहानियों को कई श्रेणियों में बांटा है। कस्बाई मनोवृत्ति को अभिव्यक्त करने वाली कहानियाँ, बेरोजगार युवकों को केन्द्र में रखकर लिखी गई कहानियाँ, स्त्री-जागरण या स्त्री सशक्तीकरण पर केन्द्रित कहानियाँ आदि। इस दृष्टि से लेखन ने उनकी ‘गंध’, ‘देवता’, ‘तक्षक’, ‘नागरिकता के छिलके’, ‘उठे हुए हाथ’ आदि कहानियों का दृष्टांत रखा है। लेखक की मधुकर गंगाधर की कहानियों को लेकर स्थापना रही है कि वे समकालीन समय के यथार्थ को अपने अंदाज में उठाने वाले रचनाकार हैं। कहीं वे प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा से जुड़ते हुए दिखते हैं तो कहीं नई कहानी से। इनकी बहुचर्चित कहानी ‘ढिबरी’ इन्हें प्रेमचंद की परंपरा से जोड़ती है। उनकी कहानियों का वैशिष्ट्य यह है कि इन्होंने रोमांटिक यथार्थ की जगह वस्तुनिष्ठ यथार्थ को अंगीकार किया है। इस पुस्तक के लेखक मानते हैं कि यद्यपि ‘मधुकर गंगाधर’ ‘नई कहानी’ धारा के उत्कर्ष काल के श्रेष्ठ कथाकार हैं। बावजूद वे ‘नई कहानी’ कहकर किसी आंदोलन को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। जिसका प्रमाण है उनका ‘नई कहानी की शव परीक्षा’ शीर्षक आलेख जो उन्हीं दिनों ‘लहर’ (संपादक : प्रकाश जैन, अजमेर) पत्रिका में छपा था।

प्रस्तुत पुस्तक में मधुकर गंगाधर की प्रकाशित लगभग सभी कहानियों का ब्यौरा दिया गया है। लेखक के अनुसार मधुकर गंगाधर के दस कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं- *तीन रंग : तेरह चित्र, हिरना की आँखें, नागरिकता के छिलके, शेर छाप कुर्सी, गर्म गोश्त: बफ़ाली तासीर, गांव कस्बा-नगर, मछलियों की चीख, उठे हुए हाथ, सौ का नोट* और *बरगद*। मधुकर गंगाधर की सौ कहानियों को उनकी सुपुत्री (स्व.) संगीता रघुवंशी ने ‘मधुकर गंगाधर की कहानियाँ’ शीर्षक से चार खंडों में प्रकाशित किया है। लेखक की मधुकर गंगाधर की कहानियों के बारे में राय है कि उनकी कहानियों की यह विशेषता है कि पाठक मंत्रमुग्ध होकर कहानियों का पाठ करता रहता है और जब कहानी समाप्त होती है तो अचानक चौंक उठता है। लेखक की मान्यता है कि मधुकर जी की कहानी ‘हिरना की आँखें’ एक यादगार कहानी है। लोक कथा के आधार पर रची गई यह कहानी किस्सागोई का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। विवाहपूर्व प्रेम, अनमेल विवाह, रहस्य, रोमांस, ग्राम्यजीवन की गरीबी, सामाजिक रीतिरिवाज और भावुक प्रसंगों का चित्रांकन है। संवाद शैली तो गजब की है।

उनकी ‘बरगद’ कहानी ‘सारिका’ में छपी थी। इस कहानी में न केवल प्रकृति और पर्यावरण के प्रति अटूट सम्बन्ध, वनस्पति जगत से सहज निकटता और चिड़ियों के प्रति लगाव का अंकन है बल्कि आज के असंवेदनशील, अमानवीय समय में ग्राम्य जीवन में उत्पन्न सामाजिक वैषम्य और व्यावहारिक विपन्नता का भी मर्मस्पर्शी चित्रण है। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी प्रतिनिधि कहानियों पर सविस्तर चर्चा की गई है साथ नहीं उन कहानियों को कहानी कला के निकष पर कसा गया है। लेखक ने उनकी कहानी ‘बैल का विद्रोह’ को उनकी अत्यंत ही महत्वपूर्ण कहानी मानते हुए उसमें स्थापित मूल्य की बात करते हुए लिखा है कि आजादी के बाद के मोहभंग और सपनों के भंग होने यानी सामाजिक-राजनीतिक पराजय से उत्पन्न खालीपन को प्रतीक रूप में इस कहानी में दर्शाया गया है। कहानी में बैल श्रमिक वर्ग का प्रतीक है।

लेखक के अनुसार मधुकर गंगाधर की एक और महत्वपूर्ण कहानी ‘केंचुल और गंध’ पूर्व की सामंती ताकतों के केंचुल बदलकर जनप्रतिनिधि बनने और शोषण का चक्र जारी रखने की कहानी है। इस कहानी में

मोहभंग को भी रेखांकित किया गया है। ‘शेर चाप कुर्सी का रोजनामचा’ उनकी बहुचर्चित कहानी है। कहानी में कुर्सी सत्ता का प्रतीक है जो अपनी शर्तों पर अपने ऊपर बैठे व्यक्ति को संचालित करती है। अवसरवादी नौकरशाही को पूरी कलात्मकता से यह कहानी व्यंजित करती है। इस पुस्तक के लेखक डॉ. वरुण कुमार तिवारी ने मधुकर गंगाधर की कहानी ‘भेड़ के पीछे : भेड़ के आगे’ कहानी को अपनी खास शैली और कलात्मकता के कारण काफी सराहा है। उनकी ‘धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे’ के बारे में लेखक का विचार है कि इसमें कृषक परिवार की गरीबी, कर्ज की समस्या, असहायावस्था आदि का चित्रण है। यह कहानी व्यवस्था की विसंगति और विद्रूपता पर चोट करती है।

औपन्यासिक-चेतना शीर्षक अध्याय में प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने पूरी हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा का वर्णन-विश्लेषण करते हुए मधुकर गंगाधर के उपन्यास की महत्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित किया है। पुनः औपन्यासिक-अवदान शीर्षक अध्याय में उनके द्वारा लिखित उपन्यासों की सम्पूर्ण सूची उपलब्ध कराई गई है, प्रकाशन वर्ष और प्रकाशक के साथ। मधुकर गंगाधर ने 2021 तक कुल 11 उपन्यास लिखे। 1962 ई. में मोतियों वाले हाथ, 1964 ई. में यही सच है, 1964 ई. में फिर से कहो, 1976 ई. में सातवीं बेटी, 1978 ई. में सुबह होने तक, 1983 ई. में गर्म पहलुओं वाला मकान, 1984 ई. में उत्तरकथा, 2009 ई. में जयगाथा, 2014 ई. में ध्रुवांतर, 2016 ई. में भीगी हुई लड़की, 2021 ई. में नीलकोठी। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक वरुण कुमार तिवारी ने उनके औपन्यासिक ढाँचे, शिल्प प्रविधि और राजनीतिक चेतना का विश्लेषण मनोयोग से किया है। लेखक का मन उनके उपन्यासों के विश्लेषण में खूब रमा है। लेखक ने मधुकर गंगाधर के सभी उपन्यासों के कथा-विन्यास और कथा के विस्तार के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि ‘यद्यपि मधुकर गंगाधर ग्रामांचल की लोकचेतना के प्रवक्ता हैं जिसका उदाहरण ‘फिर से कहो’, ‘सुबह होने तक’, ‘सातवीं बेटी’, ‘जयगाथा’ आदि उपन्यास हैं किन्तु वे नगरीय जीवन के मूल्य-विघटन, बिखराव एवं विकृतियों को भी बड़ी सहजता से उकरते-उधेड़ते चलते हैं जिसके प्रमाण में हमारे समक्ष उनके ‘मोतियों वाले हाथ’, ‘यही सच है’, ‘गर्म पहलुओं वाला मकान’ आदि उपन्यास हैं।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की स्पष्ट मान्यता है कि मधुकर जी के प्रायः सभी उपन्यास लघुकाय हैं, लेकिन इसे उपन्यास की कमजोरी नहीं मानकर शिल्पगत वैशिष्ट्य स्वीकार करना समीचीन होगा। एक सचेत उपन्यासकार अपनी रचना में अनावश्यक विस्तार में नहीं जाना चाहता। वह उन्हीं घटनाओं को प्रतीक रूप में उठाता है जो उद्देश्य की पूर्ति करे और पाठक को न तो भटकाए और न ही ऊब पैदा करे। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पकड़ और शिल्पगत कसाव के कारण उनके उपन्यासों में जो कथारस का निर्माण होता है वह पाठक को आद्योपांत बांधे रखता है। मधुकर गंगाधर के उपन्यासों में संवाद-योजनाएँ संक्षिप्त, सहज-स्वाभाविक, कथा-विन्यास में सहायक और पात्रों के चारित्रिक उद्घाटन में सक्षम होती हैं। भाषा बहुत ही व्यंजक और समर्थ है- सूक्ष्म भावनाओं के उतार-चढ़ाव की पकड़ में सक्षम। जीवंत भाषा और सुघड़ शिल्प के प्रयोग में मधुकर गंगाधर सिद्धहस्त हैं। लेखक पाठक को बार-बार कथाकार मधुकर गंगाधर के उपन्यास के प्रति दृष्टिकोणों से भी अवगत करता चलता है। इस प्रसंग में ‘सुबह होने तक’ उपन्यास की भूमिका द्रष्टव्य है जिसमें उपन्यासकार ने स्थापना दी है कि हर उपन्यास वस्तुतः आंचलिक उपन्यास है और आंचलिक उपन्यासों में क्षेत्र विशेष की विशेषताओं के उल्लेख के बावजूद वैश्विक सर्वमान्य सत्य उजागर होता है। मधुकर गंगाधर ने अपने उपन्यासों में आजादी के आन्दोलन के संघर्ष और उस दौर की राजनीतिक चेतना के साथ समकालीन राजनीति के नग्न यथार्थ का भी चित्रण किया है। जहाँ ‘उत्तरकथा’ उपन्यास का कथानायक गोपीचंद महात्मा गांधी के सिद्धांतों के प्रति समर्पित कार्यकर्ता हैं जो गाँव में होने वाले रचनात्मक कार्यों में बढ़-चढ़ कर भाग लेता है, साम्प्रदायिक दंगों को यथासाध्य रोकने की कोशिश करता है, भेद-भाव वाले छल-छद्म से दूर रहता है और नेताओं की भ्रष्ट

राजनीति के कारण भीतर तक टूटकर-बिखरकर भी अपना धैर्य नहीं खोता। वहीं ‘ध्रुवांतर’ उपन्यास में उपन्यासकार समकालीन राजनीति के सारे छल-छद्म को उजागर करता है। यहाँ वर्तमान राजनीतिक पटल पर उभरे राजनेताओं के चरित्र को उजागर करने के साथ-साथ अन्ना हजारे, नानाजी देशमुख, डॉ. विन्देश्वर पाठक आदि जैसे समाजसेवियों के राष्ट्रहित में किए गए कार्यों की प्रशंसा करता है। उपन्यास के अंत में नायक का विश्वास बुलेट से बैलेट में और नायिका का विश्वास बैलेट से बुलेट में बदल जाता है। उपन्यास में कोई समाधान नहीं है। ‘भींगी हुई लड़की’ में लेखक ने लड़कियों की तस्करी, लव-जिहाद और स्त्रियों की त्रासद स्थितियों का चित्रण किया है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने मधुकर गंगाधर द्वारा की गई अन्य विधाओं की रचनाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है जिसमें उनके कविता-संग्रह, नाटक, अनुवाद, और संस्मरण विशेष महत्व के हैं। ‘हवा पर उनतीस वर्ष’ 1961-1990 तक के समय अनुभवों के आधार पर लिखा गया है। लेखक का लम्बे समय तक आकाशवाणी के अधिकारी के रूप में कार्य करने का अनुभव इस पुस्तक में समाहित है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने लिखा है कि मधुकर जी ने पुस्तक की शुरुआत में ही सुझाव दिया है- “आकाशवाणी की अन्तश्चेतना नगरोनमुखी है जहाँ अधुनातन संपन्न दृश्य-मीडिया स्थापित हो रही है। ऐसे में जीवित रहने के लिए उसे ग्रामधार के नए आयाम तलाशने होंगे। ‘दरख्तों के साए’ उनके साहित्यकारों पर आत्मीयता के लिखे गए संस्मरण हैं।

इस पुस्तक में मधुकर गंगाधर द्वारा की गई सम्पूर्ण रचनात्मकता को उजागर किया गया है। अन्य विधाओं में जो एक और चीज ध्यान आकर्षित करती है वह है प्रसिद्ध बांग्ला लेखक सतीनाथ भादुरी के उपन्यास ‘ढोढायचरित मानस’ का हिन्दी में अनुवाद। यह एक बेहतरीन अनुवाद माना जाता है। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में मधुकर गंगाधर के चिंतन की पुस्तक ‘भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रवाद’ और उनकी पी-एच.डी. थीसिस ‘भारतीय प्रसारण : विविध आयाम’ पर भी विस्तृत चर्चा की गई है। इस आलोचना पुस्तक की सबसे महत्व की बात यह है कि कोई भी पाठक मधुकर गंगाधर के मूल पाठ से अगर नहीं भी गुजरा हो तो उन्हें इस पुस्तक से मधुकर गंगाधर के सभी विधाओं में की गई रचनाओं के मूल पाठ के साथ मूल्यांकन का एक साथ संस्पर्श होगा क्योंकि इस पुस्तक में हर पक्ष का सविस्तार विश्लेषण हुआ है। इस पुस्तक में रचनाकार का स्थान ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हर विधा की विकास यात्रा के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते हुए किया गया है। यद्यपि मधुकर गंगाधर की कमियों की ओर या उनकी सीमाओं की ओर लेखक का ध्यान कम या कहीं कि नहीं के बराबर गया है तथापि अपनी इन कुछ सीमाओं के बावजूद डॉ. वरुण कुमार तिवारी द्वारा लिखित यह पुस्तक एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय आलोचना पुस्तक है।



लेखकीय सहयोग :

- वीरेन नंदा : संयोजक, अयोध्या प्रसाद खत्री समृति समिति, मुजफ्फरपुर, बिहार; मो. 9835238170.
- प्रमोद मीणा : प्रोफेसर, हिंदी विभाग, भाषा एवं सामाजिक विज्ञान संकाय, तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर; मो. 7320920958.
- जिन्दर सिंह मुण्डा : अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची, झारखंड; मो. 9939166388
- जितेन्द्र कुमार यादव : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय, नई दिल्ली।
- हरे राम सिंह : समीक्षक, ग्राम+पोस्ट : करुण, भाया : गोड़ारी, जिला : रोहतास, बिहार; पिन : 802214, मो. 8298396621
- मृत्युंजय कोईरी : राँची, झारखंड, मो. 7903208238
- प्रवीन कुमार यादव : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी राजकीय पी.जी. कॉलेज, आलापुर, अम्बेडकरनगर, उ.प्र.; पिन : 224147, मो. 9450616228
- डॉ. अमृता : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- ऋषि कुमार : एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता; पिन : 700050, मो. 9382466106
- विकास कुमार यादव : शोधप्रज्ञ, भारतीय भाषा केन्द्र, जे.एन.यू., नई दिल्ली; पत्राचार : कमरा नं. 329, झेलम होस्टल, जे.एन.यू., नई दिल्ली; पिन : 110067, मो. 9871532075
- शशि शर्मा : समीक्षक; संपर्क : गौर आवासन, रविन्द्रपल्ली, माटीगाड़ा, सिलिगुड़ी; पिन : 734010, मो. 9832321080.
- गाजुला राजू : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज; मो. 9059379268
- मधूलिका तिवारी : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सुरेन्द्रनाथ इवनिंग कॉलेज, 24/2, महात्मा गांधी मार्ग, कोलकाता, पिन : 700009
- सुशांत कुमार : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना; मो. 8873975622.
- सिंधु सुमन : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, राजेन्द्र मिश्र महाविद्यालय, सहरसा, बिहार।
- जगमोहन सिंह : सहायक प्रवक्ता, हिंदी विभाग, रानीगंज गर्ल्स कॉलेज, सिसरसोल, राजबाड़ी, पश्चिम वर्द्धमान, पश्चिम बंगाल; पिन : 713358; मो. 8967477761.
- अपर्णा वेणु : असिस्टेंट प्रोफेसर, एन.एस.एस. कॉलेज, ओट्टापलम, केरल।

- ज्योति वर्मा : शोधप्रज्ञ, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- अंजली : शोधप्रज्ञ, जे.एन.यू., नई दिल्ली।
- सुरेश चन्द्र : अधिष्ठाता, भाषा एवं साहित्य पीठ, दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, पंचानपुर रोड, गया, बिहार।
- देवेन्द्र आर्य : कवि/लेखक; संपर्क : 'आशवरी', ए-27, आवास विकास कॉलोनी, शाहपुर, गोरखपुर, पिन : 273006; मो. 7318323162.
- आशुतोष पार्थेश्वर : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- रीता सिंह : असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, पं. राम लखन शुक्ल राजकीय पी.जी. कॉलेज, आलापुर, अम्बेडकर नगर, उ.प्र.।
- रवीन्द्र कुमार वर्मा : असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उत्तर प्रदेश।
- धनंजय शर्मा : असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, रानी धर्म कुँवर राजकीय महाविद्यालय, दल्लावाला-खानपुर, हरिद्वार(उत्तराखंड); मो. 9451301712
- आशीष कुमार ठाकुर : तदर्थ अध्यापक, इतिहास विभाग, डॉ. एल.के.वी.डी. कॉलेज, ताजपुर, समस्तीपुर, बिहार।
- प्रो. आशा : प्रोफेसर, गृहविज्ञान, पं.दी.द.उ. राजकीय बालिका महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी।
- बालेन्तिना प्रिया : असिस्टेंट प्रोफेसर, गृहविज्ञान, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर
- कमलेश कुमार सिंह : असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, पं.दी.द.उ. राजकीय बालिका महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी।
- महेन्द्र यादव : असिस्टेंट प्रोफेसर, भौतिकी विज्ञान, रमाबाई राजकीय महिला पीजी. कॉलेज, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उ.प्र.।
- राजेश कुमार यादव : असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र, रमाबाई राजकीय महिला पीजी. कॉलेज, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उ.प्र.।
- सर्वेश कुमार सिंह : असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र, रमाबाई राजकीय बालिका महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी।
- सौरभ सिंह : असिस्टेंट प्रोफेसर, शारीरिक शिक्षा, पं.दी.द.उ. राजकीय बालिका महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी।
- विजय लक्ष्मी यादव : असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उ.प्र.; मो.

6387224825

- अरुण नारायण : सहायक, हिंदी प्रकाशन, बिहार विधान परिषद्, पटना; पिन : 800015, मो. 8292253306
- श्रीधर करुणानिधि : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, गया कॉलेज, मगध विश्वविद्यालय, गया।





सत्राची फाउंडेशन, पटना
शोध, शिक्षा एवं प्रकाशन की समाजसेवी संस्था

यह संस्था -

- साहित्यिक सम्मान देती है।
- शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है।
- पुस्तकें प्रकाशित करती है।
- सेमिनार आयोजित करती है।
- राजभाषा/राष्ट्रभाषा सेवियों को प्रोत्साहित करती है।
- शोधकर्ताओं को स्तरीय शोध के लिए प्रोत्साहित करती है।
- नेट/जे.आर.एफ. के अभ्यर्थियों को निशुल्क मार्गदर्शन देती है।
- हिन्दी साहित्य के शिक्षार्थियों को प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करती है।